प्रकाशकीय

श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागर महाराज ने श्रावकधर्मप्रदीपकी सस्कृत श्लोकोमें रचना करके श्रावकोका बडा उपकार किया है। इसमे गृहस्थ के सभी आवश्यक कर्तव्यो का वर्णन किया गया है। इसकी रचना पुराने श्रावकाचारोके और विशेषरूप से आचार्य जिनसेनके महापुराण और प० आशाधर जीके सागारधर्मामृतके आधारसे की गयी है। वास्तवमे यह ग्रन्थ श्रावकधर्मको प्रकाशित करनेके लिए प्रदीपके समान है। इसमे कुछ ऐसे विषयोका श्रावकाचारके रूपमे समावेश किया गया हैं जो वर्तमान कालमे प्रलचित है किन्तु जिनका समावेश प्राचीन श्रावकाचारोमे नही है।

जैन समाजके मूर्धन्य विद्वान् श्री प० जगन्मोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्रीने श्रावकधर्मप्रदीपकी सस्कृत तथा हिन्दीमे सरल तथा सुबोध टीका लिखकर जैन साहित्यकी अभिवृद्धिकी है। सस्कृत न जाननेवालोके लिए हिन्दी टीका बहुत उपयोगी है। हिन्दीमे प्रकृत विषयको व्यापक रूपसे समझाया गया है। प० जी का हिन्दी और सस्कृत भाषा पर पूर्ण अधिकार है। यही कारण है कि श्रावकधर्मप्रदीप की सस्कृत और हिन्दी टीकाएँ प्राञ्जल भाषामे लिखी गई है। इन टीकाओके निर्माणमे पडितजीने जो श्रम किया है वह सराहनीय है। टीकाकारके आद्य वक्तव्यसे श्रावकधर्मप्रदीपके रचयिता आचार्य कुन्थुसागर महाराजका जीवन परिचय भी प्राप्त हो जाता है। आपके द्वारा श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत कलशोपर रचित स्वात्मप्रवोधिनी टीका व वचनिका आपके गभीर अध्यात्मज्ञानका स्पष्ट निदर्शन है। अपने जीवनके प्रारभ कालसे ही आपकी रुचि त्यागकी ओर है और इस समय आप सप्तम प्रतिमाके व्रतोका पालन कर रहे हैं।

सिद्धान्ताचार्य श्री प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्रीने श्रावकधर्मप्रदीप पर प्रास्ताविक लिखकर इसके महत्त्वको बढाया है। आप सुयोग्य लेखक, सम्पादक तथा प्रवक्ता है। विज्ञ पाठकोको आपकी अनेक रचनाओमे आपके अगाध पाण्डित्यकी झलक मिल ही जाती है। प्रास्ताविक पढनेसे श्रावकधर्म सम्बन्धी अनेक बातोका सरलता से बोध हो जाता है तथा पाषण्डी, पर्व, चेल, परदारनिवृत्ति आदि शब्दो के प्राचीन तथा प्रचलित अर्थोकी जानकारी मिल जाती है। इसके अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द, समन्त-भद्र और उमास्वामी आदिके द्वारा प्रतिपादित श्रावकके व्रतो, अतिचारो आदिका तुलनात्मक ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है।

श्री गणेश वर्णी दि० जैन सस्थानके कई उद्देश्योमेसे एक प्रमुख उद्देश्य साहित्य प्रकाशन भी है। इसमे भी विशेषरूपसे पूज्य श्रीगणेशप्रसाद वर्णीसे सम्बन्धित रचनाओ (वर्णी साहित्य) का प्रकाशन मुख्य है। इसीलिए वर्णी जीवनगाथाके तीन भाग तथा वर्णीवाणीके चार भाग इसके द्वारा प्रकाशित हो चुके है। वर्णीजी द्वारा रचित हिन्दी टीका सहित समयसार का प्रकाशन भी वर्णी ग्रन्थमालासे हुआ है। वर्णी ग्रन्थमालासे अबतक जो साहित्य प्रकाशित हुआ है वह अपनी मौलिक विशेषताको लिए हुए है। इसी दृष्टिको ध्यानमे रखकर श्रावकधर्मप्रदीपका प्रकाशन वर्णी ग्रन्थमालाकी ओरसे किया गया था।

श्रावकधर्मप्रदीपका प्रथम सस्करण २५ वर्ष पहले श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमालासे छपा था जो कई वर्ष पूर्व समाप्त हो गया था। तभी से समाज की माग थी कि श्रावकधर्मप्रदीपका द्वितीय

प्रास्ताविक

आचरणकी दृष्टिसे जैनधर्मके दो रूप हैं, सागार अथवा गृहस्थधर्म और अनगार अथवा मुनिधर्म। किन्तु यथार्थमें जैनधर्म अनगारोंका ही धर्म था। जैनधर्मका प्रधान लक्ष्य है मोक्षप्राप्ति और अनगारधर्म ही मोक्षप्राप्तिका साक्षात् कारण है। अनगारधर्म धारण किये विना मोक्षकी प्राप्ति सभव नही है। इसीसे पुरुपार्थसिद्धचुपायमें जो श्रावकधर्मका प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ है, आचार्य अमृतचन्द्र सूरिने लिखा है कि जो उपदेष्टा यतिधर्मका उपदेश न देकर गृहस्थधर्मका उपदेश देता है, जैन प्रवचनमें उसे निग्रहस्थानके योग्य कहा है।

इसका स्पष्ट निदर्शन हमें आचार्य कुन्दकुन्द स्वामीके ग्रन्थोमें मिलता है। उनके षट्प्राभृतोमें मुनिको लक्ष्य करके ही धर्मका प्रतिपादन किया गया है। श्रावकधर्मका निर्देशमात्र चारित्रप्राभृतमें है। श्रावकके वारह व्रत और ग्यारह दर्जे (प्रतिमा) यही साधारणतया श्रावकधर्मका प्राचीन रूप है। तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डश्रावकाचारसे वारह व्रतोके अतिचारोकी परम्पराका आरम्भ होता है।

यद्यपि उत्तरकालमें निर्मित श्रावकाचारोमें अतिचारोका वर्णन विशेषरूपसे तत्त्वार्थसूत्रका ऋणी है तथापि इसमें सन्देह नही है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार उपलब्ध श्रावकाचारोमें आद्य श्रावकाचार है और वह एक प्राचीन तथा स्वतत्र परम्पराका प्रतिनिधित्व करता है।

आचार्य समन्तभद्रकी आप्तमीमासामें जो सन्तुलितपन, क्रमवद्धता तथा प्रौढता है वही रत्नकरण्डश्रावकाचारमें भी पाई जाती है। उसका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका वर्णन मौलिक है। सम्यग्दर्शनका चित्रण करते हुए उन्होने गुरुमूढताके लिए पाषण्डिमोहन शब्द रखा है। यहाँ पाषण्डि शब्द साधुका वाचक है। पहले साधुसामान्यको पाषण्डि कहते थे। उत्तर कालमें इसीका भ्रष्ट रूप पाखण्डी वनावटी साधुओके अर्थमें व्यवहृत होने लगा। अशोकके शिलालेखोमें पाषण्डी शब्द अपने मूल अर्थमें व्यवहृत हुआ है। अतः पाषण्डी शब्दका प्रयोग रत्नकरण्डकी प्राचीनताका सूचक है। इसी तरह प्रोषधोपवासके लक्षणमें पर्वण्यष्टम्याञ्च में पर्व शब्द भी खास ध्यान देने योग्य है। टीकाकार प्रभाचन्द्रने पर्वका अर्थ चतुर्दशी प्रचलित पद्धतिके अनुसार कर दिया है। किन्तु 'पर्व' का प्राचीन अर्थ अमावस्या पूर्णिमा ही मिलता है।

दिगम्बर तथा श्वेताम्बर परम्परामें वस्त्रके लिये 'चेल' शब्द ही प्राचीन कालसे प्रचलित है। रत्नकरण्डमें भी 'चेलोपसृष्टमुनिरिव' तथा 'चेलखण्डधर' शब्दोके द्वारा उसी प्राचीन शब्दका प्रयोग किया गया है। वादके श्रावकाचारोमें इस शब्दके स्थानमें 'कौपीन' 'सव्यान' आदि वस्त्र विशेषोका प्रयोग पाया जाता है, चेल या चेलखण्डका नही। इसी तरह सामायिकशिक्षाव्रत और सामायिकप्रतिमाका स्वरूप भी प्राचीन परिपाटीको वतलाता है। पांच अणुव्रतोमें चौथे अणुव्रतका नाम परदारनिवृत्ति और स्वादारसतोष दिये हैं। ये दो नाम प्रकारान्तरसे एक ही अर्थके सूचक हैं। किन्तु उत्तर कालमें परदारनिवृत्तिका अर्थ केवल परस्त्रीनिवृत्ति करके एक ही व्रतके दो टुकडे कर दिये गये और उसमेंसे वेश्यासेवनकी गुञ्जाइश निकाल ली गई।

भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यने पाच अणुव्रतोंके सिवाय तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत वतलाये। तथा दिक्परिमाण अनर्थदण्डत्याग और भोगोपभोगपरिमाण ये तीन गुणव्रत और सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूजा तथा सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत गिनाये। तत्त्वार्थसूत्रमें गुणव्रत और शिक्षाव्रत भेद न करके सात शील वतलाये, दिग्विरति देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसविभाग। सल्लेखनाको अलगसे वतलाया।

रत्नकरण्डश्रावकाचारमें कुन्दकुन्दाचार्यकी तरह ही गुणव्रत तीन और शिक्षाव्रत चार वतलाये। गुणव्रतके भेद दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण भी कुन्दकुन्दकी तरह ही किये। किन्तु शिक्षाव्रतोके भेदोमें परिवर्तन कर दिया—देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषघोपवास और वैयावृत्य। तत्त्वार्थसूत्रकी तरह सल्लेखनाको अलगसे वतलाया। इसी तरह व्रतों और शीलोके अतिचारो को वतलाते हुए परिग्रहपरिमाण व्रत और भोगोपभोग-परिमाण व्रतके अतिचार तत्त्वार्थसूत्रसे विल्कुल भिन्न ही वतलाये—जो तत्त्वार्थ सूत्रमें प्रतिपादित अतिचारोसे अधिक वुद्धिग्राह्य हैं और ठीक वैठते हैं। किन्तु तत्त्वार्थसूत्रकी महत्ताके कारण उसमें प्रतिपादित अतिचार ही उत्तर कालमें प्रचलित हुए।

स्वामी जिनसेनाचार्यके आदिपुराणसे श्रावकाचारमें कुछ नवीनताका सूत्रपात हुआ। उन्होने पक्ष, चर्या और साघनके द्वारा श्रावकके तीन भेद किये—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। अपनेसे पूर्वके सभी श्रावक आचारोका सकलन करके सागारधर्मामृतको रचनेवाले आचार्यकल्प प० आशाधर जीने आदिपुराणका अनुसरण करते हुए ही श्रावकके तीन भेदोको आधार बनाकर कथन किया।

प्रस्तुत श्रावकाचार

प्रस्तुत श्रावकधर्मप्रदीपमें भी स्वामी जिनसेनाचार्यकी सरणि का अनुसरण करके आचार्य श्रीकुन्थुसागरजीने श्रावकधर्मका वर्णन किया है। प्रथम अध्यायमें १५ श्लोकोके द्वारा उन्होने पाक्षिक श्रावकका स्वरूप और आचार वहुत सरल रीतिसे वतलाया है। अहिंसा ही परम धर्म है, वीतराग देव ही सच्चे देव हैं, निर्ग्रन्थ साधु ही सच्चा साधु है और जिनोक्त शास्त्र ही पठनीय है, ऐसा जिसका भाव है वह पाक्षिक श्रावक है। पाक्षिक श्रावक भोगोप-भोगमें विरक्त नही होता और त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्यागी नही होता है तथापि धर्मकार्य करनेमें सदा तत्पर रहता है। वह दान देता है, पूजा करता है और यज्ञोपवीत धारण करता है।

विद्वानो का मत है कि ग्रन्थकार अपने समयका प्रतिनिधि होता है। उसकी रचना तत्कालीन विचारोसे अछूती नही रहती। श्रावकधर्मप्रदीपमें भी हम इस तथ्यके दर्शन पाते हैं। यह सब जानते हैं कि द्वितीय विश्वयुद्धके कालसे विश्वमें सुख शान्ति स्थापित करनेकी सर्वत्र चर्चा है। आचार्य कुन्थुसागर जीने भी श्लोक ११ में उसकी चर्चा करते हुए लिखा है कि दुष्टका निग्रह और सज्जनका रक्षण सम्पूर्ण विश्वमें सुख शान्तिका कारण है ऐसा भाव पाक्षिकका होता है।

दूसरे अध्यायसे नैष्ठिक श्रावकका वर्णन है। प्रथम तीन अध्यायोंके द्वारा पहली प्रतिमाका वर्णन खूव विस्तार-से किया है और अन्य श्रावकाचारोमें दार्शनिक श्रावकके सम्बन्धमें जो कहा है उस सवका सकलन कर दिया है, साथ ही कुछ नवीन वातें भी हैं, जो अन्य श्रावकाचारोमें नही हैं। उदाहरणके लिये सूतककी चर्चा किसी भी श्राव-काचारमें नही पाई जाती, किन्तु इस श्रावकाचारमें उसे भी समाविष्ट कर दिया गया है।

आगेके अध्यायोंमें शेष प्रतिमाओका वर्णन है।

आचार्य श्री कुन्थुसागर जी

इस ग्रन्थके कर्ता आचार्य श्री कुन्थुसागर जी इस युगके आदर्श साधु थे। उनकी सौम्य मूर्ति, सद्व्यवहार, भाषा सयम, एक साधुके अनुरूप थे। जो कोई उनके परिचयमें आता था वह प्रभावित हुए विना नही रहता था। त्यागवृत्ति अपनानेसे पूर्व उनका ज्ञान उतना विकसित नही था। किन्तु त्यागी होनेपर उन्होने वरावर ज्ञानाराघनामें अपना उपयोग लगाया। जव वह सप्तम प्रतिमामें थे तो एकबार अध्ययनके लिये श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वनारस में भी आये थे। किन्तु वहाँका जलवायु अनुकूल न होनेसे उन्हें चले जाना पडा था। मुनिदीक्षा लेनेके पश्चात् जव

मुझे प्रथम वार उनके दर्शनोका सौभाग्य प्राप्त हुआ तो मैं तो उन्हें नही पहचान सका, किन्तु उन्होने मुझे तुरन्त पहचान लिया ।

आपका जन्म स्थान कर्नाटक प्रान्तके वेलगाव जिलेमें स्थित ऐनापुर ग्राम था । आपका जन्म नाम रामचन्द्र था । पच्चीस वर्ष तक गृहस्थाश्रममें रहनेके पश्चात् सन् १९२५ में आपने श्रवणवेलगोलामें आचार्य श्री शान्ति-सागरसे क्षुल्लक दीक्षा ली और आपका नाम पार्श्वकीर्ति रखा गया । तत्पश्चात् सोनागिर सिद्धक्षेत्र पर आचार्य महाराजसे ही दिगम्बर जिनदीक्षा ले ली । उसके पश्चात् आप अध्ययनमें लगे रहे, और उसके फलस्वरूप सस्कृत भाषामें ग्रन्थ रचना भी करने लगे । आपकी वक्तृत्व शक्ति भी अपूर्व थी । उत्तरप्रान्तसे विहार करते हुए आपने गुजरान्त प्रान्तको अपना वासस्थान बनाया । और उस प्रान्तके गावोमें विहार कर लोगोंको धर्ममें स्थिर किया । जैन अजैन सभी आपके उपदेशसे प्रभावित होते थे । अनेक राजाओने भी आपका सम्मान किया और उपदेश सुन-कर प्रभावित हुए तथा अपने राज्यमें अहिंसाका पालन करनेका नियम लिया । खेद है कि २ जुलाई सन् १९४५ को आपका असमयमें स्वर्गवास हो गया । इस युगमें ऐसा साधु होना दुर्लभ है ।

टीका और टीकाकार

श्रावकधर्मप्रदीप नामक ग्रन्थकी सस्कृत और हिन्दी टीका जैन समाजके प्रसिद्ध धर्मात्मा विद्वान् प० जग-न्मोहनलालजीने की है । प० जगन्मोहनलालजी मध्यप्रान्तके निवासी और स्व० ब्र० गोकुलप्रसादजीके सुपुत्र है । ब्र० गोकुलप्रसादजी सच्चे त्यागी थे । उनके गुण उनके सुपुत्रमें भी अवतरित हुए । विद्वान् होनेके साथ ही साथ आप द्वितीय प्रतिमाके धारी हैं और ३२ वर्षसे जैन शिक्षा सस्था, कटनीमें प्रधानाध्यापकीका कार्य अत्यन्त सन्तोष और निरीहवृत्तिसे कर रहे हैं ।

जैसे ग्रन्थकार आचार्य श्रीकुन्थुसागरजी इस युगके आदर्श साधु थे वैसे ही टीकाकार प० जगन्मोहन लालजी अपने समयके आदर्श विद्वान् हैं । उनकी दोनों टीकाओंने ग्रथके महत्त्वको चौगुना कर दिया है । इस युगके विद्वानोमें ग्रन्थ रचनाकी पद्धति क्वचित् ही पाई जाती है । किन्तु सस्कृतमें टीका रचना तो अपूर्व सी ही वात है । टीका वहुत ही सुवोध है और छात्रोंके लिए उपयोगी है, इस तरह हिन्दी टीका भी वहुत ही उपयोगी है । उसमें स्वाध्याय करनेवालोंके लिये श्रावकाचारका विषय भरा हुआ है । मूल ग्रथमें तो केवल मूल मूल वातें हैं, किंतु हिंदी टीकामें प्रत्येक विषय पर विस्तृत चर्चा है और इस तरह यह ग्रन्थ स्वाध्याय करनेवालोंके लिये वहुत ही उपयोगी वन गया है । हम अपने मित्रको ऐसी सुन्दर टीकाएँ रचनेके लिये वधाई देते हैं । वर्णी ग्रन्थमालाने इसे प्रकाशित करके उचित ही किया है और इसके लिये वह धन्यवादार्ह है ।

कैलाशचन्द्र शास्त्री

आद्य-वक्तव्य

ज्ञान आत्माका गुण है। ज्ञानावरणादि कर्मोके निमित्तसे उसमें हीनाधिकता हो सकती है तथापि आत्मासे ज्ञानका सर्वथा अभाव नही हो सकता। स्वभाव अपरिहार्य है। वस्तु स्वरूपको जाननेके लिए प्राणिमात्र लालायित रहता है। ज्ञान प्राप्तिसे जिस अनिर्वचनीय सुखका आनन्द प्राप्त होता है वह अन्य किसी कार्यके होनेसे नही प्राप्त होता। सम्यग्ज्ञान मोक्षमार्गमें वहुत बडा साधन है। विना उसके मुक्तिकी प्राप्ति नही होती।

संसारी जन उसी केवलज्ञानकी आभाके द्वारा, जो भगवान् केवलीकी वाणी द्वारा प्राप्त होती है, अपनी आत्माको आलोकित कर अपनेको पवित्र करते हैं। इस कालमें ज्ञानरविकी किरणें अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी द्वारा फैली हैं। उनकी शिष्य परम्परामें ६८३ वर्ष तक तो अग-पूर्वसवधी ज्ञान मौखिक चलता रहा। उसके वाद वचा हुआ ज्ञान ग्रथ रूपमें निवद्ध हुआ। उस श्रुतके आधार पर अनेक आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द स्वामीसे लेकर स्वपरकल्याण करते हुए उस धाराको आज भी अविच्छिन्न वनाए हुए हैं।

यद्यपि दक्षिण प्रान्तमें सदासे साधु परम्परा है, और पचम कालके अन्त तक रहेगी ऐसा भगवान्का वचन है तथापि उत्तर प्रान्तमें इस परम्पराका अभाव था। श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर महाराजने इस कालमें इस परम्पराको इस प्रान्तमें चालू कर दिया है। उनमेंसे एक प्रस्तुत ग्रन्थके कर्त्ता श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागर भी हैं। ये श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजीके शिष्य हैं। अनेक ग्रन्थोंके रचयिता हैं। मोक्षमार्गप्रदीपके अनन्तर मुनिधर्म प्रदीप और उसके वाद 'श्रावकधर्मप्रदीप' की रचना इन्होने की है। सस्कृत भाषामें इतनी सरल रचना कर सकनेका सौभाग्य वहुत कम महानुभावोंको प्राप्त होता है। इस सरल ग्रन्थकी टीका और सरल होना चाहिए थी, पर वह सम्भव नही हो सकी, तथापि आचार्यश्री की आज्ञासे मैंने टीका लिखनेका प्रयास किया है। भले ही हम उसमें यथोचित सफलता नही पा सके हो पर आचार्यश्रीकी आज्ञाका पालन मैं कर सका इसका मुझे सन्तोष है। मैं श्रावकाचारसम्बधी एक पुस्तक लिख रहा हूँ, तथापि वह अपूर्ण है। मुझे इस ग्रन्थकी टीका लिखनेका सौभाग्य कैसे प्राप्त हुआ, और उसके लिखनेकी अन्त प्रेरणा क्यो हुई ? इसकी एक कहानी है।

अन्त प्रेरणा

मेरे पिता सप्तम प्रतिमाधारी पूज्य व्र० गोकुलप्रसादजी सवत् १९८० विक्रमाव्दमें स्वर्गवासी हुए। स्वर्गवासी शब्दका मैंने व्यावहारिक शब्द प्रयोगकी पद्धत्यनुसार प्रयोग नही किया, किन्तु वे श्रावक व्रती थे अत जैन सिद्धान्तके अनुसार उनका देहावसान होने पर अन्य पर्यायमें स्वर्ग गति प्राप्त करना निश्चित है। अस्तु। वे जबलपुर जिलाके अन्तर्गत मझौली ग्रामके निवासी थे, किन्तु अपनी मुकद्दमेंबाजीकी हानिकारक आदतवश उत्पन्न हुई आर्थिक हानिके कारण वे अनेक स्थानोमें भ्रमण कर पिंडरई (मडला) में व्यससाय करने लगे थे। काल लब्धिसे उनकी रुचि स्वाध्यायकी ओर हुई और उन्होंने ससार देह और भोगोंसे उदासीनताको प्राप्त किया। अभ्यासावस्थारूप श्रावक व्रत और व्रह्मचर्यका पालन, जिन मन्दिरमें आवास, स्वाध्याय, और तीर्थयात्रा ये ही उनके कार्य शेष थे। व्यावसायिक कार्य हमारे चचेरे ज्येष्ठ भ्राता तथा मामा पर छोड दिया था। स० १९६५ में हमारी माताका देहावसान हुआ। पिताने इसे सुयोग समझा और सप्तम प्रतिमाके व्रत जिनप्रतिमाके सन्मुख स्वय गृहीत किए। इनके जीवनका परिचय पूज्य श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णी महाराजने अपने दीक्षागुरुके रूपमें अपनी आत्मकथा 'मेरी जीवन गाथा' में दिया है, अत विशेष लिखना उपयुक्त नही है। इनकी इच्छा वहुत समय तक विद्याभ्यासकी रही। स्वर्गीय गुरुवर्य न्यायवाचस्पति स्याद्वादवारिधि पडित गोपालदासजी वरैया मोरेना (ग्वालियर

स्टेट) में उन दिनो जीवित थे। वे दिग्गज विद्वान् थे। उनके पास विद्याभ्यास हेतु गए, मै भी साथ था। गुरुजीने मुझे रत्नकरण्डश्रावकाचारके कुछ श्लोक पढ़ाए और बादमें यह कह दिया कि बालक छोटा है इसे मथुरा पहुँचा दो। वहाँ महासभाका महाविद्यालय खुलनेवाला है। मुझे मथुरा भेजकर वे मोरेनामें अध्ययन करते रहे। अध्ययन कालके बाद उनके व्रतोमे विशेष विशुद्धि आई। उनके अनेक शिष्य हुए। विशेष सख्या होनेके कारण दमोहके पास श्री कुण्डलपुरजी नामक प्राचीन क्षेत्र पर ब्रह्मचारियोका एक आश्रम स्थापित किया। एक आश्रम इन्दौरमें भी स्थापित किया जो अभी उदासीनाश्रमके नामसे चल रहा है। इनका उद्देश्य ग्राम्य जनताको धार्मिक शिक्षण देना था, अत वे प्राय ग्रामोमें विहार करते थे और वही विहार करनेके लिए शिष्य समुदायको भी प्रेरणा करते थे। लौकिक कीर्तिकी अभिलाषा उन्हें छू तक न गई थी, इसलिए इतनी सेवाओंके बाद भी शहरी जनता तथा अखबारी दुनियाके लोग उन्हें कम जानते थे।

उन्होने "श्रावकप्रतिमादर्पण" नामसे एक ग्रथ लिखना प्रारभ किया था। वे चाहते थे कि श्रावकोकी प्रतिमाओं के सबधमें एक ग्रथ ऐसा लिखा जाय जो सरल हो और उसे पढनेके बाद कोई भी व्रती निसदेह होकर व्रत पालनमें अग्रसर हो। जीवनके अन्तके दिनोमें उन्होने मुझे बुलाकर कहा कि मेरा ग्रथ अपूर्ण रहा जाता है। तुमने विद्या प्राप्त की है, तुम इसे पूरा कर सकते हो, अत इसे पूर्ण करना। यह उनकी अन्तिम आज्ञा थी। मै चाहता था कि उसे पूरा कर दूँ, पर मुझे कठिनताका अनुभव हुआ। कारण यह था कि उन्होने हिन्दी शास्त्रोकी पुरानी जयपुरी ढूढारी भाषामें लिखना प्रारभ किया था। उस भाषामें प्रयत्न करने पर भी मैं नही लिख सका। अनेक वर्षो तक ग्रथ रखा रहा और मैं कार्यसे निराश हो गया, यह समझ कर कि मैं इसे लिख न सकूँगा, फिर भी चित्तमें खटका था। मुझे अन्त प्रेरणा होती थी कि इस सबधमें कुछ लिखा जाय चाहे वह इस रूपमें न भी हो, अन्य किसी रूपमें हो, पर पिताजीकी जो इच्छा थी, आज्ञा थी, उसे पूरा करना ही चाहिए। यह तो कोई लौकिक कामना नही थी, पारमार्थिक कार्य भी यदि पूरा न किया जासके तो इससे अधिक और क्या प्रमाद होगा? पर भाषा ढूढारी लिखना मेरे वशकी बात नही थी। अत. प्रेरणा उत्पन्न होती थी, पर उसकी पूर्ति नही हो पाती थी।

लेखनका सौभाग्य

विक्रमाब्द २००० में दशलक्षणपर्वमें शास्त्रप्रवचनके हेतु मुझे खण्डवा जैन पञ्चायतका आमन्त्रण मिला। मैंने १० दिन वहाँ प्रवचन किए। तदनन्तर मध्यके तीर्थोंकी यात्रा करते हुए इदौर गया। इन्दौरमें हमारे ग्रामके एक सज्जन मिले और हमारा उनका विचार हुआ कि बासवाडा (बागडप्रान्त) में श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागर जी का चातुर्मास है वहाँ दर्शनहेतु चला जाय। हम दोनों वहाँ पहुँचे। बाँसवाडामें श्री मन्दिर जीमें सभाभवनमें ६००, ७०० श्रोता थे और आचार्य जी का सस्कृतवाङ्मयमें उपदेश चल रहा था। मेरा प्रथम प्रसग था जब कि उनके मुखारविन्दसे मैं भाषण सुन रहा था और इससे अधिक आश्चर्य यह था कि वह सस्कृत भाषा में था। भाषा इतनी सरल थी कि उपस्थित जनता उसे समझ सके। जहाँ थोड़ी सी कठिनता महाराज समझते वहाँ हिन्दी भाषामें बोलने लगते थे। इस तरह उभय भाषाके सगममें चलनेवाला आचार्यश्री का प्रवचन बडा ही हृदयग्राही था।

जनताको देखकर मेरा अनुमान था कि यहाँ कमसे कम १५०, २०० घर जैनोंके होंगे। पूछने पर यह ज्ञात हुआ कि यहाँ केवल ३६ घर दिगम्बरोंके हैं और ५० घर श्वेताम्बरोंके हैं। जनता जो एकत्रित है उनमें शहरके पढ़े लिखे सुशिक्षित राजकर्मचारी, अध्यापक, वकील, डाक्टर आदि प्रमुख पुरुष हैं। प्रतिदिन आफिस कार्यके अनन्तर यही समय सबके लिए अनुकूल होनेसे आचार्यश्री का प्रवचन इसी समय शामको ६ बजे होता है। आचार्य श्री का प्रभाव [illegible] था। भाषण सुनने पर किसीको यह प्रतीत नही होता था कि [illegible] साधु किस धर्मका है और किस धर्मका उपदेश कर रहा है। जैनधर्म शब्दका प्रयोग किए बिना भी आत्मधर्म और गृहस्थके कर्तव्योंका

जिस सुन्दरता और आकर्षक ढंगसे वे प्रतिपादन करते थे उससे उनकी सार्वजनीन हितभावना पद पद पर व्यक्त होती थी। मतभेदोकी या स्वमतप्रशसाकी गध लाए बिना सद्‌धर्मका दृढतासे प्रतिपादन करनेवाला उपदेश मैंने अपने जीवनमें पहिली वार सुना। वह कला आश्चर्यजनक थी जिसके स्मरणमात्रमे आज भी हृदय पुलकित हो उठता है।

आचार्य महाराजका जीवन प्रारभसे ही उन्नतिशील था। ये कर्नाटक प्रान्तके ऐनापुर ग्रामके निवासी थे। इनके पिताका नाम सातप्पा (शान्तात्मा) और माता का नाम सरस्वती था। इनका पूर्व नाम श्री रामचद्र था। वाल्यकालसे ही उक्त गृहस्थ धार्मिक दम्पतिने उनमें धर्मके सस्कार उत्पन्न किए थे। केवल माता पिताकी इच्छासे उन्होंने विवाह किया था। वैराग्य भावना उनके हृदयमें थी। यद्यपि इनके श्वसुर धनिक थे और अपुत्रवान् होनेसे इन्हें सम्पूर्ण धनका वारिस वनाना चाहते थे, पर ये तो सासारिक सम्पत्तिको विपत्ति मानकर उससे दूर ही रहना चाहते थे। इन्होने २५ वर्षकी तरुण वयमें ही ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया। श्रीसम्मेदशिखरजीकी यात्राको जाते समय इनका कटनी पदार्पण हुआ। उस समय हिन्दीका ज्ञान इन्हें वहुत सामान्य था।

धर्मकी विशेष अभिलाषासे ये कटनी करीव १ सप्ताह ठहरे। धर्मचर्चाका सुनना यही एकमात्र कार्य उस समय था। दूसरी वार स० १९८५ में परमपूज्य आचार्य श्री १०८ शान्तिसागर जी का कटनी में चातुर्मास हुआ। उस समय सघमें आप ऐलकपद पर आसीन होकर आये थे। पार्श्वकीर्ति आपकी सज्ञा थी। यह ज्ञात हुआ कि आपने तीन वर्ष पूर्व ही क्षुल्लकदीक्षा और उसके वाद ही इस वर्ष ऐलकदीक्षा ली है। उस समय आपकी अवस्था ३२ सालकी थी। सघमें इन्हें यह कार्य दिया गया था कि श्रावकोको कमसे कम मूलगुण तथा उनका चिह्न यज्ञोपवीत (जनेऊ) देकर श्रावक वनावें। इस कारण इन्हें साधारण लोग जनेऊ महाराज के नामसे सबोधित करते थे। हृष्ट-पुष्ट शरीर, प्रसन्नवदन, सलोना सावला रग, मिष्टवाणी अध्यात्मरसप्रेमी और स्निग्ध दृष्टि, इस प्रकारके यदि किसी साधुकी आप कल्पना कर सकते हो तो वह श्री पार्श्वकीर्ति महाराज थे।

कटनी चातुर्मासमें ही उन्होने विद्याभिवृद्धिके हेतु सस्कृत भाषाका अध्ययन प्रारम्भ किया। उनके अध्ययन प्रेमको देखकर आचार्यश्री ने सघके अन्य साधुओ तथा क्षुल्लक ऐलकोको भी अध्ययन की प्रेरणा की। सघमें पण्डित नन्दलालजी शास्त्री सप्तम प्रतिमाधारी थे। इसलिये सभी साधुओंका अध्ययन चातुर्मासके वाद विहार कर जाने पर भी चालू रहा। दो-तीन वर्ष में ही ये सस्कृत विद्याके प्रौढ विद्वान् बन गए। श्री प० नन्दनलालजीने भी क्षुल्लक दीक्षा ली और वादमें मुनिदीक्षा लेकर आचार्य सुधर्मसागरका पद प्राप्त किया। सोनागिर सिद्धक्षेत्रपर विक्रमाक १९८६ में पार्श्वकीर्ति जीने आचार्य महाराजसे दिगम्बरी दीक्षा धारण कर अपनी चिरकालकी वलवत्तर वैराग्य भावनाको सफल किया। तारगा पञ्चकल्याणकके समय एक दूसरे प्रसिद्ध आचार्य शान्तिसागर जी महाराज (छाणी) के आदेशानुसार इन्हें 'आचार्य' पद प्राप्त हुआ।

इस प्रकार आप श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागर जी वने। आपकी अगाध विद्वत्ता, सरलता, परोपकारिता और सर्वजनहितैषिताने आपको विमल कीर्ति प्रदान की। गुजरात प्रान्तने सवसे अधिक आपके सदुपदेशोंका लाभ लिया। इस प्रान्तकी रियासतोंके राजा महाराजा तथा उच्च राजकर्मचारी तक आपके जीवनचरित्र तथा विद्वत्तासे प्रभावित थे। श्री आचार्य महाराज कभी-कभी एक-एक सप्ताह तक मौन रहते थे। जव कोई राजा उनके दर्शनार्थ ऐसे समय आता तो जवतक मौन न खुल जाय और उपदेश प्राप्त न कर ले तव तक वहां रुकता था। सुदासना, शिरोही, डूँगरपुर, और वांसवाडा आदि अनेक रियासतो में तत्कालीन राजाओंने आचार्यश्रीके जन्मदिन कार्तिक शुक्ल २ को राज्यभरमें अहिंसादिवस घोषित कर अपनी आचार्यश्रीके तथा दिगम्बर जैनधर्मके प्रति श्रद्धा व भक्ति प्रकट की थी। आचार्यश्रीने करीव ३० ग्रथ सस्कृत भाषामें लिखे हैं।

प्रस्तुत ग्रथ उनमें से एक है। वासवाडासे जव मैं दु खपूर्वक विदा होने लगा, मैंने आचार्यश्री से पुण्याशीर्वाद प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की। आचार्यश्रीने श्रावकधर्मप्रदीप ग्रथकी मूल प्रति मुझे लाकर दी और

यह आदेश दिया कि इसकी संस्कृत भाषामें और हिन्दी भाषामें टीका करो। यह श्रुतसेवा ही तुम्हारा कल्याण करेगी। मैंने विचार किया तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि श्रावकाचार के लिये ही मुझे पितासे प्रेरणा प्राप्त हुई थी और वही आदेश आचार्यश्रीका है। इस कार्यसे मेरे दोनों उद्देश्य पूरे होंगे तथा ढूंढारी भाषाकी कठिनता भी हल होगी। मैंने दोनो कार्यों की पूर्ति इस ग्रथकी टीकामें ही मानकर इसे लिखने का प्रयास किया।

ग्रथमें कुछ विषय और समाविष्ट होनेकी आवश्यकताका अनुभव हो रहा है। जैसे षोडशसस्कार व उसकी विधि, यज्ञोपवीत, विवाह सस्कार, गृहस्थोका उत्तराधिकार (दायभाग) और समाधिमरण इत्यादि, तथापि मूल ग्रथ में इन विषयो पर कोई विशेष रचना न होनेसे नही लिखा गया। मूल श्लोक के अर्थ के अतिरिक्त भावार्थ में जो विशेषताएँ लिखी गई हैं 'प्रतिमादर्पण' में भी उनका उपयोग किया गया है। अनेक विशिष्ट विवेचनो के मूल स्रोत श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजी हैं। प्रश्नोत्तर द्वारा जो समाधान उनसे प्राप्त किए हैं उनका भी समावेशन यत्र तत्र किया गया है। ग्रंथान्तरोमें विहित अनेक चर्चाए भी ग्रथमें की गई हैं।

मुझे लिखनेका अभ्यास नही है, ज्ञान भी अपरिपुष्ट है। इन दोनो कारणोंसे लिखनेका प्रारभ करके भी पूर्ण होनेकी वात कठिनाईमें थी। श्रीमान् सिद्धान्तवेत्ता सुलेखक भाई पडित फूलचन्द्रजी शास्त्री काशी मेरे परम मित्र हैं। हम उनके वहुत आभारी हैं कि उनकी प्रेरणासे ही मैंने येन केन प्रकारेण इसे पूरा किया है। एक बार लिखकर उसे लौटकर देखनेका मुझे समय ही नही मिला। इस कारण टीकामें अनेक स्खलन मेरे ज्ञात-भावमें भी रह गए है और अज्ञात भावमें भी होगे। वहुतोका सशोधन उक्त पण्डितजीके साहाय्यसे भाई प० अमृतलाल जी शास्त्री साहित्याचार्य काशीने किया है। इसके लिए हम उनके भी आभारी हैं। श्रीमान् भाई कैलाशचन्द्र जी शास्त्रीने पुस्तककी भूमिका लिखनेकी कृपा की है। ग्रथमें जो सौन्दर्य है वह तो मूल ग्रथकर्ता आचार्य महाराजकी कृति है और टीकामें यदि कुछ गुण है तो वह हमारे उक्त मित्रोकी कृपा है जो सहज स्नेहवश है। जो त्रुटिया हैं वे मेरे प्रमाद व अज्ञानजन्य हैं। उन्हें पूर्वाचार्य प्रणीत आगमसे मिलाकर शुद्ध कर लेनेकी प्रार्थना विद्वानोसे करता हुआ मैं अपने इस वक्तव्यको समाप्त करता हूँ।

जगन्मोहनलाल जैन शास्त्री
कटनी (म० प्र०)

विषय-क्रमांक

क्रम	विषय	पृष्ठ
	तृतीय-अध्याय	

●

श्रावकधर्मप्रदीप

आचार्यश्रीकुन्थुसागरविरचितः

पण्डितजगन्मोहनलालसिद्धान्तशास्त्रिप्रणीतया प्रभाख्यया

संस्कृत-हिन्दी-व्याख्यया विभूषितः

श्रावकधर्मप्रदीपः

(श्रावकाचारः)

ग्रन्थकृतो मङ्गलाचरणं प्रतिज्ञा च

(अनुष्टुप्)

श्रीदं नत्वा जिनं भक्त्या कुन्दकुन्दमुनीश्वरम् ।
सदा शान्तिसुधर्मौ च श्राद्धसद्बोधहेतवे ॥ १ ॥
श्रावकधर्मप्रदीपो ग्रन्थोऽयं सौख्यदो भुवि ।
लिख्यते स्वात्मतुष्टेन कुन्थुसागरसूरिणा ॥ २ ॥ युग्मम् ।

टीकाकृतो मङ्गलाचरणमहङ्कापरिहारश्च

श्रीकुन्थुस्वामिनं नत्वा सूरिवर्यं गुणोदधिम् ।
टीकां करोमि ग्रन्थस्य महतो लघुधीरपि ॥ १ ॥
तच्चरणाब्जसम्पर्कात् प्रत्यूहव्यूहवर्जितः ।
भविष्यामि समर्थोऽहमित्याशा हृदि वर्तते ॥ २ ॥

श्रीदमित्यादि—श्रियम् अनन्तज्ञानादिस्वरूपलाभात्मिकामन्तरङ्गा समवशरणादिलक्षणा चक्रवर्त्यादिविभूति-भूषिता वा व्यवहारलक्ष्मी ददातीति श्रीदस्तम् । कर्मारातीन् जयतीति जिनस्तम् - श्रीवृषभादिमहावीरान्तचतुर्विंशतितीर्थंकरनिकरमिति यावत् । भक्त्या भक्तिपूर्वक हर्षप्रकर्षपुरस्सरम् । नत्वा नमस्कार कृत्वा, मूलधर्मोपदेशकत्वात्तेपामेव प्रथमनमस्कारार्हत्वात् । तत्पश्चात् तदुपदेशानुसारेण स्वपरोपकारनिरतान् श्रीकुन्दकुन्दप्रमुखान् सूरीन् मुनीश्वरान् नत्वा । तत श्रीकुन्दकुन्दादिस्वामिनिरूपितपरम्परायातसद्धर्माराधक श्रीमन्त तपोनिधि दक्षिणप्रान्तविहारिण स्वदीक्षागुरुम् आचार्यशान्तिसागरस्वामिन तथोत्तरप्रान्तविहारिण विद्यागुरु श्रीसुधर्मसागरमाचार्य्यमपि नत्वा ।'श्रद्धया सहिता सम्यग्दर्शनादिगुणसम्पन्ना ये श्राद्धा श्रावका तेपा सद्बोधहेतवे कर्तव्याकर्तव्यविपयेषु विवेकसम्प्राप्त्यर्थम् ॥ १ ॥ भुवि ससारे । सौख्य ददातीति सौख्यद । श्रावकाणा धर्ममार्गप्रकाशने प्रदीपरूपत्वात् 'श्रावकधर्मप्रदीप' इत्यन्वर्थनामा अय ग्रन्थ । स्वात्मन्येव तुष्टेन तृप्तेन सर्वविपयाभिलापरहितेनेति यावत् । श्रीकुन्थुसागरसूरिणा लिख्यते विरच्यते ॥ १–२ ॥

केवलज्ञानादि अनन्त गुणस्वरूप अन्तरङ्ग लक्ष्मी तथा समवशरणादि स्वरूप या चक्रवर्ती आदि की विशेष विभूतिरूप बाह्य लक्ष्मी ऐसी दोनो प्रकार की लक्ष्मीको प्रदान करनेवाले तथा कर्म शत्रुपर विजय प्राप्त करनेवाले श्री जिनेन्द्रदेवको विनय व हर्ष सहित नमस्कार करके तत्पश्चात् उनके मार्गानुसारी श्रीकुन्दकुन्दादि आचार्योंको मुख्य लेकर भगवान् महावीर स्वामीकी परम्परामे चले आए हुए आचार्य वर्गको भी प्रणाम करके तथा इसके वाद दक्षिणप्रान्तमे विहार करनेवाले अपने दीक्षागुरु श्री आचार्य शान्तिसागर स्वामी तथा उत्तरप्रान्तविहारी स्वर्गीय विद्यागुरु श्री सुधर्मसागर आचार्यको भी सदाकाल प्रणाम करके श्रद्धागुणसम्पन्न होनेसे जिन्हे 'श्राद्ध' सज्ञा प्राप्त है ऐसे श्रावको की उनके कर्त्तव्य अर्थात् करने योग्य तथा अकर्त्तव्य अर्थात् न करने योग्य कार्योंके विवेक की प्राप्ति के लिए श्रावकोके धर्मको प्रकाशित करनेवाला दीपक की तरह यह 'श्रावकधर्मप्रदीप' नामक ग्रन्थ विषयवाञ्छासे दूर परम वीतरागी निस्पृह अतएव स्वात्मसतोषी श्री कुन्थुसागर आचार्य महाराजके द्वारा लिखा जा रहा है ॥१–२॥

धर्माराधक गृहस्थ ३ प्रकारके माने गए हैं—१ पाक्षिक, २ नैष्ठिक, ३ साधक। इनमेसे पाक्षिक श्रावको के स्वरूपको जानने के लिए किसी शिष्य ने प्रश्न किया।

प्रश्न—पाक्षिकश्रावाकाणा किं चिह्नमस्ति गुरो वद ?

हे गुरुवर ? पाक्षिक श्रावको की क्या पहिचान है। ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर आचार्य उत्तर देते हैं—

पाक्षिको का चिह्न

(अनुष्टुप्)

अहिंसैव परो धर्मः स एको विश्वरक्षकः ।
आचन्द्रं प्राणिनां चित्तेऽतस्तिष्ठतु सदा मुदा ॥ ३ ॥
तदन्यः केवल पक्षो मिथः स्याद्वैरवर्धकः ।
इत्येव निश्चयो यस्य विवेकी स च पाक्षिकः ॥ ४ ॥

अहिंसेत्यादि—पाक्षिकाणा स्वरूप प्रतिपादयिष्यन्नाचार्य परमधर्मस्वरूपाया भगवत्या अहिंसाया महतीमुपयोगिता वक्ति—अहिंसा नाम सर्वप्राणिपीडापरित्याग स एव एकोऽद्वितीय विश्वस्य प्राणिमात्रस्य रक्षक कल्याणकारक परमोत्कृष्टो धर्मोऽस्ति। हिंसात एव अखिलससारस्य नाशो भवति, हिंसाया स्वय विनाशरूपत्वात् तद्विरुद्धस्वरूपाया अहिंसाया विश्वरक्षकत्व सकललोककल्याणकारकत्व च सुतरा सिद्धमेव। स पर पवित्रधर्म प्राणिना चित्ते मनसि सदा निरन्तरं मुदा हर्षेण आचन्द्र चन्द्रस्य स्थितिर्यावत् ससृतौ वर्त। तावत्कालपर्यन्तम् सर्वकालम् इति यावत् तिष्ठतु निवसतु ॥ ३ ॥ यत कारणात् ˉकललोकमङ्गलकारकत्वम् अहिंसायामेव तिष्ठति तस्मात् सा एव सर्वोत्तमा धर्मपद्धतिमास्कन्दति। पाक्षिकस्य इयमिच्छा सदा वर्तते यत्साऽहिंसा प्राणिना हृदि सदैव स्यात् यया मम सर्वलोकस्य च मङ्गल भवेत्। अहिंसाधर्मव्यतिरिक्त हिंसारूपो धर्मोऽस्तीति असत्पक्ष प्राणिष मिथ परस्पर केवल वैरवर्धक एव। य खलु कश्चिदपर घातयति स इह जन्मनि असमर्थोऽपि जन्मान्तरे यदा शक्तिशाली भविष्यति तदा स्वपूर्वघातक घातयिष्यति, सोऽपि जन्मान्तरे शक्तिको भूत्वा तेन स्ववैर निष्कासयिष्यति इति भाविजन्मपरपरासु वैरपरपरावर्धकत्वात् हिंसाधर्म न स्वस्य कल्याणकारको भवति नापरस्य च। इत्येवप्रकारो यस्य निश्चय वर्तते स विवेकशील एव 'पाक्षिक' इति कथ्यते ॥३–४॥

प्राणिमात्रको हिंसासे दूर रहना ही अहिंसा धर्म है, वही सर्वोत्तम धर्म है। तथा उस अहिंसा धर्ममे ही लोककल्याण करनेकी परिपूर्ण शक्ति निहित है। इसमे किसी भी प्राणीको पीडा पहुँचाना आदि

जो-जो भी काय धर्मके नाम पर व्याख्यात किए जाते है वे केवल पक्ष मात्र है उनसे परस्परमे वैर ही बढता है। इसलिए अहिंसा परमधर्म जीवधारियोके हृदयमे सदा काल निवास करे इस प्रकारका पक्ष जिसका हो वही विवेकी पुरुष पाक्षिक श्रावक कहलाता है।

भावार्थ—प्राणियोको उनके इष्ट अर्थात् वास्तविक सुखको जो प्राप्त करा दे उसे धर्म कहते है। अपनी कल्याण कामना करनेवाला हरएक जीव इसीलिए धर्मकी आकाक्षा करता है। धर्मका ही दूसरा नाम कर्त्तव्य है। जो इष्टकारक है वही तो कर्त्तव्य है। दु खाभावको ही सुख कहते है। अनादिकालसे दु खके सागर इस ससारमे भ्रमण करनेवाले प्राणीकी यह इच्छा स्वाभाविक है कि वह अब इस दु खके सागरसे अपना उद्धार करे। इसीलिए वह अपने कर्त्तव्य (धर्म) की खोजमे है कि कब वह उपाय हाथ लगे कि मै दु ख से निवृत्त हो जाऊँ। हिसा स्वय दुखरूप है। परप्राणघातक मनुष्य स्वय क्रोधादि बुरे परिणामोंके अधीन होकर दु खी होता है और फिर दूसरेके प्राणोको भी पीडित कर दु ख पहुचाता है। इसका फल यह होता है कि दोनोमे परस्पर वैरका बध होता है। न केवल इस जन्ममे, बल्कि जन्मान्तरोमे भी। जो शक्तिशाली होता है वह अपने पूर्व जन्मके वैरीको दु,खी किए बिना नही रहता और वह दुखी किया हुआ प्राणी भी उसी जन्ममे या जन्मान्तरमे शक्तिशाली बनने पर अपना वैर निकालता है। इसका फल यह होता है कि परस्पर वैरकी परम्परा उनमे चलती रहती है। यह तो एक प्राणीके साथ चलनेवाले वैरकी कथा है। यदि वह अनेक जीवोसे हो तो फिर उस दु ख परम्पराका कहना ही क्या ? इसका साराश यह हुआ कि जब हिंसा स्वय विनाशशीलताके कारण अमर रहनेकी इच्छा रखनेवाले प्राणिमात्रके लिए दु खरूप है तो उसके विरुद्ध तत्परित्यागरूप अहिंसा अवश्य ही सुखदायिनी होगी। यह अहिंसा यदि एक प्राणीके साथ व्यवहार मे लाई जावे तो वह जैसे उसमे बन्धुत्वकी भावना उत्पन्न कर देती है उसी तरह यदि प्राणिमात्रके प्रति प्रयोगमे लाई जावे तो विश्वके सभी प्राणियोमे बन्धुत्वकी भावना जागृत कर सकती है। यही कारण है कि नीतिकारोने उदार चरित महापुरुषोके लिए सारे विश्वको ही कुटुम्ब मान लिया है। हमने यदि विश्वके प्राणी मात्रमे बन्धुत्व भावना उत्पन्न कर ली है तो हम उनके प्रति हिंसक नही होगे, साथ ही विश्वके वे सब प्राणी भी हमारे प्रति अहिंसक रहेगे। इस तरह हम लोकके रक्षक और लोक हमारा रक्षक बन जाते है। यदि विश्वके समस्त प्राणी ऐसा ही विचार कर अहिंसा धर्म स्वीकार करलें तो यह नि सन्देह है कि विश्वमे युद्ध और कलहकी समाप्ति हो जावे। इससे यह बात सप्रमाण सिद्ध है कि अहिंसा ही विश्वकी रक्षा करनेमे समर्थ है। इसलिए वही प्राणिमात्रके लिए श्रेष्ठतम धर्म है। मनुष्यको अपना कर्त्तव्य पथ दिखानेके लिए नाना धर्मोकी सृष्टि मनुष्य समाजके ही अनेक व्यक्तियोने कर ली है। सबका यह दावा है कि मेरा चलाया हुआ धर्म ही प्राणीको सुपथ पर ले जावेगा। और उससे भिन्न धर्म कुपथ पर। इस-प्रकारके भिन्न-भिन्न पक्ष केवल पक्षमात्र है। उनसे धर्मके नामपर पारस्परिक कलह बढनेके सिवाय कोई लाभ नही, यह भी एक अर्थ श्लोकमे निहित है। अतएव सर्व प्राणियोके लिए अनुभूत और परीक्षित श्रेष्ठ धर्म अहिंसा ही है। अतएव उसकी श्रेष्ठता निर्विवाद है। पाक्षिक श्रावकके ऐसे विचार रहते है कि वह लोक कल्याणकारी धर्म मेरे हृदयसे कभी दूर न होवे। वह तब तक मेरे मनमे निवास करे जब तक ससार मे चन्द्रमा स्थित है अर्थात् जिस तरह द्रव्यदृष्टि से चन्द्रमा कभी नाशको प्राप्त नही होगा उसी तरह यह अहिंसा परम धर्म भी मेरे मनसे कभी दूर न होवे ॥३-४॥

प्रश्न—सद्गुरोर्विषये कीदृग्भावोऽस्ति पाक्षिकस्य वा ?।

प्रशस्तधर्मोपदेशक एव सद्गुरु तस्य सम्बन्धे पाक्षिकस्य कीदृग्भावो भवति इति पृच्छति शिष्यस्तदा त समादधात्याचार्यं —

सच्चा गुरु, जो कल्याणकारक मार्गको ठीक तरहसे बता सके, कौन है इस विषयमे पाक्षिक क्या समझता है ऐसे शिष्यके प्रश्न पर आचार्य उत्तर देते है—

(इन्द्रवज्रा)

निर्ग्रन्थसाधुः सुखदः सदैव मान्योऽपि वन्द्योऽखिलविश्वशान्त्यै ।
त्याज्यस्तदन्योऽखिलविश्ववैरी स्यान्निश्चयो यस्य स पाक्षिकोऽस्ति ॥ ५ ॥

निर्ग्रन्थसाधुरित्यादि—यस्य पुरुषस्य सद्गुरोर्विषयेऽनेन प्रकारेण निश्चयो वर्तते स एव पाक्षिक श्रावक'। यत्—अखिलविश्वशान्त्यै सद्गुरुरेव माननीय । लोकेऽस्मिन् पण्डितमन्या वहवो वेषधारिण आत्मनो गुरुत्व द्योतयन्त परिभ्रमन्ति किन्तु न ते सद्गुरव । य खलु परिग्रहाशाम्परित्यज्य केवल परोपकारवृत्तिस्वाच्छन्मार्गमुपदिशति स एव सद्गुरु । स एव सद्गुरु य खलु निर्ग्रन्थ ग्रथेन धनधान्यादिदशविधेन वाह्येन, क्रोधाद्यात्मकेन चतुर्दशभेदेनान्तरङ्गेण च परिग्रहेण रहितो नि सग इति यावत् । तथा स एव सद्गुरु य खलु—स्वपरोपकार साधयति । तत्साधनमेव यस्य ध्येय स साधु । प्राणिना कल्याणकारकमार्गप्रदर्शकत्वात् स एव सुखदो भवति, स एव माननीय वन्दनीयश्च भवति । एवभूतेनैव गुरुणा लोके पारस्परिकवैरविरोधपरिहारेण शान्तिर्भवति । तद्भिन्न' खलु विषयाभिलापी तदभिलाषसाधक कुगुरु स्यात् । कुगुरु किल न केवल स्वात्मान नाशयति अपि तु अखिललोकान् स्वविषयाभिलापपोषणाय कुमार्गं दर्शयन् तेषा प्रति शत्रुत्व करोति । अत एव स खलु विश्ववैरी । अनादिपरम्परया परिभ्रमन्त प्राणिन ससारदु खादात्मनस्समुद्धारवाञ्छया धर्मोपदेशिना सद्गुरूणा चरणानाश्रयन्ति । मिथ्यागुरु किल दु खादुद्विग्नाना तेषा शिष्याणा वैराग्यभावनया स्वार्थसाधनाय गुरुवेपमङ्गीकृत्य ससारमार्गभीतान् शिष्यान् कुमार्गे नयति । अतएव स स्वपरकल्याणद्रोही विश्ववैरी एव । विश्व कलहकारिणि दुखात्मके विपयाभिलाषमार्गे परिभ्रामयन् तद्वैरित्व स्थापयति । अतएव च विश्ववैरी । अतएव सोऽवश्यमेव त्याज्य ॥ ५ ॥

ससार मे शान्ति-स्थापन करनेवाला परिग्रह और विषयाभिलाषासे रहित स्व-परोकार-साधक साधु ही सदा माननीय व वन्दनीय सुखदाता होता है । इससे भिन्न संसारके दु खोसे उद्विग्न पुरुषोको कुमार्ग मे ले जानेवाला कुगुरु विश्वका वैरी है । अतएव वह त्याग देने योग्य है, ऐसा जिसके हृदयमे निश्चय है वह विचारवान् पाक्षिक श्रावक है ।

भावार्थ—इस ससारमे अनादि परम्परासे नाना योनियोमे परिभ्रमण करता और तरह-तरह के दु ख उठाता हुआ यह प्राणी जव अपने कल्याण मार्गके ढूँढनेकी अभिलाषासे धर्मका आश्रय पकडनेके लिए फिरता है उस समय अपने स्वार्थके साधन करने की इच्छा रखनेवाले अनेक विषयाभिलापी पुरुष उसे धोखा देकर भी स्वार्थ सिद्ध कर लेनेकी गरजसे गुमराह करते हैं । ससारोद्धारक, परमवीतरागी, निस्पृह, विषयोकी वाछासे दूर और धन-वैभवको लात मारकर आत्मशुद्धि के लिए तपस्याका मार्ग आश्रय करनेवाले सच्चे साधुओंके विशुद्ध मार्गको मलिन करनेवाले ऐसे वहुत से साधु हैं जो अपनेको उसी मार्गमे चलनेवाला घोपित करते तथा वाह्यमे तदनुकूल वेष रखते हैं, किन्तु अन्तरगमे कपटका भाव रखते हुए धर्म मार्गमे जानेवाले उन प्राणियोको व्यर्थ ही कुमार्ग मे भटका देते हैं ।

यह ससारी प्राणी मोह मदिरा पिए हुए वैसे ही इन्द्रियोका दास है । उनकी आकाक्षाओको पूरा करते-करते उसका जीवन ही समाप्त हो जाता है । विषयपूर्ति के लिए ही उसे देश-देश, वन-वन छान डालने पडते हैं । वह वडा से वडा जोखिम भी प्राणो की वाजी लगाकर उठा लेता है । उसके इस कार्य मे यदि कोई विघ्नकारक हो तो उसे वैरी समझकर यह उससे कपाय करता है और कषाय के निमित्त से भी अनेकानेक पाप करता है । इन सव वातो से वह भी इतना परेशान है कि उसे स्वय कुछ मार्ग

नही सूझता । वह चाहता है कि मै उलझनो को सुलझा लूँ , वह परन्तु जब सुलझाने जाता है तब एक न एक नई उलझनमे फँस जाता है । इसका कारण यह है कि उसने विपरीत मार्ग ग्रहण कर रखा है । दु ख-निवृत्ति का जो मार्ग है वह उसने नही पाया और दुःखोत्पादक मार्ग को ही सुख का मार्ग समझकर भटक रहा है । पूर्व को जाने की अभिलाषा करनेवाला यदि मार्गभ्रष्ट होकर पश्चिम या उत्तर को चला जावे तो निरन्तर प्रयत्न और परिश्रम करने पर भी वह अपने ध्येय को नही पा सकता, इसी तरह विषय कषाय से परिपूर्ण मार्ग मे भ्रमण करते हुए प्राणी को बहुत प्रयत्न करते हुए हो गया पर सुख नही मिला । शान्तिकी इच्छा रखनेवाला यह प्राणी जब दु ख दूर करनेवाले मार्ग की खोज मे किसी मार्गदर्शक को ढूँढता है तब अनेक वञ्चक उस विरक्त पुरुषका धन बटा लेने की गरज से परम-पवित्र धर्मोपदेश के मार्ग को मलिन करते हुए अपने को सद्गुरु घोषित करते हुए उसे भटका देते हैं । वे सारे विश्वके प्राणियोके लिए धर्मोपदेशकका जामा पहिनकर भी स्वार्थमय उपदेश देकर विश्व का अहित करते है । इसीलिए उन्हे विश्व का वैरी कहना युक्तिसगत है । जब तक यह मनुष्य उनको पहिचान कर उनका ससर्ग न छोडेगा तब तक उसे सुमार्ग प्राप्त न होगा । सुमार्ग प्राप्त करने की अभिलाषा करने-वाले को सद्गुरु की पहिचान करनी होगी । सद्गुरु वही है जिसे स्वय विषयाभिलाषा न हो, कषायवान् न हो, हिंसा के कारणभूत आरम्भ व परिग्रह से सर्वथा रहित हो तथा ज्ञान ध्यान व तपस्या करना ही जिसका एकमात्र कर्तव्य हो । वही विश्व को शान्तिमय मार्ग बता सकता है, ऐसा जिसने निश्चय कर लिया है वही पाक्षिक श्रावक है ॥ ५ ॥

प्रश्न—देवस्य विषये कीदृग्भावोऽस्ति पाक्षिकस्य मे ?

कोऽसौ देव ? किं च तत्स्वरूपम् ? तत्सम्बन्धे पाक्षिकस्य मे कीदृग्भावो भवतीति पृष्ट सन्नाचार्य प्राह ।

देव कौन है ? उसका क्या स्वरूप है ? मुझ पाक्षिकको इस विषयमे कैसा भाव रखना चाहिए ? इस प्रश्न पर आचार्य उत्तर देते हैं—

(इन्द्रवज्रा)

श्रीवीतराग्येव हितोपदेशी सर्वज्ञदेवोऽपि स एव योग्यः ।
निर्दोषयोगादिति सर्ववन्द्यः स्यान्निश्चयो यस्य स पाक्षिकोऽस्ति ॥ ६ ॥

श्रीवीतरागीत्यादि—यस्मिन् प्राणिनि निर्दोषत्व वर्तते स एव देव । समासतो रागद्वेषौ एव दोषौ सर्व-दोषाधायकत्वात्तयोरेव प्रमुखत्वम् । व्यासतस्तु जन्म-मरण-जरा-पिपासा-क्षुधा-खेद-मद-मोह-भय-चिन्ता-रोग-शोक-राग-वैर-विस्मय-अर्ति-स्वेद-निद्रा इत्यष्टादश दोषा । एतैरेव जन्तव ससारे परिपीडयन्ते । एभ्य एव मुक्ति प्राणि-नामभीष्टा । सैव च परम सुखमिति । ससारज्वरोत्पन्नसतापनिदान परिज्ञाय येनैते दोषा समुन्मूलिता स वीत-रागीति । वीतरागिण एव सर्वज्ञत्वमाप्नुवन्ति, ज्ञानस्वरूपत्वादात्मन । दोषाभावे न कोऽपि बाधको य किल आत्मान स्वरूपसप्राप्तिमार्गे रुन्ध्यात् । इत्यनेन प्रकारेण वीतरागत्व सर्वज्ञत्वञ्च प्राप्नुवन् पुरुष एव प्राणिना हितकारक मार्गम् उपदेष्टु क्षमते, यत स्वार्थवासनारहितानामेव परिपूर्णज्ञानिना हितोपदेशकत्व सभवति । अथवा प्राप्तपरिपूर्ण-स्वार्थानामेव निश्चयत परोपकारकरणवृत्ति सभवति । न खलु वीतरागत्वसर्वज्ञत्वयो हितोपदेशित्वेनैव व्याप्ति सर्वत्र, किन्तु य किल यथार्थतया हितमुपदिशति तेन सर्वज्ञेन वीतरागेण च भवितव्यमेव, अन्यथा तस्य हितोप-देशित्व न स्यात् । वीतरागत्व सर्वज्ञत्वञ्चापन्ना मूककेवलिन निरुद्धयोगा अयोगकेवलिन सिद्धपरमेष्ठिनश्च सन्ति ये नोपदिशन्ति, अत परिपूर्णपदार्थग्राही वैरस्नेहादिदोषविनिर्मुक्त एव जीवाना हितमार्गप्रदर्शने प्रभवति तथा स एव निर्दोषत्वात् सर्वैरेवजनैर्वन्दनीयश्च स्यात् । एतदेव लक्षण देवत्वस्य । इति गुणत्रयविशिष्ट एव देव इति यस्य हृदि निश्चयो वर्तते स किल पाक्षिक समस्ति ॥ ६ ॥

राग द्वेषादि १८ दोषरहित वीतरागी तथा परिपूर्ण केवलज्ञानको प्राप्त करनेवाला व्यक्ति ही हितका उपदेश देनेके योग्य है। इस तरह वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी इन गुणो सहित होना ही देवका सच्चा लक्षण है। जिसमे ये गुण नही वह देव कहलाने योग्य नही। सच्चा देव निर्दोष होनेके कारण ही जगत्पूज्य होता है, ऐसा जिस गृहस्थको निश्चय है वह पाक्षिक है।

भावार्थ—प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी आदर्शको सामने रखकर ही अभीष्ट कार्यकी सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है, बिना ऐसा किए उसे इष्टसिद्धिके लिए मार्ग ही नही मिलता। ससार परिभ्रमणके दु खसे दु खी प्राणी जब धर्मके मार्गमे आता है तब यह देखता है कि इस मार्ग पर मेरे पूर्व चलनेवाले सज्जन कौन हैं और उनमे क्या क्या गुण थे ? धर्म मार्गके आदर्श पुरुष ही 'देव' सज्ञाको प्राप्त करते है, इसलिए उन्हे 'देव' नामसे ही सम्बोधित किया है।

'देव' ससार के दु खो से पार हो चुके हैं, हमे भी पार होना है इसलिए अपने इस उद्देश्य की पूर्तिके लिए हमे 'देव' की शिक्षा ग्रहण करनी होगी। दुनियाके दूसरे-दूसरे विभागोकी तरह इस विभागमे भी अपनेको 'देव' बतानेवाले व्यक्ति बहुत है जो हमे अपने उपदेशके अनुसार चलने को बाध्य करते हैं। यहाँ हमे यह देख लेना आवश्यक है कि इनमे सच्चा देव कौन है जिसे आदर्श मानकर हम उसकी शिक्षा ग्रहण कर अपना कल्याण कर सकें। उस देवका स्वरूप या उसकी पहिचान यही हो सकती है कि हम जिन राग-द्वेष-मद-मोह आदि १८ दोषोसे परिपूर्ण हैं और दु खी हैं, उस देवमे ये दोष न हो। हम जिस अपरिपक्व ज्ञान, जिसे अज्ञान कह देना भी अनुपयुक्त नही, के कारण भी मार्गभ्रष्ट हो जाते हैं। उस देवमे यह दोष भी न हो, वह परिपक्व पूर्णज्ञानी (सर्वज्ञ) हो। तथा सर्व प्राणियोंके हितकी भावनाके सस्कारसे जिसका उपदेश होता हो। इन तीन गुणोसे जो सहित है वही 'देव' पदके योग्य है, वही निर्दोष होनेके कारण विश्व-वद्य है और वही दोषविजयी होनेसे 'जिन' कहलाता है। पाक्षिक गृहस्थके हृदयमे 'देव' के सम्बन्धमे उक्त विचार निश्चित रहते हैं। वह इन गुणोसे रहित व्यक्तिको देव नही मानता। उसे दु खोन्मोचनके मार्गमे साधक न मानकर बाधक ही समझता है। इसलिए उससे दूर रहनेका सदा ध्यान रखता है, इस विचारसे कि कही मै भुला न दिया जाऊँ कि जिससे वास्तविक मार्गसे दूर हो जाऊँ॥ ६॥

प्रश्न—शास्त्रस्य विषये कीदृग्भावोऽस्ति पाक्षिकस्य मे ?

धर्मोपदेशने शास्त्राणामपि महत्त्वपूर्णं स्थान वर्तते इति तस्य किंलक्षणाम् तद्विषये मे पाक्षिकस्य कीदृग्विचार कार्य इति प्रश्ने उत्तरयति—

धर्मोपदेशके कार्यमे शास्त्रोका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है इसलिए शास्त्रके सच्चेपनकी क्या पहिचान है इस सबधमे मुझे क्या विचार रखना चाहिए, ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

(इन्द्रवज्रा)

बोधप्रद वैरहर मिथः कौ श्रीद जिनोक्त हि सदेति शास्त्रम्।
आचन्द्रसूर्यं पठितुं प्रमाणं स्यान्निश्चयो यस्य स पाक्षिकोऽस्ति॥ ७॥

बोधप्रदमित्यादि—जिनोक्तम् उक्तलक्षणगुणविशिष्टेन जिनेन उक्त समुपदिष्टम बोधप्रदम् अज्ञाननिवृत्तिपूर्वक सम्यग्ज्ञानमपादकम्। श्रीद श्रियम् अन्तरङ्गबहिरङ्गलक्ष्मीम् शोभाञ्चददातीति श्रीदम्। शास्त्रज्ञानेन जीवानां स्वपरभेदज्ञान भवति तदेव तस्य शोभा। अथवा शास्त्रोपदिष्टमार्गमनुसरन् समारी ससारम्यदेवेन्द्र-नागेन्द्र-नरेन्द्र तीर्थकर-नारायणादिपर्यायमभवविभूतिविशेषानप्यवाप्नोति स्वपरविभेदपूर्वकम् अनन्तज्ञानदर्शनसुखाद्यात्मकस्वापूर्वसपत्ति च प्राप्नोति इति शास्त्र श्रीदम्। उक्तगुणद्वयविशिष्टमेव शास्त्र कौ पृथिव्या सर्वप्राणिना पारस्परिकं वैरमपहरति यत

पारस्परिकमैत्रीसमुत्पादने शास्त्राणामेवोपयोगदर्शनात् तदेव च सच्छास्त्रम् । वैरविरोधवर्धकत्वात् अहितमार्गप्रदर्शकत्वाच्च शेषमसच्छास्त्रम् इति यावत् । आचन्द्रसूर्यं यावच्चन्द्र दिवाकरौ सच्छास्त्र पठितु प्रमाणम् । इत्थ शास्त्रस्य विषये यस्य निश्चय स च पाक्षिकोऽस्ति ॥ ७ ॥

सच्चे देवका उपदेश ही सच्चा शास्त्र है । उसकी पहिचान यह है कि वह अज्ञान निवृत्ति कर जीवोको वास्तविक बोध देता है । लोक व परलोकमे लक्ष्मीको देनेवाला अर्थात् बाह्यसपत्ति व ज्ञानसपत्तिको बढाने वाला होता है । साथ ही वह ऐसा होता है कि जिसे सुनकर पृथिवीके प्राणी अपना पारस्परिक वैर छोडकर प्रेम व सहानुभूतिके मार्ग पर उतर आवें । ऐसे शास्त्र सदाकाल जबतक दुनियामे सूर्य और चन्द्रमा हैं पठन पाठनके योग्य प्रमाणीभूत हैं ।

भावार्थ—इस लोकमे शत्रुओको परास्त कर अपना राज्य वैभव व सम्पत्तिकी रक्षा कर लेनेके लिए जैसे शस्त्रकी उपयोगिता है उसी तरह अपने दुर्गुणरूपी शत्रुओ पर विजय प्राप्त करनेके लिए शास्त्रकी भी आवश्यकता है । शास्त्रकी प्रमाणताकी छाप लोगोके हृदयो पर बराबर अङ्कित है । वेद-स्मृति-पुराणादि सब शास्त्रके नामसे पुकारे जाते हैं और उनका उपदेश ही लोकमे गाह्य माना जाता है । मुसलमान भाइयो और ईसाइयोके यहाँ भी कुरान और बाइबिलके नामसे शास्त्रोकी प्रमाणता सिद्ध है । हरएक सम्प्रदायका व्यक्ति किसी विवादग्रस्त विषयको सुलझानेके लिए खोज करता है कि इस विषयमे धर्मकी पुस्तक क्या कहती है । इन सब बातोसे यह सिद्ध होता है कि शास्त्रकी प्रमाणताकी छाप हर सम्प्रदायके व्यक्ति-व्यक्ति पर अकित है । इसका कारण यह है कि सम्यग्धर्मोपदेष्टाका मूलत अभाव होनेके कारण लोग उन प्राचीन पुस्तकोको देखकर निर्णय करना चाहते हैं जिनको जमानेका परिपूर्ण अनुभव करके आजसे सदियो पहिले लोग लिख गए हैं । अथवा वे मानते है कि वह ईश्वरीय पुस्तक है या उसकी देन है या उसका उपदेश है । साराश यह है कि ईश्वर या 'देव' के विषयमे लोगोको जितना आदर है उतना ही आदर उसकी वाणीके प्रति भी है । इससे यह बात सहज सिद्ध हो जाती है कि शास्त्र वही प्रमाणीभूत है जो परमवीतरागी, निस्पृह, पूर्णज्ञानी, और परोपकारी इन गुणोसे परिपूर्ण व्यक्ति द्वारा उपदेशित किया गया हो । वचनकी प्रामाणिकता वक्ता की प्रामाणिकतासे है । प्रत्येक व्यक्ति इतनी सामर्थ्य नही रखता कि वह उपदेशित विषयकी सत्यता असत्यताकी परीक्षा स्वय कर सके । इसके लिए भी महान् ज्ञान गभीर अध्ययन व अनुभवकी आवश्यकता है जो कि प्रत्येक व्यक्तिमे सम्भव नही, अतएव किसी भी वचनमे प्रामाणिकताके सम्बन्धकी परीक्षाका मापदण्ड वह व्यक्ति होता है जिसने उक्त वचन कहा हो । यदि वक्तापूर्ण ज्ञानी है तो यह निश्चय कर लिया जा सकता है कि वह वस्तुका स्वरूप बतलानेमे भूला नही होगा । अज्ञानी या अपूर्णज्ञानी कितना भी परोकार दृष्टिवाला स्वार्थ वासनारहित हो, पर उसके कहनेमे ज्ञानकी कमीके कारण भ्रम होना नितान्त सम्भव है । इसलिए वक्ताको पूर्णज्ञानी होना आवश्यक है । दूसरी बात यह है कि किसी वस्तुका वास्तविक ज्ञान रखनेवाला भी व्यक्ति यदि परोपकरण वृत्तिवाला नही है तो वह क्यो किसीको हित मार्गका उपदेश करेगा ? यह कार्य वही करेगा जिसे यह भावना हो कि अज्ञानताके कारण ससारके जो प्राणी भटक रहे हैं उनको सन्मार्ग सुझाया जावे ताकि वे दु खके मार्गसे दूर होकर अपने को सुखी बना सकें । इससे यह भी सिद्ध हुआ कि उस वक्ता को पूर्णज्ञानीकी तरह परोपकार वृत्तिवाला भी होना आवश्यक है । परोपकारी व ज्ञानी पुरुष भी यदि किसीके प्रति स्नेह और किसीके प्रति विरोधी भावना रखनेवाला होगा तो भी उससे जनता का यथार्थ हित न हो सकेगा । वह अपने स्नेह भाजन व्यक्तियोको हितकारक मार्ग अवश्य बतायगा पर जिनके प्रति विद्वेष की भावना होगी उसे तो विरुद्ध मार्ग ही बतायगा । लोकमे ऐसी घटनाएँ सदा देखनेमे आती हैं । इसलिए वक्तामे पूर्णज्ञानित्व और परोपकारवृत्तित्वकी तरह वीतरागद्वेषित्व अर्थात्

स्नेह और वैर रहितत्व-सर्व-जीव-समभाव होना-यह गुण भी आवश्यक है। परोपकारवृत्ति उन्ही पुरुषोकी होती है जिन्हे जीवमात्र पर समभाव होता है। उसे भेद भावकी भावना दूर रखना पडेगी। मान लो एक आदमी सडक पर बीमार और दुःखी पडा है, ठडके मारे अकड रहा है, यद्यपि उसके पास ओढनेको कम्बल है तो भी वह बेहोश होनेके कारण उससे अपना शरीर नही ढांक सकता। ऐसे समय परोपकारवृत्तिवाला गृहस्थ वही हो सकता है जो उस पर अपने भाई बन्धुओ की तरह समभाव रखता हो—वही व्यक्ति उसे कम्बलसे ढक देगा, औषधिका उपचार करनेके लिए यदि वह स्वय वैद्य (जानकार) न होगा जो कि पूर्ण परोपकार कर सकनेके लिए उसे होना चाहिए तो किसी योग्य जानकार व्यक्ति का जो वैद्य हो सयोग जोडेगा। स्वय घर लाकर उसकी सेवा करेगा और उसे चगा कर देगा। जो इतना नही कर सकता नो समझना चाहिए कि अभी उसके सर्वजीवसमभाव नामक वृत्ति पैदा नही हुई। अभी उसे स्वजन और परजनका भेद है, एकसे स्नेह और अपरसे स्नेहाभाव है। यदि उसके ऐसा भाव न होता तो वह वीतराग और वीत-द्वेष समझा जाता और वह परोपकारी होनेका दावा कर सकता था। इससे यही सिद्ध होता है कि वक्तामे उक्त गुण यदि हो तो ही उसके वचनोमे प्रमाणता आ सकेगी अन्यथा नही। इसलिये सर्वसाधारण पुरुष जो स्वय तत्त्व-परीक्षा करनेमे असमर्थ हैं वे वक्ताको गुणवान् देखकर ही उपदेशकी उपयोगिता या अनुपयोगिताको स्वीकार कर लेते हैं। इसलिए सच्चे शास्त्रकी परीक्षाका पहिला चिह्न है कि वह वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी 'देव' या 'जिन' के द्वारा कहा गया हो ॥ ७ ॥

दूसरा विशेषण यह है कि सच्चा शास्त्र वह है जो बोधप्रद हो अर्थात् वास्तविक बोध कहिये ज्ञान उत्पन्न करनेवाला हो। इस विशेषणकी आवश्यकता इसलिए हुई कि सदा सर्वज्ञ परमात्मा ससारमे स्थित नही रहते वे तो लोकोपकारक उपदेश देकर मुक्ति दशाको प्राप्त हो जाते है। फिर हजारो वर्षोंके बाद सर्वसाधारण जनता कैसे निर्णय करे कि यथार्थतया उस परमात्माका उपदेश कौन शास्त्रमे लिखा है, क्योकि परमात्माके मुक्ति गमनके बाद अपनेको परमात्मा प्रसिद्ध करनेवाले भी अनेक व्यक्ति होते आये है और उन्होने भी जनताके हितका दावा करते हुए पुस्तकें लिखी हैं। उनमे कौन सत्य हैं कौन नही इसका निर्णय कैसे होगा ? इसका निर्णय करनेके लिए हमे अब केवल वक्ता की प्रामाणिकता से वस्तु की प्रामाणिकताकी बात भुलानी होगी और इसकी परीक्षा करनी होगी कि ईश्वरके उपदेशके बाद जो परम्परा चली आई है किन्तु अनेक अहम्मन्य हितोपदेशियोके विभिन्न उपदेशोमे मिलकर पहिचानने मे नही आती आखिर उसकी पहिचान कैसे होगी ? उसकी पहिचान होगी उपदेशित तत्त्वकी परीक्षासे। वह परीक्षा ही ग्रथकर्त्ता आचार्यने 'बोधप्रद' विशेषण द्वारा प्रकट की है। यह देखना होगा कि हमे किस शास्त्रके अध्ययनसे बोध अर्थात् वस्तुका यथार्थ ज्ञान होता है ? वस्तु का यथार्थ ज्ञान क्या है इसका निर्णय भी सर्वसाधारणका कार्य नही। इसलिए उसकी कसौटी "कौ मिथः वैरहर" इन शब्दोमे आचार्य महाराजने प्रतिपादित की है अर्थात् जिस शास्त्रका उपदेश हमारे परस्पर कलह, वैर, विरोध, ईर्षा, डाह आदिको छुडाकर प्रेम व सहानुभूतिका पाठ पढावे समझ लो कि वही शास्त्र सच्चा शास्त्र है। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि पहिले राग-द्वेषरहित होना ही श्रेष्ठ बताया गया था और अब केवल वैर छोडकर परस्पर अनुरागका उपदेश कैसे दिया गया ? उसका समाधान यह है कि त्यागके मार्गमे भी कुछ क्रम है। पहिले द्वेषका त्याग होगा, द्वेषका त्याग करके सर्व जीवो पर स्नेह भाव रखना यह वीतरागी बननेकी पहिली सीढी है। जिसने द्वेष भाव पर विजय प्राप्त कर ली और सबसे स्नेह करने लगा वह व्यक्ति भी जबतक अपने स्वार्थसाधक व्यक्तियोको स्वजन मानकर अधिक स्नेह और शेष पर केवल द्वेषाभाव मात्र स्नेह रखता है तबतक वह पूर्ण वीत-द्वेष नही कहा जा सकता।

उसे अभी अपने स्नेहको बखेरनेमे उदारतासे काम लेना होगा। जब वह ऐसा कर सकेगा और 'उदार-चरिताना तु वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्तका परिपूर्ण अनुयायी हो जायगा तब समझा जावेगा कि वह पूर्ण वीतरागी हुआ। सच्चा शास्त्र पारस्परिक कलहोत्पादक उपदेशकी रचना नही कर सकता। यह सुनिश्चित है कि वक्ताके हृदयका भाव उसके वचनोमे अवश्य अकित हो जाता है। अपने भावोको दूसरोको समझानेके लिए ही तो मनुष्यको शब्दोका आश्रय लेना पडता है। तब यह कैसे सभव हो सकता है कि हितोपदेशी वीतरागी सर्वजीवसमभावी सर्वज्ञ भगवान्‌के वचनोमे पारस्परिक वैरको दूर करनेवाला उपदेश न हो ? इससे यह सिद्ध है कि सच्चा शास्त्र वही है जो जिनोक्त हो और उसकी परीक्षा यही है कि वह हमारे पारस्परिक कलहको जो सम्प्रदायभेदके कारण भी उत्पन्न हो जाती है उसको प्रोत्साहित न करे। बल्कि जो मत विभिन्नताको दूर कर सर्वहितकारी कर्त्तव्योकी ओर प्राणि-मात्रका ध्यान आकर्षित करे।

प्राय देखा जाता है कि अपने विषयको प्रतिपादन करनेके लिए और उसका प्रभाव जनता पर जमानेके लिए लोग आत्म-प्रशसा व परनिन्दा इस पद्धतिको अगीकार कर लेते है। परन्तु सच्छास्त्र इसे दोष ही बताते है। इसे निन्दनीय तथा नीच गोत्रका बध करानेवाला अर्थात् उसे इस लोकमे नीच विचारवाला घोषित ही नही करते, बल्कि जन्मान्तरमे भी ऐसे व्यक्तिको "नीच विचारवाला लोक निन्द्य होगा" ऐसा घोषित करते हैं। आत्म-प्रशसा और परनिन्दाकी पद्धति ही परस्परमे वैरका बीज बोती है। यह सच है कि किसी भी व्यक्तिको अपने मतको प्रतिपादन करनेके लिए उसके गुण और अपने मतविरुद्ध विषयके दोष कहने पडेगे। इसके बिना वह अपने इष्ट तत्त्वका स्वरूप ठीक-ठीक लोगो-को नही बता सकता। तथापि सच्चे शास्त्रका उपदेश वस्तुके गुण दोषोका ही विवेचन करता है। किन्तु निन्दात्मक पद्धतिसे किसी व्यक्तिको जनताकी दृष्टिमे गिरानेका प्रयत्न नही करता। बल्कि तत्त्वमार्गसे भूले हुए विभिन्न मतके व्यक्तियोको भी अपने कल्याण-मार्गको स्वीकार कर लेनेके लिए उत्साहित करता है। ऐसा जिस शास्त्रका उपदेश है वही शास्त्र सदाकाल स्वाध्यायके योग्य है। ऐसा जिसने निश्चय कर लिया है वही गृहस्थ पाक्षिक है ॥ ७ ॥

प्रश्न—**स्वाचारवृत्तिविषये खलु पाक्षिकस्य कीदृग्गुरो भवति मे वद तस्य भावः।**

पाक्षिकश्रावकस्य विशेषाचारणप्रवृत्ते स्वरूप कीदृगस्तीति प्रश्न ।

गुरुवर ! अपने आचरणके बारेमे पाक्षिक श्रावकके कैसे विचार होते हैं ?

(उपजाति)

भोगोपभोगाद्विषमात् प्रमोहात्तथा त्रसस्थावरजीवघातात् ।
न स्याद्विरक्तिस्तदपि प्रवीरो धर्मादिकार्येऽस्ति सदैव दक्षः ॥ ८ ॥

भोगोपभोगादित्यादि—चारित्रावरणकर्मोदयविशेषेण पाक्षिकस्य प्रवृत्तिर्न हि विरतिरूपा भवति। सकृद्भोगयोग्यभोजनगन्धमाल्यादिभोगात् तथा असकृद्रुपभोगयोग्यशयनाद्युपभोगात्तस्य काचिदपि विरक्तता नास्ति। त्रसस्थावरजीवघातबाहुल्येष्वपि व्यापारवाणिज्यादिकर्मसु धनगृहादिपदार्थेषु च अत्यन्तमोहसद्भावादेव तस्य प्रवृत्ति र्वर्तते, ततो न तत्र तस्य विरक्तिस्सञ्जायत, तथाऽपि पाक्षिक शुभप्रवृत्त्यात्मके धर्मप्रभावके कार्ये सदैव दक्ष पटु सोत्साह इति यावत् भवति। अत. स प्रकृष्टो वीरो विघ्नशतेष्वपि स्वधर्म-प्रभावनादिपुण्य कार्येभ्यो न कदापि परावर्तते ॥ ८ ॥

पाक्षिक श्रावककी प्रवृत्ति चारित्रमोहनीय कर्मके उदयकी विशेषताके कारण यद्यपि भोग योग्य और उपभोग योग्य पदार्थोंके त्यागरूप नही होती। त्रसस्थावर जीवोका जिनमे विशेष घात होता है ऐसे व्यापार वाणिज्यादि कार्यों से भी लोभ की विशेषता वश वह विरत नहीं होता, तो भी धर्मके प्रत्येक कार्यके करनेमे उसका उत्साह सदा वढता रहता है।

भावार्थ—यथायोग्य त्रसस्थावर जीवोकी रक्षा करना और भोगोपभोगको कृश करना यही गृहस्थो का चारित्र है। यद्यपि इस त्याग का भी क्रम है। अक्रमसे एक ही साथ सब त्याग नही होता। श्रावक की एकादश प्रतिमाके रूपमे यही क्रम वर्णित है। तथापि जो श्रावक अभी पाक्षिक अवस्थामे है और त्यागके उस क्रमको स्वीकार नही कर सका है, उसके न तो भोगोपभोगकी वाछा ही घटी और न भोगोपभोगके लिए आवश्यक धनकी मूर्च्छा ही घटी। यही कारण है कि धनकी प्राप्तिके लिए उन कार्यों-से, जिनमे त्रसस्थावर जीवोका विशेष घात होता है, वह विरक्त नही होता, वल्कि भयकर मोह की परणतिवश ऐसे वाणिज्यादि कार्यों मे उसकी प्रवृत्ति पाई जाती है। फिर भी इन कार्यो को वह आत्म-हितकारक नही मानता। इतना ही नही वल्कि त्यागरूप पुण्य कार्योको उत्तम मानता है। समयानुसार अपनी प्रवृत्ति पर और धर्मके स्वरूप पर जव कभी विचार करता है तव अपनी प्रवृत्तिकी निन्दा भी करता है और धर्म प्रभावनाके कार्योंको करनेमे सदा उत्साहशील रहता है, कभी प्रमादी नही होता। पाक्षिक शब्द का सीधा अर्थ है—जिसे धर्मका पक्ष हो! यही कारण है कि पाक्षिक श्रावक धर्मका कभी अपमान नही सह सकता, भले ही वह धार्मिक प्रवृत्तियो और आचरणोंके यथाविधि पालन करनेमे स्वय समर्थ न हो सके, तो भी वह धार्मिक प्रभावना तथा उसपर आनेवाले सैकडो विघ्न वाधाओसे रक्षा करनेमे कभी पीछे पैर नही रखता, फिर भले ही ऐसे अवसर पर उसे अपने जीवन भर की कमाई खो देनी पडे, लाड प्यारसे पाले गए अपने शरीरको कठोर यातनाओमे फसा देना पडे।

पाक्षिक श्रावक धर्म-भवनकी सम्पत्तिकी रक्षा करनेवाला सच्चा सैनिक है। वह कर्तव्यशील होता है। पाक्षिक श्रावकके प्राय कषायोकी प्रवलताके कारण यद्यपि चारित्र अत्यल्प होता है तथापि उन्ही कषायोकी शुभ प्रवृत्तिकी प्रवलताके कारण अवसर आनेपर वह अपना सर्वस्व त्याग देनेमे भी नही चूकता। वह धर्मरक्षाके लिए केवल वीर ही नही होता, दक्ष भी होता है। किस पद्धतिसे धर्म रक्षा होगी इसका विचार करनेमे उसकी वुद्धि वडी कुशाग्र होती है। कदाचित् पाक्षिकाचारका आचरण करनेवाला यदि निर्धन होता है तो धर्म-रक्षामे अपना तन लगा देता है। यदि मध्यम श्रेणीका होता है तो अपना तन और धन दोनो लगा देता है और यदि सम्पन्न होकर शक्तिशाली होता है तो अपनी सम्पूर्ण सपत्ति और वैभवको भी लात मारकर अपने जीवनका मूल्य धर्मकी रक्षामे आँकता है। यह पाक्षिक की प्रवृत्ति है जो सदा स्पृहणीय मानी गई है ॥ ८ ॥

प्रश्न—पाक्षिकस्य प्रवृत्तिस्तु धार्मिका कीदृशी वद ?

धर्मकार्येपु दक्षोऽपि पाक्षिक अत्यल्पाचारमप्याचरन् किमाचारमाचरति ?

पाक्षिक श्रावककी धार्मिक प्रवृत्ति कैसी होती है ?

(उपजाति)

सद्धर्मसस्कारवशाद्धि येन यज्ञोपवीतोऽपि धृतस्त्रिरत्नः।
दानार्चनादौ च कृता प्रवृत्तिः स पाक्षिकस्स्यात्सुखशान्तिमूर्तिः ॥ ९ ॥

सद्धर्मसस्कारवशादित्यादि—पाक्षिकस्तु सर्वोत्कृष्टवीतरागद्वेषस्वरूपात्मधर्मस्य पुन पुनर्भावनया आत्मोद्धारक-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्रत्रितयात्मक धर्मं धारयिष्यन् तच्चिह्नस्वरूपम् सूत्रत्रितयात्मक कण्ठसूत्र धारयति। तस्मात्तद् "यज्ञोपवीत" इति कथ्यते। यज्ञोपवीतस्य स्वरूप तद्धारणपद्धतिश्च ग्रन्थान्ते प्रतिपादयिष्यते। यज्ञोपवीतधारकस्य तस्य पाक्षिकस्य देवोपासनाया शास्त्राणा सग्रहविनयार्जनरक्षणेषु गुरूणा सेवाया च प्रवृत्तिर्निरन्तरा भवति। स च सदा सुखी शान्तश्च भवति॥ ९॥

पाक्षिक श्रावक सर्वोत्कृष्ट धर्मकी भावनाके निमित्तवश सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप धर्मको आत्मकल्याणकारी समझकर उसे धारण करनेकी इच्छासे रत्नत्रयस्वरूप धर्मके चिह्न रूप तीन सूतवाले यज्ञोपवीत (जनेऊ) को धारण करता है। उसकी प्रवृत्ति सदा देवकी उपासनामे, शास्त्रोके सग्रह विनय स्वाध्याय और सरक्षण करनेमे तथा सद्गुरुओकी सब प्रकारकी सेवा करनेमे ही रहती है। वह सदा शान्तस्वभावी होता है और इसीलिए सुखी रहता है।

भावार्थ—पाक्षिक श्रावकके दो धर्म मुख्य है। उनमे प्रथम धर्म है पूजा अर्थात् वीतराग भगवान्‌की उपासना। पाक्षिक श्रावक ससारके दु खोको पार करके निर्वाणके सुखका आस्वादन करनेवाले अपने आदर्श प्रभुकी पूजा करता है। केवल इनकी ही पूजा नही करता है किन्तु उनके उपदेश दिए हुए आत्म-कल्याणकारक वचनोके सग्रहस्वरूप शास्त्रोकी रक्षा करता है, उनका सग्रह करता है तथा विनय और श्रद्धापूर्वक उनका पठन-पाठन करता है। वह स्वय देवोपासनाके लिए देव-मन्दिरका निर्माण, देवमूर्तिकी स्थापना व प्रतिष्ठा करता है। सरस्वती भण्डारकी स्थापना व रक्षा करता है। ज्ञानके आराधक सद्गुरुओका सत्कार करता है। उनकी आज्ञानुसार चलता है। आहार, औषधि और पुस्तकादिके दानके द्वारा उनकी सेवा करता है। विद्या-प्रचारके लिए योग्य पुरुषोका यथायोग्य विनय और उनकी धनादिक द्वारा सेवा करता है। उनके कष्ट व चिन्ताको दूर कर उन्हे ज्ञान-प्रचारके कार्योंके करने योग्य बनाता है। विद्यालय खोलकर धार्मिक विद्याके अभिलाषी छात्रोको आहारादिकी सहायता देता है। सद्धर्मोपदेशक पुस्तकोको जनताके हितके लिए प्रकाशित करता है तथा अपने धनका व्यय करके उन्हे सर्वसाधारण जनताके हाथो तक पहुँचाता है। इस तरह वह देव, शास्त्र और गुरुओकी, साथ ही देवोपासक, शास्त्राराधक और सद्गुरुओके सेवक पुरुषोकी यथायोग्य विनय और सेवा करता है। यह पाक्षिकका पूजा-धर्म है।

दूसरा धर्म है दान—दान अपने स्वार्थके त्यागको कहते है। चाहे वह त्याग धनका हो, आहारादि सामग्रीका हो, अपने विषयोका हो या कषायोका हो। जिन वस्तुओको हमने अपना रखा है, उनका यदि परोपकारवृत्तिसे त्याग करना आवश्यक हो तो पाक्षिक श्रावक उनके त्यागके लिए तैयार रहता है। इसका खुलासा यह है कि धर्माराधक उत्तम पात्र मुनि (साधु), दूसरे दर्जेमे अल्प आचरण करनेवाले गृहस्थ धर्मात्मा और तीसरे दर्जेमे श्रद्धालु गृहस्थ इनको यथायोग्य उनकी आवश्यकतानुसार आहार व रोग-पीडित होनेपर औषधिकी व्यवस्था करता है। गृहस्थ यदि आजीविकाके साधनोसे रहित हो तो धनादिकी सहायता देकर आजीविकामे लगाता है। दीन, दुखी और दरिद्रीको देखकर उनका कष्ट दूर करनेके लिए यदि आवश्यकता हो तो अपने भोगयोग्य विषयोका भी त्याग कर उनका कष्ट दूर करता है। उक्त सुपात्र व करुणापात्रोकी सेवाके लिए यदि किसी दूसरेकी सहायताकी अपेक्षा हो तो उसे प्राप्त करनेके लिए स्वय मानादि कषायका त्याग करके भी उसे प्राप्त कर लेता है। सेवाधर्मको

अपना प्रधान लक्ष्य बनाकर धर्म-सेवा, धार्मिक-सेवा, समाज-सेवा, जाति-सेवा, ग्राम-सेवा, देश-सेवा और राष्ट्र-सेवामे लगा रहता है। तात्पर्य यह कि गृहस्थके करने योग्य आवश्यक कार्य पाक्षिक करता है। इनके लिए वह अपने इन्द्रिय भोग्य विषयोका त्याग करके भी कष्ट सह लेता है। पाक्षिक श्रावक प्रत्येक सेवा-कार्यको क्रोध व अभिमानका त्याग कर स्वार्थवासनासे रहित होकर निष्कपट सरल वृत्तिमे अपना धर्म समझकर करता है। यह उसका दान नामक दूसरा धम है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके आराधक जो पुरुष ससारकी निवृत्तिके मार्गमे लगे हुए हैं वे ही दानके योग्य सर्वोत्कृष्ट पात्र माने गये हैं। इसीसे साधुओको उत्तम पात्र कहा है। उससे बाद जो जितना अधिक उत्तम चारित्रके आराधक हैं वे उतने ही योग्य पात्र हैं। पात्रदान गृहस्थका मुख्य कर्तव्य है। पात्रोके सिवाय जो अन्य व्यक्ति हैं, पशु हैं, पक्षी हैं, कीडे-मकोडे हैं और एकेन्द्रिय जीव हैं, वे भी आवश्यकतानुसार सेवा योग्य है। पाक्षिक श्रावक अपनी शक्तिके अनुसार सबकी सेवा करता है। सेवा कार्यके लिए उक्त क्रम है। क्रमका त्याग कर की हुई सेवा लाभदायक नही होती। उससे दाताका अविवेक प्रगट होता है। किन्तु उसका विवेकी होना अत्यावश्यक है।

उक्त प्रकारका दान और सेवाके कार्य स्वार्थवासनासे रहित होकर परोपकारके निमित्त हो तभी प्रशसा योग्य हैं। अनेक भाई लोकमे कीर्ति-प्रशसाकी इच्छासे, अपना नाम बनाये रखनेकी गरजसे, देश-सेवको, समाज-सेवको या दातारोमे नाम गिनानेकी इच्छासे सेवा या दान करते हैं, किन्तु वह दान या सेवा उत्तम दर्जेकी न होकर हीन कोटिकी मानी गई है। वह एक प्रकारका व्यापार है। जिस तरह लोग कष्ट सहकर भी पैसा कमा लेते हैं उसी तरह वह कष्ट सहकर भी कीर्ति कमा लेना चाहता है। पैसा कमानेवाले की अपेक्षा यद्यपि उसका स्वार्थ कम है तथापि इस प्रकारका दान या सेवा वास्तविक दान या सेवा नही है।

अनेक सज्जन इसलिए भी कीर्ति कमानेके लिए उक्त कार्य करते हैं कि इससे दानियो या नेताओ की श्रेणीमे बैठकर लोगोसे अच्छी कमाई की जा सकती है। ऐसे लोग और भी ज्यादा भयकर हैं। इनका कार्य निन्दनीय है। यह कभी भी ग्राह्य नही माना जा सकता। इस वृत्तिका जितने जल्दी त्याग हो उतना ही अच्छा है। इस प्रकार यह पाक्षिक गृहस्थ अपने दान और पूजा इन दोनो धर्मोको निस्पृहवृत्तिसे पालता है।

वह स्वय सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्रस्वरूप रत्नत्रयका आराधक है। उसे पूर्णरूपसे पालन करनेका अभिलाषी है। वह अपनी इस धार्मिक वृत्तिको हृदयमे सदा जागृत रखना चाहता है। वह चाहता है कि मेरे हृदय पर रत्नत्रयका चिह्न सदा अकित रहे ताकि गार्हस्थिक जजालमे—विषय वासनाओके विषम विषमय ससारमे मैं अपने रत्नत्रयात्मक उस स्वधर्म को भूल न जाऊँ, अतएव वह अपने कण्ठमे यज्ञोपवीत धारण करता है।

यज्ञोपवीत रत्नत्रय का चिह्न है, इसीलिए वह तीन सूत्रका होता है। यह गृहस्थके षोडश सस्कारोमे प्रधान सस्कार माना गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णोके लिए ही यज्ञोपवीत धारण करनेका विधान है। शूद्र सस्कार रहित होते हैं इसलिए वे पाक्षिक श्रावकके व्रतोका परिपालन करनेके लिए एक तो यथायोग्य सेवा-वृत्तिको अगीकार करते हैं। दूसरे दान पूजा करनेवालोकी अनु-

मोदना करते हैं और यज्ञोपवीत धारण करनेवालो की प्रशसा करते हैं। इस प्रकारकी वृत्तिसे ही उनका पाक्षिकव्रत पूर्णताको प्राप्त होता है।

पाक्षिक श्रावक अपनी उक्त श्रेष्ठ वृत्तिके द्वारा सदा सुखी और शान्त प्रकृतिका होता है। अपने उच्चतम धार्मिक सस्कारोके कारण उसकी प्रकृति और बुद्धि सदा गभीर और प्रत्येक स्थितिमे तत्त्व-विमर्श करनेवाली होती है। वह ससारके दूसरे प्राणियोके लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। भार-रूप नही होता। थोडे शब्दोमे हम उसे धर्मभवनकी सम्पत्तिका पूर्ण रक्षक वीर सैनिक कह सकते हैं ॥ ९ ॥

प्रश्न—लोकोपकारविषये वद मेऽस्ति भाव कीदृग्गुरो गुणनिधे खलु पाक्षिकस्य।

हे गुणसमुद्र! पाक्षिकावस्थाया मे लोकोपकारिकार्यकारणे कीदृग्भाव खलु उपादेयोऽस्ति इत्युपदेश कर-णीयो भवद्भि ।

पाक्षिक श्रावककी प्रवृत्ति लोकोपकारके कार्यमे कैसी रहती हैं इस प्रश्नका उत्तर आचार्य महा-राज आगे लिखते हैं—

(वसन्ततिलका)

विघ्न करोति यदि मे शिवदेऽपि कार्ये
प्राणांस्त्यजामि खलु तत्प्रतिरोधनार्थम्।
स्वान्योपकारकरण हि ममेति धर्मो
भावोऽस्ति यस्य विशदः स च पाक्षिकोऽस्ति ॥१०॥

विघ्नं करोतीत्यादि—पाक्षिक खलु सदा मनस्येव विचारयति यत् को मम धर्म ? स्वोदरपूरणाय स्वभोगयोग्यसामग्रीसयोजने प्रयत्नन्तु सर्वे कुर्वन्त्येव न तत्र कस्यापि शिक्षकस्य शिक्षाया आवश्यकता वरीवर्ति। उक्तप्रकारेण स्वार्थसाधनमात्रमेव कर्त्तव्य यदि स्यात्तर्हि लोके कलहाग्निर्नितरा प्रज्वलित स्यात्, अतएव स्वोप-कारकरणचिकीर्षोरपि बुद्धिमत कर्त्तव्यमेतद् यत्परोपकारवृत्तिराश्रयणीया। परोपकारवृत्तिमाश्रित्य स्वोपकारकरण-मुपादेयम् इति स्वान्योपकारकरणमेव मम एकमात्र धर्मोऽस्ति। शिवदेऽपि कल्याणकारकेऽपि मम धर्मकार्ये यदि कश्चिदेकान्तत स्वार्थी विघ्न प्रत्यूह करोति विदधाति तर्हि तत्प्रतिरोधनार्थं विघ्नविनाशनायाहम् प्राणानपि त्यजामि त्यक्षामि। शुभकार्येषु प्रायेण विघ्नास्समायान्ति। श्रावक खलु विचारयति यन्मे सामर्थ्यं परिपूर्णधर्मपालने नास्ति, अतएव सधर्मणा श्रावकाणा मुनीनाञ्च धार्मिका प्रवृत्ति यथा निर्विघ्ना भवेत् तथैव प्रयतितव्यम्। धार्मिकाणा धर्मपरिरक्षणे तत्र समापतितोपसर्गादिनिराकरणे च स कदापि प्रमादी न भवति। वीरवृत्तिमनुसरन् स स्वप्राणपरि-त्यागपर्यन्तमपि सन्नद्धो भवति। धार्मिकैस्सह यस्यैव विशदो निर्मलो वात्सल्यभावो वर्तते स एव पाक्षिक श्रावक स्यात् ॥ १० ॥

पाक्षिक श्रावक स्वोपकार और परोपकार दोनो का परस्पर अविरुद्ध रीतिसे पालन करना ही अपना धर्म समझता है और उसके पालन करनेमे सदा कटिबद्ध रहता है। ऐसा करनेमे ही वह अपनी व दूसरो की भलाई सोचता है। उसके इस कल्याणकारक कार्यमे यदि कोई विघ्न करे तो उसे वह हर एक उपायसे रोकता है। साधारण उपायो द्वारा यदि वह उपसर्ग निवारणमे समर्थ नही होता तो

अपने प्राणोकी भी बाजी लगा देता है अर्थात् प्राण देकर भी विघ्नोको दूर कर देता है। इस तरह वात्सल्यपूर्ण पवित्र भाव जिसके हृदयमे होता है वही पाक्षिक श्रावक होता है।

भावार्थ—यह बात पहले भी लिखी गई है कि पाक्षिक श्रावक स्वय धर्मके पालन करनेमे मोहनीय कर्मके प्रवल उदयसे अपनेको असमर्थ पाता है तथापि उसे धर्मका परिपालन करनेवाले मुनि, अर्जिका, श्रावक व श्राविकाओसे अत्यन्त प्रेम होता है। वह उनकी प्रशसा करता है, स्तुति करता है और उनका पदानुसरण करनेकी इच्छा रखता है। यथासमय आवश्यकताके अनुसार उनकी सेवा करता है। उनके धर्म साधनमे हर तरहकी सहायता पहुँचाता है। वह अपनी इस महती परोपकारवृत्तिमे ही अपना कल्याण मानता है।

वास्तवमे जिस तरह स्वय धर्म का पालन करनेवाला धर्मात्मा है उसी तरह दूसरोंके धर्म पालन करनेके कार्योमे सहायता पहुँचानेवाला, उनके दुखो और कष्टोको दूर करनेवाला व उनके धर्म साधनके कार्यमे यदि कोई विघ्न हो कटक हो, तो उसे दूर करनेवाला भी धर्मात्मा है। धर्मात्माके लिए यदि कोई दुष्ट पुरुष बाधा उपस्थित करे तो पाक्षिक श्रावक पहले उसे समझाकर उस मार्गसे हटा देता है। इतने पर भी कोई दुष्ट दुष्टता न छोडे तो धन देकर, राजकीय आश्रय लेकर या दूसरे पुरुषोकी वाछनीय सहायता लेकर जैसे हो धार्मिक पुरुषोके उपसर्ग को दूर करता है। यदि इतने पर भी दुष्ट अपनी दुष्टता न छोडे तो वह वीर पुरुष कायर की तरह चुप नही बैठता। उसके मनमे धर्म व धर्मात्माके प्रति दिखाऊ प्रीति नही है। वह हर सभव उपायसे विघ्नोको दूर करता है। ऐसा करते हुए यदि अपने या विघ्नकर्त्ता के प्राण भी जोखममे पड जाँय तो भी वह अपने धर्मरक्षाके कार्यसे विमुख नही होता। वह या तो उपसर्गको दूर करके रहता है या उसी कार्यमे अपनेको मिटा देता है। धर्मके प्रति ऐसा उत्कट प्रेम धर्मात्मा के प्रति ऐसा ऊँचे दर्जेका वात्सल्यभाव पाक्षिक श्रावकके हृदयमे होता है। वह कायर नही होता, विघ्नो से घबराता नही, डटकर मुकाबला करता है और धर्मकी प्रभावना जगत्कल्याणके लिए युग-युगके लिए फैला जाता है। विना ऐसे श्रेष्ठ साहसी वीर धर्मात्माओके धर्म पालनका मार्ग अक्षुण्ण नही बनता। पाक्षिक श्रावक स्वय धर्म पालनमे पूर्ण समर्थ न होते हुए भी अपनी इस सर्वोच्च वृत्तिके कारण मोक्षके मार्गमे अपनेको विशेष उपयोगी सिद्ध कर देता है। वह परोपकार तथा अपने कल्याणकारक कार्योको अपना धर्म समझता है। इस प्रकारको विमल बुद्धिको धारण करनेवाला पाक्षिक श्रावक होता है ॥१०॥

प्रश्न—दुष्टादिशिष्टविषये वद मेऽस्ति भावः कीदृग्गुरो सुखनिधे खलु पाक्षिकस्य ?

हे स्वात्मानन्दपरिपूर्णगुरो ! सज्जनदुर्जनयोर्विषये पाक्षिकस्य कीदृग्भावो भवति ?

हे आत्मसुखके समुद्र गुरु ! सज्जन और दुर्जन इन दोनोके सम्बन्धमे मुझ पाक्षिकको अपने कैसे विचार रखने चाहिए ?

(वसन्ततिलका)

दुष्टस्य रोधकरण सुजनस्य रक्षा
सम्पूर्णविश्वनिलये सुखशान्तिहेतोः ।
कार्या मया सुजनताऽपि मिथः प्रमोदो
भावोऽस्ति यस्य विशदः स च पाक्षिकोऽस्ति ॥११॥

दुष्टस्येत्यादि—अखिल विश्वमेव विलय तत्र, सर्वत्र इति यावत्। सुखशान्तिहेतो दुष्टस्य विश्वसुख शान्तिविदारकस्य रोधकरण निवारण सुजनस्य सुखशान्तिवृद्धिकारकस्य सज्जनस्य रक्षा रक्षण—तदुपकारकरण तत्कीर्तिकीर्तन तत्सम्माननञ्चापि करणीयमेव। यत शिष्टानुग्रहदुष्टनिग्रहाभ्या विना प्राणिना धार्मिका प्रवृत्तिर्निराकुला न भवति। भोगभूमिप्रवृत्तेरवसाने कर्मभूमिप्रवृत्तिप्रारम्भे च शिष्टानुग्रहदुष्टनिग्रहाभ्यामेव शास्यशासकस्वरूपा शासनपद्धति प्रचुरपुण्यै कुलकरै प्रकाशिताऽऽसीत्। सा चाधुनाऽपि प्रवाहिता समायाति। अखिलविधानग्रन्थानामेवमेवाभिप्रायो वर्तते यत् सम्पूर्णप्रजासु शान्तिर्भवेत्, न केऽपि कानपि पीडयन्तु, न्यायमार्गमुल्लघ्य न कोऽपि कस्यापि धनादिक गृह्णातु। विश्वशान्तिवर्द्धकस्य च सम्मानादिकमपि पदवीप्रदानादिविधिना राज्याधिकारिभि क्रियते। पाक्षिको यदि शक्तिसम्पन्नो भूपतिर्वर्तते तदा स्वाधिकारादप्रमत्तो भूत्वा न्यायमार्गानुकूल प्रजारक्षण दुष्टरोधन च करोतु। स्वस्यापि सौजन्यपूर्णो व्यवहारो भवेत्। यदि स सामान्यगृहस्थोऽस्ति तदापि स्व-स्वविभवानुकूल्येन स्वाधिकारभूमौ शिष्टानुग्रह दुष्टनिग्रहञ्च करोतु। सर्वेषामपि पाक्षिकाणामेव प्रवृत्तौ सत्या स्वयमेव जगति शान्ति कलहाभावो भवेत् प्रजावर्गश्च सुखी स्यात्। सुजनता पारस्परिका प्रीतिश्चापि पाक्षिकै कर्त्तव्या। परस्परदर्शनमात्रेणैव सज्जनानाम्परा प्रीतिरुत्पाद्या। गुणिनमवलोक्य प्रमोदो हर्पातिरेक प्रकाश्य। एवमुक्तप्रकारेण यस्य मनसि निर्मलो भावो भवति स एव धर्मपक्षस्याभिनेता पाक्षिक स्यादिति ज्ञातव्यम्॥ ११॥

पाक्षिक श्रावक सम्पूर्ण विश्वरूपी अपने गृहमे सुख और शान्तिको कायम रखनेनेके लिए दुर्जन पुरुषके दुष्ट कार्योका रोकना तथा सज्जन पुरुषोकी रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझता है। वह स्वय सबसे सज्जनताका व्यवहार करता है और परस्परके सम्मिलनसे हर्षित होता है। ऐसा निर्मल भाव पाक्षिक श्रावकका होता है।

भावार्थ—जबतक इस भूमण्डलपर भोगभूमिकी प्रवृत्ति थी तबतक सभी मानव सन्तोषी, सुखी, वैर-विरोधरहित और तीव्र लालसाओकी वासनासे दूर थे। उस समय कोई किसीके सुख या दुखका साधक या बाधक न था। वे जीव मन्दकषायी होते थे और कालके नियमानुसार प्राप्त सर्वसाधारण समान विषयोको भोगते हुए सुखी रहते थे। वहाँ स्वाभाविक साम्यभाव था। न कोई दीन था, न दरिद्री था, न कोई सम्पन्न था और न ऐश्वर्यशाली ही। अभिप्रायपूर्वक व्रताचरण और पापप्रवृत्तिका उस समय सर्वथा अभाव था। अल्पाहार, अल्प इच्छाएँ, नियमित भोग, नियमित उपभोग, नियमित्त विहार, सन्तानोत्पत्ति व जन्म-मृत्युके समान नियम तथा कल्पवृक्ष द्वारा ही सम्पूर्ण इच्छाओकी पूर्त्ति ये सब भोगभूमिकी विशेषताएँ थी।

कर्मभूमिका प्रारम्भ होते ही इनमे अन्तर आया। सन्तानोत्पत्तिके नियम बदल गये। भोगभूमिमे बालक-बालिका युगल उत्पन्न होते थे। अब अलग-अलग समयमे एक-एक ही उत्पन्न होने लगे। उस समय वे बालक सात सप्ताहमे स्वय वृद्धि पाकर युवावस्था सम्पन्न बन जाते थे, पर अब उनके परिपालन व परिवर्द्धनोमे वर्षोका समय लगने लगा। अब युवावस्थाके प्राप्त होनेमे सोलह वर्ष लगने लगे। बालकोका परिपालन व परिवर्द्धन स्वय न होकर दूसरोकी सहायतासे (यह सब कार्य) होने लगा। उस समय सन्तानोत्पत्ति माता-पिताके आयुके अन्तिम जीवनमे होती थी और समान कालमे सन्तान युगलके जन्म लेनेके पश्चात् दोनोकी आयु समाप्त हो जाती थी, पर कर्मभूमिमे माता-पिताके मध्य जीवनमे बल्कि युवावस्थाके प्रारम्भिक समयमे ही सन्तान उत्पन्न होने लगी। यही कारण है कि जिससे कर्मभूमिज बालकोके माता-पिता पर अपनी सन्तानके पालन-पोषणका तथा उनके व अपने

भविष्यके जीवनके निर्वाहके लिए योग्य सामग्रीके सचय करनेका भार आ पडा।

ज्यो-ज्यो भोगभूमिका अन्त निकट आया मनुष्यकी लालसाएँ तथा भोगोपभोगकी सामग्रीके सचय करनेकी प्रवृत्ति बढती गई, कल्पवृक्षो पर अपना-अपना कब्जा किया जाने लगा, छीना-झपटी होने लगी। कलहका बीज यहीसे शुरू हुआ। अपनी-अपनी सन्तानका मोह तथा अपना शेष जीवन यापन करनेमे आनेवाली आपत्तियोके निराकरण करनेकी चिन्ता लोगोको यहीसे प्रारम्भ हुई। इतना ही नही, पापमूलक परिग्रहके सचय करनेकी प्रवृत्तिका प्रारम्भ भी यहीसे हुआ।

प्रकृतिने परमोदार कल्पवृक्षो को ऐसे पापस्थानसे धीरे-धीरे उठा लिया। जनता चिन्तित हुई। उस समयके कुलधर्मप्रवर्त्तक कुलकरोने उन्हे खेती द्वारा धान्य उत्पन्न करने की सम्मति दी। लोगोने उसे मान्य किया। खेती होने लगी। उत्पन्न धान्यको सग्रह करने व उसे सुरक्षित रखनेका प्रश्न खडा हो गया। इसे हल करनेके लिए घर बनाने की आवश्यकता हुई। भोगभूमिमे शीत, उष्ण और वर्षा का कोई कष्ट न था। वह सब अब क्रमश प्रारम्भ होने लगा, इसलिए भी घर बनानेकी तथा वस्त्र बनानेकी जरूरत लोगोको मालूम हुई। इस आवश्यकताने ही कृषि और शिल्प उद्योगको जन्म दिया।

इन दोनो व्यवसायो की वृद्धि के लिए यह भी आवश्यक मालूम होने लगा कि ग्रामान्तरोंसे लाने व लेजाने की भी प्रवृत्ति चालू होनी चाहिए। जो लोग स्वय यह सब कार्य न कर सकें वे दूसरो को मदद दें। इस तरह वाणिज्य तथा मसि (लेखन कर्म-मुनीमी आदि) कर्म का प्रारम्भ हुआ। जो लोग उक्त कार्यों द्वारा कोई उद्योग नही कर सकते थे वे दो भागोमे विभक्त हुए। उनमे कोई तो बलवान् थे जो परिश्रम करनेके बजाय दूसरोका झपट लेना ही उत्तम समझते थे, कोई ऐसा करनेवालो को न्यायी न समझकर उनसे मोर्चा लेनेको तैय्यार रहते थे। दोनो एक ही श्रेणीमे शामिल हुए और इनके जिम्मे प्रजाका पालन रक्षण तथा पारस्परिक कलहका निवारण कर न्याय नीतिकी प्रवृत्तिका कार्य सौंपा गया। और इस तरह असिकर्म (शस्त्रग्रहणद्वारा लोक-रक्षण) का जन्म हुआ।

इन तरीकोमे से किसी भी तरीके पर अपनी जीविका न कर सकनेवाले शेष लोगोने उक्त सभी वर्गोंकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी सेवाओके कार्य अगीकार कर लिए और ये सेवाकर्म द्वारा ही अपना जीवन निर्वाह करने लगे। इस तरह क्रमश कृषि, शिल्प, वाणिज्य, मसि, असि और सेवा ऐसे षट् कर्मोंकी सृष्टि हुई।

इन सभी वर्गोंके लोगोकी प्रवृत्ति ठीक उचित तरीके पर रहे और कोई किसी पर अनुचित जोर न करे इसका प्रबन्ध जिन असिकर्म करनेवाले बलवान् और वीर पुरुषोके ऊपर अवलम्बित था, उनमे भिन्न-भिन्न मत न होकर एकमतसे कार्य हो इसके लिए उनमे किसी योग्य बुद्धिमान उदार निस्वार्थी व्यक्तिको प्रजा द्वारा मुखिया चुना गया और उसे 'राजा' की सज्ञा दी गई। कर्मभूमिके प्रारम्भका और भोगभूमिके अन्तका समय ही ऐसा था जब यह सब हुआ। समय समय पर अत्यन्त बुद्धिमान् अवधिज्ञानी कुलकर होते रहे, जिन्होने सम्पूर्ण प्रवृत्तियोका मार्ग जनताको बतलाया और स्वयके परिश्रमसे उक्त कार्यको सुसम्पन्न किया।

इस युगके प्रारम्भमे अन्तिम कुलकर भगवान् आदिनाथ स्वामीके पिता श्री नाभिराय हुए। उसके बाद भगवान् ऋषभदेवने उक्त सम्पूर्ण प्रजाके बाह्य और आभ्यन्तर सस्कारोके अनुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णोंमे प्रजाको विभक्त किया। तथा भगवान्के पुत्र श्री भरत चक्रवर्तीने,

जिनके नामपर इस देशका भारत नाम पड़ा, ब्राह्मण वर्णकी स्थापना की। इस तरह चार वर्णोकी स्थापना हुई।

इस व्यवस्थाके बन जानेपर भी अनेक ऐसे दुष्ट पुरुष होने लगे जो व्यवस्था को बिगाड कर भी बिना परिश्रम किये जोर जुल्मसे दूसरोकी संपत्ति हडपने लगे। इसके लिए वे लोगोको नाना कष्ट देने लगे। साथ ही कुछ ऐसे भी वर्गके लोग हुए जो दूसरोके कार्योमे मददकर परोपकार करने लगे। अतएव इन दोनो प्रकारके दुर्जनो और सज्जनो का क्रमश निग्रह करने और उपकार करनेका कार्य आवश्यक हो गया। मुख्यतया सज्जन का सम्मान और दुष्टो का मानमर्दन करना राजधर्म था। तथापि यथावसर प्रजाके प्रत्येक गृहस्थ को भी यह आवश्यक हो गया कि वह दुष्टका मर्दन तथा शिष्टकी रक्षा व सम्मान को अपना कर्त्तव्य-धर्म समझे, क्योकि बिना ऐसा किये धर्मका परिपालन नही किया जा सकता था।

गृहस्थोमे भी अनेक भेद होते हैं। कुछ तो ऐसे हैं जो लौकिक कार्योको ससार बन्धनका कारण मानकर कम करते जाते है और आध्यात्मिक प्रवृत्तिको बढाते जाते हैं। वे नैष्ठिक श्रावक कहलाते है। उनके उस अलौकिक मार्गमे बढनेका क्रम ग्यारह प्रतिमाके रूपमे विभाजित है। इनमे प्रत्येकके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने चारित्रको उज्ज्वल रखते हुए भी अपने समकक्ष या अपनेसे उन्नत चारित्रवालेकी धर्मरक्षा अवश्य करे।

जबतक कोई धर्मप्रेमी गृहस्थ अपनेको नैष्ठिक श्रावक नही बना सकता तबतक वह पाक्षिक कहलाता है। इस प्रकरणमे इन्ही पाक्षिक श्रावकोके कर्त्तव्योका प्रतिपादन किया गया है। इस पाक्षिक श्रावकका यही धर्म है कि वह धर्मसेवी सज्जनोकी रक्षा करे। उनके धर्मसेवन कार्यमे यथोचित सहायता दे और उनमे बाधा देनेवाले दुष्ट मनुष्योको दण्ड दे।

विश्वमे यदि शान्तिकी स्थापना करनी है और सम्पूर्ण प्रजाको सुखी बनाना है तो प्रत्येक पाक्षिकको स्वय सुजनताका व्यवहार करना होगा और सुजनोके साथ भाईचारेका व्यवहार करते हुए दुष्टोका निराकरण करना होगा। ऐसा करना पाक्षिक अपना धर्म मानता है। वह समझता है कि यदि मै स्वय उच्चतम धर्मका पालन नही कर सकता तो मेरा यह तो अवश्य कर्त्तव्य है कि दूसरोको उसका परिपालन करने दूँ, उनकी मदद करूँ तथा उनके कार्यमे आनेवाले विघ्नोको दूर करूँ।

वह धर्मात्मा पुरुषोको देखकर प्रसन्न होता है। उसके अग अग पुलकित हो उठते हैं। वह सेवा करनेको लालायित हो उठता है। थोडे शब्दोमे यह कहा जा सकता है कि धर्म शासनके चलानेके लिए वह स्वय सेवक वीर सैनिककी भाँति अपनेको सदा सन्नद्ध रखता है। धर्म व धर्मात्माकी रक्षाके प्रति ऐसा जिसका निर्मल भाव है वही पाक्षिक गृहस्थ है ॥ ११ ॥

प्रश्न—पाक्षिकस्य विशेषा तु प्रवृत्तिः कीदृशी वद।

अथ पाक्षिकश्रावकस्य कर्त्तव्यविशेषा निर्दिश्यन्ते।

आगे पाक्षिक श्रावकके विशेष कर्त्तव्योका उपदेश आचार्य महाराज करते हैं—

(उपजाति)

कार्या स्वबुद्धया भुवि मित्रताऽपि
अमुच्य मायां सकलैः समं हि।

यतो भवेत्ते विमलैव कीर्त्तिः
स्वराज्यलक्ष्मीश्च सदा स्वदासी ॥१२॥

कार्येत्यादि—यतो भुवि विमला कीर्ति प्रस्फुरति । न केवल कीर्तिरेव भवति अपि तु स्वराज्यलक्ष्मी' । स्व च तद् राज्य स्वराज्य तदेव लक्ष्मी' इति स्वराज्यलक्ष्मी सदा स्वदासी इव त सेवते । तस्मात् कारणात् स्वबुद्धया स्वबुद्धिपूर्वक माया—कपटवृत्ति प्रमुच्य परित्यज्य सकलै सम "सत्त्वेपु मैत्री विदधातु" इति अमितगत्याचार्योपदेशपरम्परामनुसमरता जाति कुल विभव सपत्ति-ज्ञान-वल गति-दारिद्रय जरा-रोग-सुभगत्व दुर्भगत्वादिभेदमनालभ्य दीनैर्हीनैर्दारिद्रयोपेतैर्जरारुजापीडितै र्हीनकुलजै कुलीनै श्रीमद्भि सपत्तिशालिभिर्विद्रद्भिर्मूर्खैर्निर्वलैर्वलवद्भिर्दुर्भगै' सुभगैर्वा पुरुपस्त्रीनपु सकै पशु-पक्षि-कीटपतङ्गादिभिश्च सर्वै प्राणिभि सह समानरीत्या मित्रता नामसुख-दु खसमभागित्वरूप वन्धुत्वम् । अवश्य कार्या करणीया ॥ १२ ॥

इस लोक और परलोकमे सुखके अभिलाषी श्रावकको उचित है कि वह प्राणिमात्रके साथ सुख-दुखमे समभागी वने । धर्मज्ञ सज्जनकी यही पहिचान है कि उसे किसी प्राणीको दुखी देखकर करुणापूर्ण खेद उत्पन्न होता है और शक्त्यनुसार उसके कष्टको दूर कर देनेकी भावना व प्रवृत्ति पाई जाती है तथा दूसरे प्राणियोको सुखी देखकर उसे प्रमोद होता है । इस भावका नाम ही मैत्रीभाव या वन्धुत्व-भाव है । श्रावक निष्कपट भावसे प्राणिमात्रमे ऐसा भाव रखे तो ससारमे उसकी निर्मलकीर्ति फैले और सर्वतन्त्र स्वतन्त्र शासनरूपी सपत्ति सदा उसकी दासीके समान सेवा करे ।

भावार्थ—प्रत्येक प्राणीकी प्रवृत्ति ऐसी है कि वह पराधीनता और अकीर्तिको किसी भी हालतमे पसन्द नही करता । वह घरमे, मुहल्लेमे, ग्राममे, देशमे, राष्ट्रमे, जातिमे और सभामे सर्वत्र अपनी प्रशसा और स्वतन्त्र-वृत्तिका अभिलाषी है ।

पराधीनता सचमुचमे अत्यन्त कष्टदायक है । पशु, पक्षी और कीडे-मकोडे भी क्षणमात्रको प्राप्त होनेवाली परतन्त्रताको सहन करना पसन्द नही करते । यदि किसी पक्षीको आप पिंजडेमे वन्द करदें तो वह छटपटायगा और भागनेका अवसर पाते ही भाग जायगा । हाँ जिसे पराधीनता सहते-सहते युग बीत गया हो और जो स्वातन्त्र्यसुखको विस्मरण कर चुका हो वह भले ही पिंजडा छोडकर न जावे परन्तु फिर भी यह प्रवृत्ति १०-५ दिन ही रहेगी । जहाँ उसने कुछ दिन पिंजडेके वाहरकी हवा खाई कि उसे अपनी प्रिय स्वतत्रताकी याद होने लगती है और अपने स्वराज्यके भोगके लिए वह चल देता है । पींजडा चाहे सुवर्ण का ही क्यो न बना हो, तथा उसे रोज दूध, चावल और मिष्टान्न ही क्यो न खिलाया जाता हो किन्तु पक्षी पराधीनताके दुःखके आगे इन सुखोको हेय समझता हैं । उसे पराधीन रखनेवाला व्यक्ति चाहे कितने ही प्रेमसे रखे, दुलार करे, सुखी बनानेका प्रयत्न करे, पर ये सब बातें स्वातत्र्य सुखके चरणोकी धूलिको भी स्पर्श नही करती ।

पक्षीको अपने वनस्थली, रम्यवृक्षावली, सरोवरका किनारा, निर्मल आकाशमे पक्तिवद्ध हो स्वच्छन्दतासे उडना, एक-एक दाना ढूँढकर चुगना व अपने बच्चोको चुगाना यह सब जितना भाता है उतना पिंजडेमे बैठकर मिष्टान्न खाना नही भाता । उस स्वाधीन सुखके सामने वह इस पराधीन सुखको महान् दु खका प्रतीक समझता है । पक्षियोकी तरह पशु भी बन्धनमे रहना पसन्द नही करते । वे बन्धनको तोडकर भाग जाना पसन्द करते हैं । गाय, भैंस, घोडा, बैल, बकरी, ऊँट, हाथी, और हिरण आदि कोई भी पशु बधनमे बद्ध नही रहना चाहते । पालतू पशु यद्यपि जीवनके प्रथम क्षणसे ही बंधनमे

रहे है, उन्होने पराधीन रहकर ही अपनी जिन्दगी गुजारी है, उनका अपना कोई निजी स्थान नही जहाँ वे सानद स्वतन्त्र रह सकें तो भी वे बधनसे छूट जाना चाहते है।

कीडे मकोडे भी अपने स्वतत्र मार्गसे चलना पसद करते हैं। चाहे वे किसी खतरे के स्थानमे ही क्यो न जाते हो उन्हे यदि उठाया या छेडा तो वे छटपटाकर तुम्हारे सपर्क से दूर हो जानेका प्रयत्न करेंगे।

जब इन सब प्राणियोको पराधीनता पसद नही तो मानव प्राणी जो सब प्राणियोमे श्रेष्ठ समझा जाता है, वह क्यो पराधीनता पसद करेगा ? वह तो बात-बातमे स्वराज्यका प्रेमी है। जबतक वह घरमे है, घरमे स्वराज्य चाहता है। वह यही तो चाहता है कि घरमे मेरा शासन रहे, मुझे किसीके अधीन होकर न रहना पडे। सब या तो मेरे शासनमे चलें या फिर सबके साथ-साथ मुझे भी स्वतत्रता पूर्वक रहनेका पूर्ण अधिकार हो।

जिस समय उसकी दृष्टि घरसे बाहर मुहल्ले पर जाती है तो वहाँ भी वह किसी दूसरे मुहल्ले वालेका शासन पसद नही करता। यदि कोई मुहल्लावाला उस पर अपना कुछ शासन चलावे तो उसके साथ तुरत झगडा हो जानेका प्रसग आ जाता है। छोटे गावोमे या शहरोके मुहल्लोमे झगडे हो जाने के कारण एक दूसरेको अपने-अपने शासनमे रखने तथा स्वय दूसरेके शासनको पसन्द न करनेकी मनोवृत्ति ही काम करती है। घर-घरमे पिता-पुत्र, भाई-भाई, सास-बहू, जिठानी-देवरानी, ननद-भौजाई आदि मे भी यदि कोई झगडा होता है तो एक दूसरेके शासनमे न रहने तथा घरकी सपत्ति व भोगोप-भोग की सामग्री को स्वतत्रता के साथ उपयोग कर लेने की इच्छा से ही होता है और वह तबतक चलता है जबतक एक दूसरेके बधनसे उन्मुक्त होकर स्वतत्र भोगोपभोगके निमित्त उस सपत्तिका बट-वारा नही कर लेते।

कलह के जो कारण घर घर मे हैं वे ही ग्राम और मुहल्लेके झगडोके कारण हैं। चूँकि मनुष्य का एक दूसरे के साथ चलनेवाला सबध घर और ग्राम या अपने शहर तक ही सीमित नही है बल्कि अपने प्रान्त सम्पूर्ण देश तथा विदेशोसे भी उसका सबन्ध है और यह ऐसा सम्बन्ध है जिसका अलग होना गार्हस्थिक अवस्था मे असभव है। प्रत्येक मानव जैसे जैसे वह अपने प्रान्तको, देशको व राष्ट्रको अपनाता जाता है वैसे वैसे उसका उसमे निवासी जनोके प्रति अपनत्व बढता जाता है। ऐसी अवस्थामे मनुष्य का स्वातन्त्र्य व्यक्ति-स्वातन्त्र्य नही रह जाता बल्कि वह एक समूचे देश व राष्ट्रका स्वातन्त्र्य हो जाता है। वह चाहता है कि हमारे देशमे उसमे निवास करनेवाले व्यक्तियोका ही शासन हो। वे अपने सुख-दु खका विचार स्वतन्त्रता पूर्वक कर सके। उनके इस कार्यमे कोई बाधक न हो। इसका नाम है प्रत्येक देश या राष्ट्रका स्वराज्य।

जिस तरह प्रत्येक घरमे निवास करनेवालोका पारस्परिक सहानुभूतिपूर्ण सर्व-दुःख-सुख समभाव है। और जैसे एक दूसरेके शासनमे न रहनेकी आकाक्षा रहती है वैसे ही दूसरेको अपने शासन मे रखने की भी अभिलाषा न हो तो घरमे पारस्परिक स्नेह बधन दूर नही होता बल्कि सुदृढ बनता है। उसी तरह प्रत्येक ग्राम, देश या राष्ट्रवासियोका भी जब इसी तरह प्रत्येक ग्राम व देशवासीके प्रति परस्परमे एक दूसरेपर शासन करनेकी मनोवृत्ति न हो परस्पर मैत्री-भाव अर्थात् सुख-दु ख समभागित्व हो तो उन देशवासियोमे भी पारस्परिक स्नेह बधन दृढ होता है और सगठन सुदृढ होता है।

यही स्वार्थ वासना रहित सर्व सुख-दुख समभागीपना देशके सगठनको मजबूत करता है और वही देश स्वराज्य प्राप्त कर सकता है इसके विपरीत नही कर सकता। जो मनुष्य अपने स्नेहकी सीमा अपने देश या राष्ट्र तक ही सीमित नही रखता वल्कि समूचे ससारके प्राणियोको अपना वधु मानता है वह गार्हस्थिक स्थितिसे दूर हो जाता है। गार्हस्थिक स्थिति अपने व्यक्तिगत भोगोपभोगके स्वार्थ साधन करनेका एक गुट है जिसकी सीमा उस घरके निवासियो तक है। जो अपने ग्रामकी भलाई उसकी स्वन्त्रताका विचार रखता है उसे अपने घरमे विशेष स्वार्थके साधक व्यक्तियोका मोह कम कर देना पडता है और अपने स्नेहके क्षेत्रको वढाना पडता है। जो ग्रामके वाहर अपने देश या राष्ट्रको अपने स्नेहका क्षेत्र बनाता है उसे ग्राम या प्रान्तका मोह छोड देना पडता है और उसका उतना ही ख्याल रखता है जितना अपने देशके दूसरे ग्रामो का।

अखिल विश्वको अपना स्नेह वखेरनेकी इच्छा रखनेवाले तथा सारे ससारके प्राणिमात्रके सुख दुखमे समभागी होनेवाले महापुरुषको अपने देश व राष्ट्रके स्वार्थको भी दुनियाके स्वार्थमे मिला देना होगा। अपने इस महान् यज्ञको पूरा करनेके लिए उसे गार्हस्थिक जीवनका त्याग करना होगा, व्यक्तिगत स्वार्थको किनारे रखना होगा, कठोर साधना करनी होगी तव वह अखिल विश्वको अपना आत्म-राज्य पानेका शुभसदेश सुना सकेगा।

यह साधु पुरुष ससारके विषय-भोगगत स्वार्थको झूठा स्वार्थ मानता है, उसे कलहका वीज मानता है, शारीरिक आवश्यकताओकी अभिलाषाको आत्म-भिन्न निर्जीव पदार्थकी सेवा मानकर उससे आत्म-धर्मका कुछ भी स्वार्थ नही मानता। पौद्गलिक तत्त्वमय शरीर और पुद्गल कम दोनो आत्म-तत्त्वको वधनमे डालनेवाली—पराधीन करनेवाली वस्तु है। साधुके सम्पूर्ण प्रयत्न दोनोंके मूल विनाशकी ओर सदा रहते हैं। यह परिपूर्ण अहिंसादि पाँच महाव्रतोका पालन करता हुआ जव अपने प्रयत्नमे सफल होता है तव आत्मराज्य-स्वराज्यको प्राप्त कर लेता है।

ऊपर के व्याख्यान से यह सिद्ध है कि चाहे सासारिक दृष्टिसे हो चाहे पारमार्थिक दृष्टिसे, जो मनुष्य स्वराज्य के स्वातन्त्र्य सुख का अनुभव करना चाहता है उसे व्यक्तिगत स्वार्थोका मोह त्यागकर विश्वके प्राणियोसे मित्रता करनी चाहिए। ऐसा व्यक्ति ससारमे अक्षय कीर्तिका सम्पादन करता है। स्वार्थी मनुष्यो की ही ससारमे अकीर्ति होती है। इन्ही सिद्धान्तोके आधारपर पाक्षिक श्रावक जाति-सम्प्रदाय-ग्राम-प्रान्त आदि भेद भावको भुलाकर समस्त मानवोंके साथ सम-दुख-सुख-भागी बनकर बधुत्व भाव स्थापित करता है॥ १२॥

(उपजाति)

सुखी ह्यधर्मेण भवामि नित्य
ह्येवश्च भावो न कदापि कार्यः।
भवामि धर्मेण सुखी सदेति
कार्यात्मशान्तेर्वरभावनैव ॥ १३ ॥

सुखीत्यादिः—अधर्मेण हिंसयाऽसत्यसम्भाषणेन परधनापहरणेन परवनितासभोगेन कूटकपटव्यवहारेणा-त्मस्वार्थसाधनेन स्वभोगोपभोगसाधनाय परप्राणपीडनेन अखिललोकानामपि द्रारिद्रयाभिभूतक्षुत्क्षामपीडित निर्वस्त्रकृत्वादिभीमदु खोत्पादकेन धान्यवस्त्रादिपरिग्रहसञ्चयरूपमहापापेन नित्य सर्वदा सुखी भवामि भविष्यामि, एव भाव कदापि न कार्य। तथा सदा धर्मेणैव उत्तमक्षमादु खितसेवापरोपकारवृत्तिसम्यग्ज्ञानार्जनदेवती-

वन्दना–सम्यग्गुरुसेवादुखितदानादिकर्मणा अह सुखी भवामि भविष्यामि इति आत्मशान्ते स्वात्मनिर्वृत्तिहेतो वरभावना श्रेष्ठभावना सदा कार्या ॥ १३ ॥

हिंसादिरूप पापोके द्वारा परधनहरण कूटकपट द्वारा स्वार्थ साधन परस्त्रीभोग अपने भोगोपभोगके निमित्त पर प्राणियोको पीडा देना आदि दुष्कर्मोके द्वारा अधिकाश मानवोको दरिद्र-क्षुधापीडित और नग्न बना देनेवाले धन, धान्य, वस्त्रादि परिग्रहको अतिसग्रह करने रूप महापाप रूप व्यापारके द्वारा मै सुखी हो जाऊगा ऐसा भाव कभी नही करना चाहिए। पाक्षिक गृहस्थको सदा यह भावना सर्वोत्तम प्रकारसे करनी चाहिए कि उत्तमक्षमा, दुखियो की सेवा, परोपकार, सम्यग्ज्ञानका लाभ करना व कराना, देववन्दना, तीर्थवन्दना और सम्यग्गुरुकी सेवा व दुखित दानादि सत्कर्म स्वरूप धर्मके द्वारा ही मै सदा सुखी हो सकूगा ऐसी उत्कृष्ट भावना सतोष सुख और शान्ति प्राप्त करनेके लिए सदा हृदयमे रखनी चाहिये।

भावार्थ—धर्म सुखका साधन है और अधर्म दु खका ऐसा प्राय सभी कहते हैं किन्तु धर्म क्या है और अधर्म क्या है इस विषयमे बडा विवाद है। और इसी विवादके कारण सिद्धान्तवादी भी भटक जाते है। उन्हे भी वास्तविक मार्ग नही मिल पाता। इसलिए श्री पूज्य आचार्य महाराजने पूर्व श्लोकोमे यह बता दिया है कि "अहिंसैव परो धर्मः"।

सत्य, अचौर्य, स्ववनितासंतोष, अल्पपरिग्रहत्व, क्षमा, विनय, सतोष, सरलवृत्ति, त्याग और दान आदि सम्पूर्ण धर्म एक अहिंसामूलक ही हैं। विना अहिंसा पालनके इनमेसे एकका भी पालन नही हो सकता और अहिंसाव्रती इन सभी व्रतोको अहिंसा की बढती हुई भावनासे स्वय प्राप्त कर लेता है। इसके विरुद्ध हिंसाचारी, असत्यभाषण, परधनहरण, परवनिताहरण, भयकर परिग्रह सग्रह, क्रोध, उद्धतता, असतोष, कूटवृत्ति और अनुदारता आदि दुर्गणोका स्वय शिकार हो जाता है। अथवा ऐसा कहिए कि विना हिंसाके इनमेसे कोई पाप नही हो सकते इसलिए "अहिंसा ही श्रेष्ठ धर्म है" ऐसा उपदेश किया गया है। दूसरे शब्दोमे यह भी ध्वनि निकलती है कि "हिंसा ही सर्व पापका मूल है, और इसलिए यही अधर्म है"

उक्त मूल सिद्धान्त पर ही पाक्षिक श्रावकको उपदेश दिया गया है कि स्वपरोपकारकरण, सर्वजीवसुखदुखसमभाव, धर्मज्ञ पुरुषसे प्रीति, धर्मात्मा पुरुषोकी सेवा, उनके धर्म साधनमे सहायता तथा धर्मके अगभूत तीर्थ, देवस्थान और सम्यग्गुरु आदिका विनय एव इनके रक्षण करनेमे अपना सर्वस्व त्याग आदि पाक्षिकके धर्म हैं।

पाक्षिक श्रावकको उक्त धर्मका स्वरूप समझकर उसपर सदा दृढ रहना चाहिए। सदा यही विचार करना चाहिए कि अपने धर्मको पालन करनेसे ही मैं सुखी रहूँगा। इसके विरुद्ध अधर्म सेवनसे कभी सुखी न रह सकूँगा। ऐसी भावनासे उसे शान्ति सुख और सन्तोष प्राप्त होगा ॥१३॥

(उपजाति)

भार्या न वोध्या कटुभाषणेन
स्वसद्मवार्तापि वहिर्न भाष्या।
निजात्मनिन्दैव सदेति कार्या
परप्रशंसाखिलसौख्यदात्री ॥ १४ ॥

भार्येत्यादिः—पाक्षिकश्रावकस्य गार्हस्थिकजीवननिर्वाहो यथा सुखपूर्वक स्यात् तथोपदिशत्याचार्य — स्वभार्या स्वकलत्र कटुभाषणेन न वोध्या न शिक्षणीया। कटुभाषण तु परस्पर वैरवर्द्धक भवति। तथा सति

तच्छिक्षाया अपि न कोऽपि प्रभावो भवति, अत एव प्रियं हितं च वक्तव्यम्। स्वसद्मनि या काऽपि गोपनीया वार्ता दम्पत्योर्भ्रात्रो:, पितृपुत्रयोर्वा मध्ये भवेत् सा बहिर्न भाष्या गृहातिरिक्तानां पुरुषाणां पुरस्तान्न प्रकाशनीया। भोजन-पान-यान-निधुवन-धन-सम्पत्त्यादिविषयानालम्ब्य व्यापार-व्यवहारादिजीवनोपायविषयमालम्ब्य गृहस्थेषु परस्पर परिस्थित्यनुसारेण यथावसर कटुवार्तालापो भवत्येव तस्य बहिर्भणने स्वगृहच्छिद्रप्रकाशनं भवति, स्ववैरिणो विरोधिनश्च तेन स्वलाभाय परहान्यै च प्रयतन्ते। एवं प्रसङ्गप्रस्तावक-गृहसदस्य तदतिरिक्तगृहसदस्यानामपराधी भवति परस्पर कलहश्च जायते लोकनिन्दा स्वार्थभ्रंशश्च भवति, अतएव न बहिर्भाष्या स्वगृहवार्ता। स्वगुणख्यापयिभि: पाक्षिकै: सदा निजात्मनिन्दैव कार्या अखिलसौख्यदात्री परप्रशंसा च, यत: परगुणान्वेषणं आत्मदोषान्वेषणं च लाभप्रदं भवति। एवमुक्तगुणविशिष्ट शिष्टपुरुष एव इह लोके प्रशस्त उच्चगोत्रकर्मबन्धकश्च भवति। अत एव उभयलोकसुखप्रदा एषा नीतिरङ्गीकर्तव्या ॥ १४ ॥

पाक्षिक श्रावकका यह भी कर्त्तव्य है कि वह अपनी पत्नीको भी उत्तम शिक्षा देवे और उससे सदा प्रिय वचनोसे वार्तालाप करे। यदि कोई त्रुटि हो तो मधुर शब्दोमे ही उसे समझावे कठोर शब्दोका उपयोग न करे। अपने गृह सम्बन्धी सुख-दुख आदि की चर्चा दूसरो से न करे, सदा अपने अवगुणो की निन्दा और दूसरोंके गुणोकी प्रशंसा करे ऐसा व्यवहार उसे सुखदाई होगा।

भावार्थ—गृहस्थी एक रथ के समान है। कोई भी रथ तव तक ठीक नही चलता जव तक कि उसके आधारभूत दोनो पहिए समान न हो। इसी तरह गृहस्थ जीवनके पति और पत्नी ये दोनो ही प्रधान अग है। ये दोनो यदि समान आयु, रूप, विद्या, सम्पत्ति और प्रकृतिवाले हो तो सम्बन्ध उत्तम चलता है। यह वात प्राय देखी जाती है कि वर और कन्याके अभिभावक माता पिता आदि वर कन्या का रूप और सापत्तिक अवस्था मात्र इन दो वातोका ही उनके विवाह मे विचार करते हैं, शिक्षा-स्वभाव आदि के मिलानका विचार नही करते। शिक्षा की परीक्षा सरलतासे होने पर भी स्वभावकी परीक्षा होना सरल नही है। स्वभावकी परीक्षा मनुष्यकी तव होती है जव कुछ दिन काम पड़ जाता है, इसलिए श्रीगुरु यहाँ सर्वसाधारण के निर्वाह योग्य गृहस्थ जीवनके लिए अत्यन्त उपयोगी उपदेश देते हैं कि गृहस्थको उचित है कि यदि उसकी पत्नी शिक्षित नही है तो वह पति द्वारा शिक्षित वना ली जावे। यह शिक्षण परस्पर मधुर शब्दोके व्यवहार पूर्वक हो तो ही लाभदायक होगा, इससे प्रकृति भी उत्तम वनेगी। यदि पत्नी शिक्षित है और पति अशिक्षित है तो पत्नी का कर्तव्य है कि मधुर वाणीके द्वारा पति को शिक्षित करे और उसे अपने अनुरूप वनावे। शिक्षित दम्पति ही परस्पर अनुकूल स्वभाव-वाले हो जाते हैं। एक शिक्षित और दूसरा अशिक्षित हो तो प्रकृतिका मिलान न होनेसे दोनोका जीवन दुखमय व्यतीत होता है इसलिए दोनो को एक दूसरेको शिक्षित वनानेका प्रयत्न करना ही सुखी गृहस्थ जीवन का सर्वोत्तम उपाय है। यह उपाय तभी सफल हो सकता है जव कि दोनो परस्पर मधुरभाषी हो।

गृहस्थ जीवनमे यह भी पद-पद पर सम्भावित है कि पति पत्नीमे किसी विषयको लेकर भिन्न-भिन्न मत हो जाय, ऐसे समय अपनी वात दूसरेको समझानेके लिए भी प्रिय वाणीका उपयोग करना चाहिए।

यह भी सम्भव है कि दोनोमेसे कोई एक दूसरेका अपराध कर वैठे। ऐसी दशामे अपराधीको उसका अपराध समझा देना ही उसे दूर करनेका पर्याप्त उपाय है, यदि वह मधुर शब्दो द्वारा समझा दिया गया हो।

साराश यह है कि दम्पत्तिका पारस्परिक व्यवहार मधुर हो तो उसका जीवन सुखी रह सकता है अन्यथा दुखी रहेगा। मनुष्य जीवन सुखी वनानेमे मधुर वाणीका ही प्रधान हाथ है, दूसरी वातोका उतना महत्त्व नही है। मनुष्य एक दूसरेके प्रति अपना अभिप्राय वाणी द्वारा ही प्रकट करता है और

उसीसे दूसरे के हृदय के भावोको परखता है। घोर अपराधी भी वचनोके द्वारा अपने आन्तरिक अभिप्राय को प्रकट कर क्षमापात्र बन जाता है। तथा एक निरपराधी भी अपने कटुभाषणके द्वारा सर्वसाधारण की दृष्टि मे भी अपराधी बन जाता है। मधुरभाषियो की प्रकृति समान न होने पर भी परस्पर मेल खा जाती है, समान प्रकृतिवाले व्यक्तियो मे भी यदि किसी प्रसगमे कठोर शब्दो द्वारा वार्ता हो जावे तो विरोध उत्पन्न हो जाता है। बडासे बडा अपराधी अपने मधुर भाषणसे अपने अपराधको माफ क़रा लेता है।

वचन का बहुत मूल्य है, वचन अमृत है यदि हित मित और प्रिय हो। श्री तीर्थंकर भगवान् मे जन्मके समय से जो १० अतिशय (विशेषताए जिनके कारण वे सर्वोच्च माने जाते हैं) होते हैं उनमे प्रियहित वचन भी एक महान् अतिशय माना गया है। इससे यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि भगवान् तीर्थंकर देव अनेको गुणोके द्वारा यद्यपि विभूषित थे तथापि ससारके समस्त प्राणियोके लिए वे इसी लिये महान् बन सके कि उनके वचन जन्म से ही प्रिय और हितकारक थे।

भगवान्की दिव्यध्वनिका महत्त्व उसकी गंभीरता सर्वार्थप्रतिपादकत्वादि गुणोके ही कारण नही प्रकट हुआ बल्कि इसलिए महत्त्व प्रकट हुआ कि उनकी वाणी इतनी मधुर थी कि उसे सुनने के लिए देवता भी तरसते थे और साधारण प्राणियोमे पशु-पक्षी भी उसे सुनने के लिए आकर्षित होते थे। यह आकर्षण तत्त्वप्रकाशनके कारण नही था क्योकि सर्वसाधारण मनुष्य, देव, या पशुपक्षी तत्त्ववार्त्ताको उतना समझते नही, किन्तु उनकी प्रिय मधुर हितकारक वाणी मे यह आश्चर्यकारी आकर्षण था।

मुनियो के चारित्र मे वचन गुप्ति और भाषा समिति को प्रधान स्थान प्राप्त है। इसका अर्थ यह है कि या तो वचन ही न बोलें और बोलें तो प्रिय, हित वचन थोडे बोलें। जो चीज अपने सम्पूर्ण रूपमे तीर्थंकरको भी महत्त्व प्रदान करती है और जो मुनि जीवनमे भी अपना प्रधान स्थान रखती है वह गृहस्थ जीवनके लिए क्यो न उपयोगी होगी। गृहस्थका चारित्र भी मुनिके चारित्रका एकदेशरूप है इसलिए गृहस्थ को भी उचित है कि यदि वचन बोले तो हित, मित और प्रिय बोले, अन्यथा भाषण ही न कर मौन रखे। यह मधुर भाषण पद्धति जिस तरह बाहिरी ससारमे हमारे जीवनको सुखी बनाती है इसी तरह इसका सफल प्रयोग घरू ससारके प्राणियोमे भी सम्पूर्ण कष्ट और सन्तापोको दूर करनेकी महौषधि है। वर्तमान समयमे घर-घरमे कलह देखनेमे आती है उसका एकमात्र कारण अप्रिय कटुक वार्त्तालाप ही है। पुरुष वर्ग यदि शिक्षित होता है तो वह अपनी विद्वत्ताके अभिमानके कारण अपनी अशिक्षित पत्नीका निरन्तर अनादर करता है, उससे प्रियसलाप नही करता। इसी तरह यदि स्त्रिया अशिक्षित होती हैं तो वे शिष्ट भाषणका नाम तक नही जानती। स्त्री वर्गके शिक्षित और पुरुषवर्गके अशिक्षित होने पर भी ठीक यही दशा होती है। दम्पतिको उचित है कि एक दूसरेको उत्तम शिक्षा देकर प्रिय भाषण द्वारा सुखी बनावे। वे तभी ससारमे उच्च आदर्शका सृजन कर सकते हैं।

परमार्थ सिद्धिके लिए जैसे साधु सस्था है वैसे ही इहलौकिक उन्नतिके लिये गृहस्थ जीवन अगीकार करना भी आवश्यक है। ये दोनो श्रेणिया प्राणी को यथायोग्य सुखी बनानेके लिये हैं। इनके अतिरिक्त तीसरी श्रेणी मध्यममार्गियोकी है जो गृहस्थ जीवनका क्रमशः त्यागकर साधु मार्ग पर जाना चाहते हैं। यह श्रेणी भी ग्राह्य है। इन तीनोके अतिरिक्त अनियमित और असयत जीवन व्यतीत करनेवाले, एक दूसरेके सुख दुखका साथ न देनेवाले, दूसरोको कष्ट पहुँचाकर अपना स्वार्थ साधन करनेवाले, अप्रिय सलापके द्वारा दूसरोको कष्ट पहुँचाकर खुश होनेवाले लोगोकी श्रेणी ग्रहण करने योग्य नहो। ऐसे लोगोका गृहस्थ जीवन कष्टमय व्यतीत होता है। अप्रियसलापी स्त्री पुरुषोमे परस्पर बात-बातमे विरोध

रहता है, यह विरोध क्रमश वैरका रूप ले लेता है और यदि हितू ही शत्रु बन जाय तो अनर्थकी परम्पराको फिर कोई नही रोक सकता। ऐसे गृहस्थोका जीवन नरकतुल्य कलहमे ही व्यतीत होता है इसलिए परस्परमे सापराध भी हो तो भी कटुभाषाका प्रयोग पाक्षिकको न करना चाहिये।

गृहस्थ जीवनको दुखमय बनानेवाली दूसरी बात है स्वगृहच्छिद्रप्रकाशन अर्थात् अपने गृहस्वामी या गृहस्वामिनीकी दूसरेसे निन्दा करना, एक दूसरेके दोपोका वर्णन करना, अपनी हीनता दुरवस्थाको दूसरो पर प्रकट करना इत्यादि। गृहस्थ जीवन मे अनेक घटनाए बीतती हैं। कभी कभी साम्पत्तिक स्थिति अच्छी होती है तब मनुष्यका रहन सहन, खान-पान, ओढना-पहिनना और वस्त्राभूषण कुछ अच्छे तरीकेके होते हैं और जब दरिद्रता पल्ला पकडती है तब बात-बातमे कष्ट उठाने पडते हैं। दोनो अवस्थाओको दूसरो पर प्रकट कर अभिमान या निन्दा नही करनी चाहिये।

हम चाहे अपने घरमे सुखी हो या दुखी पर किसीके सामने हाथ नही पसारना चाहिये, अपने परिश्रम द्वारा उपर्जित धनसे ही अपना स्वाधीन जीवन व्यतीत करना चाहिये। स्वाधीन जीवनके कष्ट भी सुखदायी होते हैं और पराधीन जीवनके सुखसाधन भी काटेकी तरह शल्य रूप होते हैं इसलिये अपने घरकी वार्त्ता यदि वह गोपनीय है तो उसे प्रकाशित करनेमे लाभ नही हानि ही है। तुम्हारे प्रकाशित छिद्रको सुनकर लोग हसेंगे या तुम्हारी कमजोरी जानकर तुम पर हमला करेंगे और तुम्हारे कष्टको बढावेंगे।

कोई भी गृहस्थ चाहे धनी हो या निर्धन, बलवान् हो या निर्बल, समझदार हो या कमसमझ, चतुर हो या मूर्ख, सदाचारी हो या कदाचारी, लोभी हो या निर्लोभ, उदार हो या अनुदार किन्तु वह सर्वसाधारण समाज के सामने सदा अच्छी हैसियतसे रहनेका प्रयत्न करता है। वह लोगोकी दृष्टिमे सदैव अपने जन, धन, बुद्धि, बल, वैभव, प्रतिष्ठा, सदाचार, कीर्ति, उदारता और सतोष आदि सद्गुणोकी (जो कि प्रत्येक गृहस्थमे होना आवश्यक हैं) धाक जमाए रखना चाहता है। भले हो वह उनमे अपनी हीनताका अनुभव करता हो पर समाजमे अपनी हैसियत अच्छी रहे इसके लिए प्रयत्नशील रहता है। वह अपनी इस प्रतिष्ठाके बल पर ही व्यापारादिके द्वारा आर्थिक लाभ तथा व्यवहारके द्वारा कीर्तिका उपार्जन करता है। यदि कोई स्त्री अपने घर की इन बातोको दूसरोसे प्रकाशित करे या कोई पुरुष अपनी स्त्रीके विरुद्ध दूसरो मे उसकी निन्दा प्रकाशित करे तो उसका व्यापार या सामाजिक व्यवहार हीन हो सकता है जिससे दोनोके जीवन कष्टप्रद हो जाते हैं और कभी-कभी ऐसे प्रसगो पर लोग आत्मघात या एक दूसरे के घात तकका प्रसंग उपस्थित कर लेते हैं अथवा दूसरो द्वारा अपमानित होकर जीवन भर दुख पाते हैं इसलिए अपने गृह सबधी सुख दुखको बाहर प्रकट न करे।

इसके साथ ही साथ यह स्मरण रखना भी आवश्यक है कि मिथ्या परनिन्दा और आत्म प्रशसासे भी मनुष्य की कीर्ति नही फैलती, न उसकी अच्छी हैसियत समाजमे समझी जाती है, इसलिए उससे भी सदैव दूर रहना चाहिए। ससारका यह नियम है कि यदि तुम अपनी प्रशसा स्वय करोगे तो दूसरे लोग तुम्हारे इस कार्य की आलोचना करेंगे जिससे तुम्हारी निन्दा होगी। यदि तुम अपने अवगुणोकी निन्दा करोगे तो दूसरे लोग तुम्हारी इस गुणकी प्रशसा करेंगे और उनकी इस आलोचना से तुम्हारी कीर्ति बढेगी।

अपने अवगुणोकी स्वय निन्दा करनेसे अपने अवगुण दूर हो जाते हैं यदि मनुष्य उन्हे अवगुण मानता रहे तो। इस मार्गपर चलनेवालेको यह ध्यान सदैव रखना चाहिए कि वह अवगुणोको निर्लज्ज होकर प्रकट न करे। निर्लज्ज पुरुष अवगुणको गुण मान लेता है। उसे ग्राह्य समझता रहता है। उस दुर्गुणको छोडता नही और अपनी उस अकीर्तिको ही कीर्ति मानकर प्रसन्न होता है। इसके विरुद्ध

सुजन पुरुष अपने अवगुण की निन्दा करता हुआ उस दोषसे मुक्त होनेका प्रयत्न करता है। जब तक वह दुर्गुण दूर नही होता लज्जित होता है। लज्जा ऐसे स्थल पर भूषण है। ऐसे प्रसगोपर लज्जा न रहना एक महान् दुर्गुण है। यह दुर्गुण एक ऐसा अभेद्य किला है कि जिससे दूसरे सद्गुण उस मनुष्यमे प्रवेश नही पाते। वह सदाके लिए अवगुणी बन जाता है।

अपने अवगुणो की निन्दा वही मनुष्य करता है जिसे दुर्गुणोंसे प्रीति न होकर गुणोसे प्रीति है, जो अवगुण त्यागकर गुणी बनना चाहता है। यही कारण है कि वह अन्य पुरुषके गुण अवलोकन करता व उन गुणोकी प्रशसा करता है। वह चाहता है कि अपने भीतर गुण ही विद्यमान हो, पर यदि उनका स्वय वर्णन किया जाय तो यही एक दुर्गुण है, इसे दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिए। इसी तरह दूसरे व्यक्तियोमे यदि सचमुच अवगुण हैं और उन अवगुणोका प्रकाशन किया जाय तो यह भी एक दुर्गुण है। इससे भी बचना चाहिए।

श्रावक उपगूहन अगका धारक है। वह किसी धर्मज्ञ पुरुषकी निन्दा नही करता, उसके अवगुण प्रकट नही करता, किंतु गुण निरीक्षणकर उन्हे प्रकट करता है। इस प्रकारका स्वभाव किसी भी व्यक्तिके लिए अत्यन्त लाभप्रद होता है। ऐसा मनुष्य यदि दुष्ट पुरुषोकी सगतिमे भी पड जाय तो उसपर उस कुसग का असर नही पडता, क्योकि वह अवगुणग्राही है ही नही। उसे तो वहाँसे भी गुण ले लेना है यदि कुछ मिलें तो, यदि गुण न भी हो तो वह उनके अवगुणो पर दृष्टि ही न देगा। अपनी इस प्रकृतिके कारण वह गुणी ही रहेगा, कभी अवगुणी न होगा।

इसी तरह जो व्यक्ति अपने भीतरके दोषोका सदा निरीक्षणकर आत्म-निन्दा करता है उसके सम्पूर्ण दोष दूर हो जाते हैं। वह दिन प्रति दिन निर्दोष बनता जाता है, इसलिए श्री आचार्य कहते हैं कि निज निन्दा और परगुण प्रशंसा सम्पूर्ण सुखोको प्रदान करनेवाली है।

गृहस्थ जीवमे कभी कभी किसी बाल, अज्ञान या धर्मद्वेषी पुरुषके साथ व्यवहार करनेका प्रसग आता है उस समय कठिन समस्या उपस्थित हो जाती है। उन अज्ञानियो या धर्मद्वेषियोके सामने आत्म-निन्दा या स्वदोष प्रदर्शन करना विपरीत प्रभाव उत्पन्न करता है। अज्ञानी तो वक्ता या उपदेश दाताको दुर्गुणी मान लेता है और उससे यह कुशिक्षा ग्रहण करता है कि जब ऐसे धर्मज्ञ पुरुषमे इतने दुर्गुण हैं जैसा कि वे कहते हैं तो मुझमे कौन बहुत दुर्गुण हैं। उसकी दुर्गुणो से घृणा हट जाती है। वह गुणी पुरुषमे दुर्गुण होना मानकर दुर्गुणोका रहना कोई अधिक हानिप्रद बात नही मानता। इसी तरह वह सुजनसे अपनी प्रशसा सुनकर आत्मतोषसे भर जाता है और अभिमानी होकर गुण प्राप्तिके लिए फिर कोई प्रयत्न नही करता।

धर्मद्वेषी पुरुष भी अज्ञानी पुरुषकी तरह स्वात्म-निन्दक पुरुषके वचनोको ही प्रमाणमें उपस्थित कर धर्मात्माओकी निन्दा करने लगता है और धर्मसे घृणा करने लगता है और अपनी प्रशसा सुनकर अपने अधर्मकी भी प्रशसा स्वय गाता है और इस तरह स्वात्मनिन्दक पुरुषकी सज्जनतासे अनुचित लाभ उठाता है। ऐसे व्यक्तियोके सामने स्वात्म-निन्दा और परप्रशसाका कोई मूल्य नही, इसलिए उनमे यह पद्धति न स्वीकार की जावे। उचित पात्रोमे ही उक्त विधिके प्रयोगका उपदेश श्रीगुरुका है, यह समझकर ही उक्त विधि स्वीकार करनी चाहिए॥ १४॥

एतस्यैव समर्थनार्थं निम्नश्लोकमाह—

इसी विषयके समर्थनके लिए आचार्य पुन. उपदेश कहते हैं—

४

(उपजातिः)

वादो विवादोऽपि मिथो विधेयः
कदापि न प्राणहरः कुबुद्धया ।
ज्ञात्वेति पूर्वोक्तविधिर्विधेयो
यतो भवेच्छान्तिकरी प्रवृत्तिः ॥ १५ ॥

वाद इत्यादिः—कुबुद्धया दुर्बुद्धया मिथ परस्पर वाद परपराजयेच्छया प्रवर्त्तमानो वार्त्तालाप कदापि न विधेयो न कर्त्तव्य । विवाद विरोधोत्पादको वादो विवाद सोऽपि नाङ्गीकर्त्तव्य । यत कषायोत्पादकत्वादसौ प्राणघातक प्राणहरो भवति । आत्माभिमानदग्धाना प्राणिना स्वपराजय परविजयोत्कर्षश्च प्राणघातादप्यधिककष्ट-प्रदो भवति इति यावत् । वस्तुतस्तु नायमेकान्त । किन्तु बुद्धिमन्त तत्त्वान्वेषिणो वस्तुस्वरूप ज्ञातुमिच्छन्ति तदा कुतत्त्वखण्डन सुतत्त्वप्रकाशन प्राणदायकमिव भवति । अतएव पूर्वोक्तविधीन् स्वबुद्धिवैभवेन तोलयित्वा यथावसर तत्र प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा कार्या । एव विचार्य विहिता स्वप्रवृत्ति सदा शान्तिकरी भवेत् स्यात् ॥ १५ ॥

इति श्रीकुन्थुसागराचार्यविरचिते श्रावकधर्मप्रदीपे पण्डितजगन्मोहनलाल-
सिद्धान्तशास्त्रिकृतायां प्रभाख्यायां व्याख्याया प्रथमोऽध्याय समाप्त ।

किसी भी पुरुषके पराजयकी इच्छासे परस्पर कलह और वैरको उत्पादन करनेवाला वाद और विवाद नही करना चाहिए । अनेक प्राणी जो अपने घमडमे ही चूर रहते हैं, अतत्त्व को ही तत्त्व समझ-कर अपनेको धर्मज्ञ या धर्मतत्त्ववेत्ता मान लेते हैं, वे मानघनी वादमे अपनी पराजय देखकर जीवित ही प्राण देनेको तैयार हो जाते हैं—स्वपराजयसे होनेवाली तीव्र कषायके कारण आत्मघात कर लेते हैं । उनकी इस कुबुद्धिको धिक्कार है जो उन्हे तत्त्वज्ञान नही उत्पन्न करने देती । आचार्य उपदेश देते हैं कि ऐसे पुरुषोसे वादविवाद नही करना चाहिए, जिन्हे वादविवाद तत्त्वदर्शक न हो सके बल्कि उनके लिए जीवितावस्थामे भी प्राणघातक जैसा हो जावे । सज्जन सद्गुणग्राही पुरुषको अतत्त्वखडन पूर्वक तत्त्वज्ञान की कथनी करनी हानिप्रद नही है । उपर्युक्त विधिको यथार्थ समझकर ही इसका प्रयोग करना शान्तिको उत्पन्न करता है, अन्यथा तत्त्वोपदेशके हृदयमे भी अशान्ति उत्पन्न होकर हानिकर हो सकती है ।

भावार्थ—अपने विषयका दूसरेके प्रति प्रतिपादन करना तबतक नही बनता जब तक कि उस विषयका खण्डन न किया जावे जो हमे इष्ट नही है । इस कार्यको ही वाद कहते हैं । तथा यही वाद जब विशेष रूपमे बढ जाता है तो उसे विवाद कहते हैं, यदि वह स्वजय और परपराजय चाहते हुए किया जाय । इसके विरुद्ध बिना जयपराजयकी इच्छासे तत्त्वका वर्णन मिथ्यातत्त्वके खण्डन पूर्वक पर-हित कामनासे किया जाय तो वह वादविवाद नही बल्कि उसे तत्त्व निरूपण कहते हैं ।

तत्त्वका निरूपण और अतत्त्वका निवारण तत्त्वदर्शी वीतरागी समदृष्टि साधुको भी करना आवश्यक होता है । वे कुपथगामी जीवोके सुपथपर लगानेकी इच्छासे ऐसा करना अपना श्रेष्ठ कार्य मानते हैं । कभी कभी वस्तुतत्त्वको सर्वसाधारणमे प्रकाश करने, सद्धर्मकी प्रभावना करने और अधर्मके प्रभाव और प्रसारको रोकनेके लिए मिथ्याबुद्धिवालोके साथ उनके मिथ्यावादकी पराजय और सम्यग्वादकी विजय करनेके लिए वादविवाद भी उन समदृष्टि साधुओको करना पडता है । तथापि वह दोषाधायक नही है, क्योकि वह वादविवाद उसके आधारभूत मिथ्यावादोका निराकरण कर लोगोको सम्यग्वादपर

चलानेके लिए किया गया है। इसमे यदि कोई प्रेरणात्मक शक्ति है तो वह है मुनिके अन्तरगमे सर्वहित कामना। वे चाहते हैं कि लोग अधर्मका मार्ग छोड आत्महितकारी मार्गका आश्रय लेवें। इस प्रकारकी सुबुद्धिके द्वारा किया गया वादविवाद प्राणघातक नही होता, इसका निषेध नही है। गृहस्थ भी ऐसी कामनासे यदि वादविवाद करे तो हानि नही, किन्तु इस प्रसग पर श्री आचार्यने जो वादविवाद परस्पर न करनेका उपदेश दिया है उसका साराश यह है कि कुबुद्धि पूर्वक किया हुआ विवाद जीवित ही प्राणघातक हो जाता है, वह नही करना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि अभिमानके वश तत्त्व अतत्त्वकी चिन्ता न करते हुए केवल परके पराजय और अपने विजयकी इच्छासे वादविवाद करना परके लिए प्राणपीडाकारक होनेसे हेयरूप है।

जिनका उद्देश्य केवल दूसरो का मान खण्डन ही है वे इस बातको भी नही देखते हैं कि हम सत्पक्ष पर हैं या असत्पक्ष पर, यदि प्रतिवादी सत्यपक्ष पर भी हो तो वादी असत्पक्षकी भी पुष्टि करके प्रतिवादीको नीचा दिखाना चाहता है और अपने पक्षको सत्य सिद्ध करके अपने अहकारकी पुष्टि करता है। ऐसा करना पाप है, असत्यपोषक, अभिमानवर्द्धक और परप्राणपीडक होनेसे यह त्याज्य है।

अपने हितकी इच्छा करनेवाले गृहस्थको इस मिथ्या विवादसे दूर रहना चाहिए। यह बात नही है कि इससे पर प्राणघात ही हो बल्कि स्वघात भी हो सकता है। वादी जब केवल स्वाभिमानके पुष्ट करनेके लिए प्रतिवादीके सत्पक्षका भी खण्डन करना चाहता है तो यह नितान्त सभव है कि प्रतिवादीकी अपेक्षा वादी ही इस वाद-विवादमे हेठी खा जाय अर्थात् पराजित हो जाय। यह बात वादीके लिए भी दु खदायक होगी और अपने पराजयसे उत्पन्न दु खके कारण यह भी सभव है कि उसे भी आत्मघात कर लेना पडे। यह वाद विवाद वैर विरोधका कारण हो जाता है और इससे उभयवादी परस्पर एक दूसरेके भी प्राणघातक हो जाते हैं। उभय वादियोका पक्ष लेनेवाले इतर मनुष्य भी कलहके बढानेवाले हो जाते हैं और उनमे भी कषायातिरेक बढ जानेसे एक महान् हिंसाका जन्म होता है। इसलिए श्रावकको कभी भी ऐसे वाद विवादको जिसका आधार केवल कुबुद्धि हो अपने हृदयमे स्थान नही देना चाहिए।

इस कुबुद्धिका परिणाम यह भी निकलता है कि वादी या प्रतिवादी असत्पक्षके पोषणके द्वारा सन्मार्गसे स्वय विमुख हो जाता है और यदि असद्मार्गकी पुष्टि करके स्वाभिमानकी रक्षा कर भी ली तो भी उसका अन्य उपस्थित जनता पर अच्छा प्रभाव नही पडता है। यदि जनता तत्त्व समझती है तो जीते हुए वादी या प्रतिवादीको कट्टर धूर्त समझेगी और यदि जनता तत्त्व नही समझती तो वह सम्यग्-मार्गसे अर्थात् आत्महितके मार्गसे दूर होकर अपना अकल्याण कर सकती है और वह पाप उस व्यक्तिके ऊपर होगा जो असत्पक्षका पोषणकर उसे अहित मार्गकी तरफ प्रेरित करता है।

किसी भी दृष्टिकोणसे इस प्रकारकी कुबुद्धि पूर्वक किया हुआ वाद विवाद सराहनीय नही है, इसलिए इसे महान् हिंसाका कारण जानकर त्याग देना चाहिए तथा विवेक पूर्वक पूर्वोक्त सम्पूर्ण विधिको इस पद्धतिसे स्वीकर करना चाहिए कि जिससे पारस्परिक वैर विरोधको स्थान न मिले और अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति ऐसी हो जो हमारे लिए या दूसरोकेलिए शान्ति उत्पन्न करनेवाली हो। कलहात्मक चित्त-वृत्ति इस लोक और परलोक दोनोमे अशान्ति पैदा कर हमे कषायवान् बना देती है जिससे भव-भवमे भ्रमण करना पडता है व कष्ट उठाने पडते हैं। इसलिए श्रावकको अपने हितकी कामनासे विवेक पूर्ण कार्य करना चाहिए ॥ १५ ॥

इस प्रकार आचार्य श्रीकुन्थुसागरविरचितश्रावकधर्मप्रदीप व पण्डित जगन्मोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत प्रभा नामक व्याख्यामे प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

॥ श्री ॥

द्वितीयोऽध्यायः

प्रश्न·—जघन्यनैष्ठिकस्यैव कि चिह्न विद्यते वद ?

—यहा नैष्ठिक श्रावकका स्वरूप प्रतिपादित किया जाता है। उसके जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन भेद हैं, इसलिए सबसे प्रथम जघन्य नैष्ठिक श्रावकके क्या लक्षण हैं ऐसा शिष्य प्रश्न करता है। इसका उत्तर श्री आचार्य इस प्रकार देते हैं—

(वसन्ततिलका)

पूर्वोक्तपाक्षिकजनान् प्रविहाय शेपाः
सर्वेऽपि नैष्ठिकजनाः कथिताः क्रमेण ।
तेपां हि वच्मि सकल सुखदं स्वरूप
तद्वोधशून्यजनतादिहिताय भक्त्या ॥१६॥

पूर्वोक्तेत्यादिः-सदाचारपरायणेपु श्रावकेपु पाक्षिको नैष्ठिक साधकश्चेति भेदत्रयेण भिन्नेपु आद्याना पाक्षिकाणा स्वरूप तच्चिह्नानि च प्रथमाध्याये निरूपितानि । तान् पूर्वोक्तपाक्षिकजनान् प्रविहाय शेपास्तु पाक्षिकातिरिक्ता साधकावस्थामप्राप्ता श्रावक क्रमेण नैष्ठिका कथिता । तेपा स्वरूप साङ्गोपाङ्ग क्रमश कथयन्ति श्रीआचार्यपादा । भक्त्या परिपूर्णश्रद्धया, तान् प्रति ये नैष्ठिकश्रावकस्वरूपमजानाना सन्ति । एतत्प्रतिपादन श्रोतृभ्य उभयलोके सुखकर भविष्यतीत्यप्याचार्येण प्रतिपादितमिति ॥ १६ ॥

सदाचार का आराधन करनेवाले श्रावकोके पाक्षिक नैष्ठिक और साधक ये तीन भेद किए गए है। उनमे पाक्षिको का स्वरूप प्रथमाध्यायमे कहा है। तद्रूप आचरण करनेवाले पाक्षिकोके सिवाय तथा जिन्होने अभी साधक अवस्था प्राप्त नही की ऐसे सम्पूर्ण श्रावक नैष्ठिक हैं। उनका सरल, सुबोध और सम्पूर्ण स्वरूप श्रीआचार्य—उन मनुष्योके हितके लिए, जो इस विषयसे अपरिचित हैं, क्रमश वर्णन करेंगे।

भावार्थ—श्रावक उस गृहस्थ को कहते है जो सद्गुरुके उपदेशको स्वहितवुद्धिसे श्रद्धा पूर्वक सुनता है और तदनुकूल आचरण करता है। ऐसे श्रावक तीन श्रेणियोमे विभक्त हैं, जिनके नाम पाक्षिक नैष्ठिक और साधक हैं। पाक्षिक श्रावकका स्वरूप प्रथम अध्यायमे लिखा गया है। नैष्ठिक श्रावक प्रथम प्रतिमासे लेकर ग्यारहवी प्रतिमा तकके सम्पूर्ण श्रावकोको कहते हैं। साधक श्रावकोकी कोई अलग प्रतिमा—श्रेणी नही होती, किन्तु अन्त समय समाधिपूर्वक मरण साधनेवाले पाक्षिक या नैष्ठिक श्रावक ही साधक कहलाते हैं। इस विषयमे कुछ ग्रथकारोका यह भी मत है कि पहिलीसे लेकर १० वी

प्रतिमा तक नैष्ठिक हैं और ११ वी प्रतिमावाले श्रावकगण यथार्थ आत्महित साधक साधु पदकी आराधना और उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न साधन करनेसे साधक कहे जायँ तथा समाधिमरण साधनेवाले पाक्षिक या नैष्ठिक भी साधक इसीलिए कहे जाते हैं कि वे अपने जीवनके अन्तिम भागमे जब कि वे इस जीवनके रक्षणमे अपनेको समर्थ नही पाते समाधि साधनेका प्रयत्न करते हैं। अर्थात् उक्त साधु पदकी आराधना करते है जिसे साधनेके प्रयत्नके कारण ११ वी प्रतिमाधारियोको साधक कहा है। तात्पर्य यह कि जो परमार्थपथप्रस्थायी परम वीतराग तपस्वी साधु द्वारा साधी जानेवाली समाधि (रागद्वेष रहित साम्यभाव) को साधनेका साक्षात्प्रयत्न करते हैं वे साधक हैं।

यद्यपि साधु पद प्राप्त करने की अभिलाषा प्रत्येक श्रद्धावान् श्रावकको होती है क्योकि मुक्ति लाभका वास्तविक मार्ग तो वही है। तथापि सभी श्रेणी (प्रतिमा) के आराधक उस साधु पदके साधनेका साक्षात् प्रयत्न नही करते। उनका साक्षात् प्रयत्न अपनी श्रेणीके आचरणको निर्दोष बनाने और अपनेसे आगे की श्रेणीको प्राप्त करनेके लिए होता है। साधु पद प्राप्तिके मार्गमे वे अवश्य हैं पर उनके लिए वह सुदूर है जब तक कि वे मध्यम श्रेणियोको पूरा नही कर लेते। ११ वी प्रतिमावालेकेलिए या समाधिगत व्यक्तिके लिए न तो कोई अन्य श्रेणी है और न समाधिगत व्यक्तिके लिए अब मध्यम श्रेणी प्राप्त करने का समय है, अत वे दोनो साधु पदके आचरणोका ही अभ्यास करते तथा उसी की भावना करते है। समाधिगत प्राणी तो अन्तिम समयमे साधुपद प्राप्त भी कर लेता है। यही कारण है कि उन दोनोको साधक मान लिया गया है ॥ १६ ॥

इन पाक्षिक और साधकोके सिवाय १ से ११ प्रतिमा तकके आराधक सभी श्रावक नैष्ठिक है। इनका सरल स्वरूप तद्विषयक बोध रहित जनताके हितकी आकाक्षासे ही प्रेरित होकर श्री आचार्य परम श्रद्धाके साथ इस द्वितीय अध्यायमें वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते हैं।

(अनुष्टुप्)

मन्दोदयात्सुमन्दाद्वा योऽप्रत्याख्यानकर्मणः।
पञ्चविंशतिदोषान् हि सम्यक्त्वमूलनाशकान् ॥ १७ ॥
त्यक्त्वा कुव्यसनं निन्द्य यथाशक्ति च पातकम्।
अष्टमूलगुणान् भक्त्या गृहीत्वा सौख्यदान् सदा ॥ १८ ॥
द्वित्र्यादिप्रतिमां युक्त्या गृहीतुं स्वपदं मुदा।
यतते स्वरस पातु स कौ दार्शनिकः सुधीः ॥ १९ ॥

मन्दोदयादित्यादि.—दर्शनमोहनीयकर्मणोऽनन्तानुवन्धिचतुष्कस्योपशमात्क्षयात्क्षयोपशमाद्वा जीवाना सम्यक्त्वस्योत्पत्तिर्भवति। केवल सम्यक्त्वमाप्तवाञ्जीवो न सयमभूमिसमारोहकोऽतएव सोऽसयमसम्यग्दृष्टिरिति प्रोच्यते। यदा खलु तस्यैव प्राणिनोऽप्रत्याख्यानकषायचतुष्कस्य मन्दोदयो भवति तदा तत्कर्मणो विशेषमन्दावस्थाया स सम्यक्त्वस्य मूलतो विनाशकान् पञ्चविंशतिसख्यकान् (शङ्का-काक्षा-विचिकित्सा-मूढदृष्टि-अनुपगूहन-अवात्सल्य-अस्थितीकरण-अप्रभावना इति दोषाष्टक, ज्ञान-पूजा-कुल-जाति-बल-ऋद्धि-तपस्या-शारीरिकसौन्दर्यविषयक मदाष्टक, कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरुत्रय तत्सेवकत्रयं च मिलित्वा षडनायतनानि, लोकमूढता-देवमूढता-गुरुमूढता इति मूढतात्रय इति सर्वान् सगृहीतान् पञ्चविंशतिदोषान्) परित्यज्य, तथा लोके शास्त्रे च निन्द्य निन्दास्पदीभूतव्यसनसप्तक द्यूतम्, मांसभक्षणम् सुरापानम्, वेश्यागमनम्, परस्त्रीसेवनम् चौर्यम्, आखेटम्, चापि त्यक्त्वा। देशत हिंसा, असत्यम्,

स्तेयम्, कुशीलम्, परिग्रहश्चेति पापपञ्चक च शक्त्यनुकूल त्यक्त्वा श्रद्धापूर्वक कल्याणकारकान्—मद्य-मांस-मधु-पिप्पल-प्लक्ष-न्यग्रोध-उम्दम्बरत्यागस्वरूपान् अष्टमूलगुणान् गृहीत्वा धृत्वा यो द्वितीयतृतीयादिप्रतिमाव्रत गृहीतु प्रयत्नशील साकाक्षाश्च भवति स किल प्रथमप्रतिमाराधको भवति । स एव "दार्शनिक" इति शास्त्रे लोके च गीयते । स बुद्धिमान दार्शनिकस्सदा स्वपद मुक्तिस्वरूप प्राप्तु स्वरस स्वात्मानन्दोत्थ स्वानुभवरूप रस च पातु-मास्वादयितुमपि प्रयतते ।१७।१८।१९।

मोहनीयकर्म दर्शनमोह और चारित्रमोहके भेदसे दो प्रकारका है। दर्शनमोहकी तीन प्रकृतिया और चारित्रमोहकी २५ कुल २८ प्रकृतियाँ है। इनमेसे दर्शनमोहनीयकी ३ तथा अनन्तानुवन्धीकी ४ कुल सात प्रकृतिया सम्यग्दर्शनका घात करती हैं। जब इनका उपशम, क्षय या क्षयोपशम होता है तभी जीवको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है। यहाँ अनन्तानुबन्धी चारके उपशम और क्षयोपशमसे उनका अनुदय लेना चाहिये, क्योकि उपशम सम्यग्दृष्टि और क्षयोपशम सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धी चारका यदि सत्त्व होता है तो वहाँ उनका उदय नही होता ऐसा नियम है। फिर भी ऐसे जीवके सम्यक्त्वके दोष अप्रत्याख्यानावरण चारके अत्यत मद होनेसे दूर होते है। वह सम्यक्त्वके घातक—शका, काक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना ये आठ दोष तथा-ज्ञान, प्रतिष्ठा (यज्ञ), कुल, जाति, शक्ति, सपत्ति, तपस्या और शरीरसौंदर्य इन आठके आश्रयसे उत्पन्न आठ प्रकारका मद और-कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु तथा कुदेवके आराधक, कुशास्त्रके स्वाध्याय करनेवाले और कुगुरुसेवी ऐसे ६ प्रकारके अनायतन तथा—लोकमूढता देवमूढता एव गुरुमूढता ऐसी ३ मूढता सब मिलाकर २५ प्रकारके दोषोको दूर करके सम्यग्दर्शनको निर्मल बनाता है। यही प्राणी इसी अप्रत्याख्यानकषायके अनुदयमे द्यूत, मद्य, मास, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन, चोरी और शिकार इस-प्रकार सातो निन्दनीय व्यसनोको त्याग देता है। हिंसा, झूठ बोलना, चोरी करना, शील न पालना और सग्रह रूप पाचो पापोसे यथाशक्ति दूर रहता है।

यह बड, पीपल, ऊमर, कठूमर, पाकर, मद्य, मास, मधु रूप आठ अति हिंसाकारक पदार्थोंके खानेका त्यागकर आठ मूलगुणोका पालन करता है। वह ऐसा भाव रखता है कि सयमरूपी महलकी मूलभित्तिस्वरूप ये आठ मूलगुण मेरे लिए यथार्थमे कल्याणकारक है। सयम के बिना इस दु खमय ससारसे छुटकारा मिलना असभव है। परिपूर्ण सयमका पालन प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयमे उसे अपने लिए सभावनीय नही प्रतीत होता, फिर भी उसको भावना उसे प्राप्त करने के लिए सदा रहती है। वह प्रथम प्रतिमाका आराधक होने पर भी दूसरी, तीसरी आदि प्रतिमाओंके पालन करनेके प्रति सदा उत्सुक रहता है। उसकी आकाक्षा सदैव आत्मपद प्राप्ति तथा आत्मानुभवके आनदसे प्राप्त अमृतको आस्वादन करनेकी रहती है। वह बुद्धिमान् निःसशय आत्मोत्कर्षके लिए प्रयत्नशील रहता है। ऐसा गुणवान् पुरुष लोक व शास्त्रमे 'दार्शनिक' अर्थात् प्रथम दर्शन प्रतिमाका धारी माना जाता है ।१७।१८।१९।

प्रश्न —किं सम्यक्त्वस्य चिह्नं स्यात् कदा वा वद मे गुरो ?

नैष्ठिकश्रावकस्वरूपनिरूपणावसरे प्रथम तावत् सम्यक्त्वमूलनाशकाना पञ्चविंशतिदोषाणाम्परित्यागस्योपदेश कृत । तत्र न ज्ञायते यत् किं सम्यक्त्वस्य चिह्नमस्ति कदा वा तद्भवति तदुत्पत्तिनिमित्त किमित्यर्थ । हे गुरो ? तत्सर्वं मे कथय ।

इस द्वितीयाध्यायके प्रारम्भमे नैष्ठिक श्रावकका वर्णन प्रारम्भ करते हुए आचार्य महाराजने

म्यक्त्वके २५ दोषोंके त्यागका उपदेश दिया है। शिष्य कहता है कि सम्यक्त्वकी क्या पहिचान है और ह किस निमित्तसे होता है यह बात गुरुवर्य मुझे पहले बतावें। इन प्रश्न का गुरु उत्तर देते है—

(अनुष्टुप)

मोहस्य सप्तप्रकृतेः क्षयादुपशमान्नृणाम् ।
शुद्धचिद्रूपमूर्तेर्वा यथावत्स्वपरात्मनाम् ।। २० ।।
सुसत्यार्थस्वरूपस्य दर्शक बोधक प्रियम् ।
सम्यक्त्वं जायते शुद्धं जन्ममृत्युजराहरम् ।। २१ ।।
सद्देवगुरुधर्मादौ संसारक्लेशनाशके ।
तत्पश्चात्स्वात्मनि श्रद्धा जायते विमलेऽचले।। २२ ।।

मोहस्येत्यादिः—ससारावर्त्तवर्तिना संसारिजीवाना ससरणकारणेषु कर्मसु मोहनीयमेव प्रबलतम कर्म वर्तते। दर्शनचारित्रमोहनीयभेदेन द्विधा भिन्नस्य तस्य मिथ्यात्व-सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिचतुष्कस्वरूप-सप्तप्रकृतेस्सर्वथा क्षयात् तदुपशमात् क्षयोपशमाद्वा स्वस्य शुद्धचिद्रूपमूर्ते आत्मन यथावद् वोधो भवति। अथवा स्वस्वरूपस्य परस्वरूपस्य च यथार्थतया भेदभासन भवति। एतत्स्वपरावभासन प्राणिनामाह्लादकर भ्रमविनाशक च भवति। तदेव जन्म-जरामरण-स्वरूपससारपरिभ्रमणनिवारक शुद्ध सम्यक्त्व अस्ति। सत्यार्थस्वरूपे आप्ते सद्गुरौ आत्महितकारके जिनप्ररूपिते सद्धर्मे शुद्धचैतन्यमूर्तिस्वरूपे स्वात्मनि दृढा श्रद्धा सम्यक्त्वे सत्येव भवति, ससारार्णवोत्तीर्णाना तेषा ससारक्लेशनाशकत्वात्। शुद्धसम्यग्दर्शनेन विना ससारदुखतरणस्य नास्ति कश्चिदुपाय। अतस्तत्प्राप्त्यर्थमेव सदा यत्न कार्य। २०। २१। २२।

इस ससार समुद्रकी उत्तुङ्ग तरङ्गोमे यहाँ वहाँ भटकनेवाले प्राणीको भ्रमण करानेमे निमित्त अष्ट कर्मोमेसे मोहनीय कर्म ही प्रबलतम कारण है। इसके दर्शनमोहनीयकी मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व ऐसी तीन प्रकृतियाँ तथा चारित्रमोहके २५ भेदोमेसे अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ ऐसी ४ प्रकृतिया इस प्रकार मिलकर ये ७ प्रकृतिया सम्यग्दर्शनका घात करती हैं यह बात पहले बता चुके हैं। इनके उपशम, क्षयोपशम व क्षयसे ही शुद्ध चैतन्यमय आत्माका बोध उत्पन्न होता है, अथवा यथावत् स्वरूपका या स्वात्मासे भिन्न पर पुद्गलादि पदार्थोंका भान होता है। यह स्वपरावबोध ही प्राणियोके लिए आनन्ददाता और प्रिय होता है, इससे ही पर पदार्थोंमे स्वात्मबुद्धि रूप जो भ्रम था उसका उन्मूलन हो जाता है। इस परिणामका नाम ही शुद्ध सम्यग्दर्शन है जो जन्म, जरा और मृत्युसे भयावह ससार-परिभ्रमणको रोकनेमे समर्थ है।

वीतराग, सर्वज्ञ व हितोपदेशी सत्यार्थ आप्त, वीतराग परम गुरु और प्राणिमात्रके हितको प्रतिपादक जिनधर्ममे तथा आत्माके शुद्ध चैतन्य चमत्कार स्वरूपमे दृढ श्रद्धा इसी सम्यक्त्व गुणसे ही प्राप्त होती है। ससार चक्रसे परीत सद्देव और सद्गुरु ही संसारके दु खोसे बचानेमे समर्थ हैं। शुद्ध सम्यग्दर्शनके ससारोत्तरणका कोई दूसरा उपाय है ही नही। अत उसकी प्राप्तिके लिए सदा प्रयत्न करना ही चाहिए।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन यथार्थ वस्तुतत्त्वश्रद्धाको कहते हैं। यथार्थ वस्तुकी श्रद्धा ही यथार्थ ज्ञान प्राप्त कराने और यथार्थ ज्ञान ही सच्चारित्र पर चलानेका साधन है। इन तीनो उपायोसे ही मनुष्यादि

प्राणिवर्ग इष्ट सिद्धिको प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नही। श्रद्धा, ज्ञान और क्रियाकी उपयोगिता न केवल मुक्ति मार्गके लिए आवश्यक है किन्तु ससारके किसी भी ध्येयकी प्राप्तिके लिए इन तीनो की नितान्त आवश्यकता है। इन तीनोमे यद्यपि क्रिया ही इष्ट वस्तुकी प्राप्तिका मुख्य साधन है, तथापि—क्रिया करना या न करना इस बातपर अवलम्बित है कि हमे उसके करनेका ज्ञान हो। ज्ञानाभावमे अज्ञानियोकी क्रिया ध्येय प्राप्तिके अनुकूल ही हो यह घुणाक्षर न्यायवत् है। यथार्थतया ऐसा हो ही नही सकता। इसलिए यह निश्चित हुआ कि ध्येय प्राप्तिके प्रयत्नस्वरूप क्रियाके पूर्व उसका ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। सभी ससारी प्राणी न तो सर्वज्ञ होते है और न विशेषज्ञ। अतएव यथार्थ ज्ञानके लिए किसी विशेषज्ञ या सर्वज्ञके प्रति हमारी आस्था (श्रद्धा) भी नितात आवश्यक है।

बहुतसे सज्जन ऐसा प्रश्न करते हैं कि पहले ज्ञान होता है और फिर ज्ञान द्वारा विज्ञात तत्त्वोकी श्रद्धा होती है। बिना ज्ञानके श्रद्धा किसकी ? अत सम्यग्दर्शनके पूर्व ही सम्यग्ज्ञान आवश्यक है न कि पश्चात्। प्रश्नकर्ताका यह प्रश्न तब ठीक होता जब हममे वस्तुतत्त्वको परखनेकी पूर्ण सामर्थ्य होती। ससार और उसके कारण, मुक्ति और उसके कारण भूत तत्त्वार्थोका निर्णय तद्विषयके विशेषज्ञ गुरु तत्प्रतिपादक देव या तत्प्रतिपादित आगमके बिना नही हो सकता और इनके उपदेशसे तत्त्वज्ञान तब हो सकता है जब इन पर हमारा विश्वास हो। विश्वासके बिना कौन किसकी बातको स्वीकार करे ? अत यह सुनिश्चित हुआ कि तत्त्वनिर्णयके परिपूर्ण साधनोके अभावके कारण तत्त्वनिर्णयके लिए तात्त्विकी श्रद्धा अनिवार्य है। तभी तत्त्वनिर्णयरूप सम्यग्ज्ञान होगा और ज्ञानी हो जाने पर वह तद्रूप आचरण करेगा और उस आचरणसे ही इष्टध्येयकी प्राप्ति कर सकेगा।

आत्मतत्त्वको भूला हुआ यह प्राणी अपनी शक्तिको न पहिचानता हुआ ही कायर हो रहा है, आत्महित मार्गसे पराङ्मुख है। यदि वह आत्मतत्त्वको स्वय समझ सकता तो अबतक ससारमे परिभ्रमण ही क्यो करता ? तब यह आवश्यकता हो जाती है कि आत्मज्ञानी पुरुषोके उपदेश और वचनो पर श्रद्धाकर वह आत्मशक्ति पर विश्वास करे और तत्पश्चात् आत्मतत्त्वको पहिचाने, पुन तदनुरूप आत्मप्राप्तिके लिए प्रयत्नरूप आचरण करे। उक्त कथनसे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह क्रम ही सर्वतोभद्र है। शकादि अष्ट दोष, आठ मद, छै अनायतन और तीन मूढता रहित स्वात्मश्रद्धाको ही शुद्ध सम्यग्दर्शन कहते हैं और सम्यग्दर्शनकी शुद्धता होना ही सर्व प्रथम श्रावककी दार्शनिक प्रतिमा है।२०।२१।२२।

प्रश्न —पञ्चविंशति दोषा के वद दार्शनिकस्य मे। तथा तेषा स्वरूपञ्च स्वसिद्धयै क्रमतो गुरो।

हे गुरो ! के ते पञ्चविंशतिसख्यका दोषा ये सम्यक्त्व दूषयन्ति तत्स्वरूप मम हिताय कथय।

सम्यग्दर्शनको मलिन करनेवाले २५ मल दोष कौनसे हैं ? गुरुवर्य मेरे हितके लिए उनका प्रतिपादन करें।

उक्त प्रश्नका—प्रक्षेपक श्लोको द्वारा समाधान किया जाता है—

(अनुष्टुप्)

जिनागमोक्ततत्त्वेषु शङ्का दोषो निगद्यते।
पञ्चाक्षविषयेच्छा च काङ्क्षा दोषो द्वितीयक ॥ १ ॥

तृतीयो विचिकित्सा च मूढदृष्टिश्चतुर्थक ।
परदोषप्रकाशेच्छा परपातोन्मुखैषणा ॥ २ ॥
धार्मिकेष्वपि स्यादीर्ष्या विद्वेषः सप्तमो मत ।
जिनशासनकीर्त्तेस्तु दुर्मौढ्यादपकीर्त्तनम् ॥ ३ ॥
अष्टैते च सुदृग्दोषा षडनायतनानि च ।
त्रिमूढता मदा अष्टौ सयुक्ता पञ्चविंशति ॥ ४ ॥
तद्विरुद्धा' गुणा सर्वे सम्यक्त्व पोषयन्ति ते ।
कथयाम्यधुना तेषा स्वरूप क्रमत श्रृणु ॥ ५ ॥

जिनागमेत्यादिः—वीतरागहितोपदेशिसर्वज्ञत्वेन सुनिश्चितेन जिनेन्द्रेण प्रतिपादिते आगमे श्रद्धावत सम्यग्दृश कदाचित् मलदोषसद्भावात् तत्र तत्सत्यमसत्य वेति सदेहो जायते तदा स शङ्का नाम दोषो वर्ण्यते। सम्यग्दृशो जिनोपदेशेन ससारकारणेषु विषयेषु विरक्तिवत यदि तदभिलापो भवेच्चेत् तदा काङ्क्षा नाम द्वितीयो दोष । शरीर मलमूत्रोत्पादक स्वरूपत' दृष्ट्वापि रत्नत्रयपवित्रितस्य तस्य सत्कारकरणाय प्रवृत्तिमत सम्यग्दृश् यदि कदाचित् तस्मिन् जुगुप्सा वर्तते तदा विचिकित्सा नाम तृतीयो दोष भवेत् । मिथ्यामार्गप्रतिपादकाना दुर्दृशा स्तुतिप्रतिपादक प्रशंसात्मक वचन व्याहरत तस्य सुदृश मूढदृष्टि नाम चतुर्थो दोष । तस्यैव सुदृश परदोषोद्बोधनेच्छा स्वगुणप्रकाशनेच्छा च अनुपगूहनो नाम पञ्चमो दोष स्यात् । सन्मार्गात्पतनोन्मुखान् पुरुषानवलोक्य तेषामुद्धरणाय कदाचिद् मतिर्यदि न स्यात् तदाऽस्थितीकरणो नाम षष्ठ सम्यक्त्वदोष स्यात् । धार्मिकानवलोक्य प्रीतिमतोऽपि तस्य यदि कदाचिद् ईर्ष्याविद्वेषश्चेत् तर्हि अवात्सल्य नाम सप्तमो दोष । परोपकारकरणसमर्थस्य जिनमार्गस्य कीर्तिप्रसार कामयमानस्यापि कदाचित्तदकरणेऽप्रभावना नामाष्टमो दोष सपद्यते । एतेऽष्टदोषा षडनायतनेन मदाष्टकेन त्रिमूढताभि सङ्कलिता सन्त सम्यक्त्वविराधका पञ्चविंशतिर्दोष भवन्ति ।१।२।३।४।५।

श्री जिनेन्द्रदेव, जिनमे कि वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशित्व गुणोके कारण आप्तता सुनिश्चित की गई है उनके द्वारा उपदिष्ट प्रवचनको जिनागम कहते है। जिनागमके प्रत्येक वचन पर सम्यग्दृष्टिको परम श्रद्धा होती है। जिनागमके वचनोकी सत्यता पर संदेह होना सम्यक्त्वका **शका** नामक दोष है। भगवान् जिनेशके उपदेशसे ससार परिभ्रमणके कारणभूत पचेन्द्रियोके विषयोमे उसे विराग होना चाहिए। यदि विषयोकी अभिलाषा और उनके प्राप्त करनेकी आशा उसे रहे तो वह सम्यक्त्वका दूसरा **कांक्षा** नामा दोष है। किसी भी प्राणीका शरीर मल मूत्रादिका घर है तथापि, सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्रसे पवित्रित साधु पुरुषके गुणोमे प्रीति सम्यक्त्वके होने पर अवश्य होती है और वह शरीरकी अपवित्रताके कारण उनसे ग्लानि नही करता, यदि करे तो तृतीय दोष **विचिकित्सा** नामका है। मिथ्यामार्गके प्रचारक मिथ्या-दृष्टियोकी और उनके कार्योकी प्रशसा करना **मूढदृष्टित्व** नामक चतुर्थ दोष होता है, इस दोषके कारण मिथ्यामार्गका प्रचार व उसकी प्रभावना होती है। दूसरे असमर्थ पुरुषके दोषोके प्रकाशनकी इच्छा और अपने गुणकीर्तनकी अभिलाषा सम्यग्दृष्टिका अनुपगूहननामक **पाचवाँ दोष** है। सन्मार्गसे गिरनेवाले प्राणियोके उद्धार करनेका उपाय न करना उन्हे पुन सन्मार्ग पर न लगाना यह **अस्थितीकरण** नामका छठा दोष है। धर्मात्मा पुरुषोका दखकर उनके प्रति प्रीति, श्रद्धा और भक्ति होनेकी अपेक्षा यदि ईर्ष्या और

विद्वेष हो तो वह **अवात्सल्य** नामका सातवा दोष है। ससारके प्राणी मात्रका उद्धारक जिनधर्म है। इसका सदा कीर्तिगान करना चाहिए। अनेक प्राणी उसकी कीर्तिसे आकृष्ट होकर भी अपने कल्याणके मार्ग पर लग जाते है, ऐसा न करना अथवा अपने निमित्तसे जिनधर्मकी अपकीर्ति होने देना सम्यक्त्वका **अप्रभावना नामक** आठवा दोष है। ये आठ दोष आठ प्रकारके मद तथा छह अनायतन और तीन मूढता (जिनका कि विशेष स्वरूप आचार्य स्वय आगे प्रतिपादन करेंगे) मिलकर सव पच्चीस दोष सम्यक्त्वके घातक हैं। ये दोष सम्यग्दृष्टिके दूषण और मिथ्यादृष्टिके लिए भूषण हैं। उसमे ये ही सव दुर्गुण पाए पाते हैं, सम्यक्त्व इतने दुर्गुणोको एक बार ही नष्ट कर जीवको गुणवान् बनाता है।१।२।३।४।५।

प्रश्न —**निःशकिताङ्गचिह्नं किं पृष्टे सत्युत्तरं मुदा।**

नि शकितनाम्नि प्रथमाङ्गस्य किं लक्षणम् अस्ति इति शिष्येण परिपृष्टे सति आचार्या सानन्दम् उत्तर कथयन्ति।

सम्यग्दर्शनके आठ गुणोंमेसे प्रथम निशकित नामा गुणका क्या स्वरूप है, शिष्यके ऐसा प्रश्न करने पर आचार्य हर्षोत्फुल्ल हो उत्तर देते हैं।

(अनुष्टुप्)

वीतरागोक्तधर्मे हि श्रीदे देवे निरञ्जने।
स्वान्यप्रबोधके शास्त्रे सद्गुरौ शान्तिदे सदा ॥ २३ ॥
अकम्पा निर्मदा श्रद्धा यस्यास्ति भवभेदिनी।
तस्य निःशंकिताङ्गं स्याच्छुद्धं मोक्षफलप्रदम् ॥ २४ ॥

वीतराग इत्यादिः—यस्य सम्यक्त्वाराधकस्य महापुरुषस्य वीतरागोक्तधर्मे सर्वज्ञवीतरागप्रणीतजिनधर्मे निरञ्जने रागद्वेषाज्ञानादिभावदोपरहिते—ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-आयु-र्नाम-गोत्रान्तरायाष्टकर्मस्वरूप-द्रव्यमलरहिते सिद्धपरमात्मनि च श्रीदे कल्याणमार्गप्रदायके देवे श्रीतीर्थंकरपरमदेवे तथा तदुपदिष्टे स्वान्यप्रबोधके स्वपरहितकारके शास्त्रे शान्तिदे तदनुकूलस्वाचाराचरणपूर्वक ससारभ्रमणभीतान्यप्राणिगणाना श्रीवीतरागोक्तशास्त्रोपदिष्टपरमशान्तिप्रदायकमार्गप्रदर्शके सद्गुरौ अपि अकम्पा निश्चला निर्मदा साम्प्रदायिककुलाद्यभिमानरहिता भवभेदिनी भवदुःखापहारिणी श्रद्धा वर्तते तस्य मोक्षफलप्रद शुद्ध नि शकित नाम प्रथममङ्ग ज्ञेयम् ॥ २३ । २४ ॥

रागद्वेष अज्ञानादि सम्पूर्ण भावसबधी दोषोसे जो रहित हैं तथा जिनके ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-आयु-नाम-गोत्र और अन्तराय ये आठ भवभीतिदायक दोषाधायक कर्म दूर हो गए हैं अतएव जो द्रव्य भाव मलसे रहित होकर निरञ्जन हो गए हैं ऐसे सिद्ध परमात्मामे, तथा जो कल्याण कारक मोक्ष मार्गका उपदेश करनेके कारण 'श्रीद' हैं ऐसे श्रीजिनेन्द्र तीर्थंकरदेवमे, तथा उनके द्वारा प्ररूपित स्वपरको उत्कृष्ट ज्ञान प्रदान करनेवाले शास्त्रमे और ससार भ्रमणकी ज्वालासे जले हुए दूसरे प्राणियोको शान्तिके मार्गप्रदायक सच्चे गुरुमे जिस भाग्यवान्‌को ऐसी दृढ श्रद्धा है, अर्थात् जो कितनी घोर विपत्ति पडने पर भी उसे अपने मार्गसे विचलित न कर सके तथा जो अन्तरङ्ग से पैदा हुई हो, "मैं जैन कुलका हूँ" ऐसे कुलाभिमानकी नीव पर जो न खडी हो, ऐसी परम दृढ निश्चल ससार भ्रमणको छेद देनेवाली जिसे श्रद्धा है उसीके मुक्तिफल देनेवाला प्रथम "नि शकित" नामा सम्यक्त्वका गुण होता हैं।२३।२४।

प्रश्न.—निष्काक्षितस्य चिह्नं किम् ? सिद्ध्यै स्याद् वद मे गुरो।

हे गुरो द्वितीयाङ्गस्य निष्काक्षितनाम्न किं स्वरूप स्याद् इति मे स्वात्मज्ञानसिद्धयै वद।

हे गुरुदेव सम्यक्त्वके दूसरे निष्काक्षित नामा गुणका क्या स्वरूप है वह मेरी आत्मा के बोधकी सिद्धिके लिए कृपाकर कहिए—

(अनुष्टुप्)

आदौ मध्येऽप्रिये चान्ते दुःखदेः कटुके हृदि।
क्षणिके स्वात्मबाह्ये हि निन्द्येऽग्राह्ये परोद्भवे ॥ २५ ॥
परित्याज्येऽक्षसौख्येनास्था कांक्षा यस्य दुःखदा।
निष्कांक्षिताङ्गमेवापि तस्य स्यान्निर्मलं प्रियं ॥ २६ ॥

आदावित्यादि—ससारिण प्राणिन इन्द्रियोत्पन्नसुखेषु मग्ना सन्त्यनादित एव न ते स्वात्मानस्सुखमनुभवन्ति किन्तु मिथ्यात्वभावभ्रमभ्रमिते सत्युन्निद्रज्ञानचक्षुष सम्यग्दृश तत्र सम्यग्ज्ञान जायते। स हि पश्यति यत् आदौ मध्येऽन्ते चाप्रिये दु खदे हृदि कटुके क्षणिके स्वात्मबाह्ये अतएवाक्षसौख्ये दु खमेव वर्तते। न तत्सुखम् स्वोत्थम्, अपि तु शुद्धचैतन्यस्वरूपात्मविरुद्धपुद्गलादिभि समुत्थम् अतएव परोद्भव परसयोगकालमात्रस्थायि निन्दनीय सतामग्राह्य परित्याज्य चास्ति न तद्ग्रहणे सम्यग्दृश दु खदा काक्षा अस्ति। इदमेव निष्काक्षित नाम निर्मल प्रिय इष्ट सम्यक्त्वस्य अङ्ग अस्ति। २५। २६।

ससारी प्राणी अनादि कालसे ही इन्द्रिय सुखो को ही सुख समझकर उनके प्राप्त करनेका ही प्रयत्न करते आये है। आत्मिक सत्यार्थ सुखका उन्हे कभी अनुभव नही हुआ। जब तक मिथ्यात्वकर्मके उदयसे भ्रमवुद्धि है—तब तक आत्मिक सुखका अनुभव प्राप्त हो भी नही सकता है। जब मिथ्यात्व भाव स्वय मिट जाता है और ज्ञानरूपी चक्षु मोहरूपी निद्रासे रहित हो जाते है तव उस प्राणीकी दृष्टि निर्मल हो जाती है और उस सम्यग्दृष्टिको ससारके सुखको उत्पन्न करनेवाले इन्द्रियोके विषयभूत पदार्थोंके सग्रह करनेमे और उनका भोग करनेमे रुचि उत्पन्न नही होती। इन्द्रिय जन्य सुख आत्मासे उत्पन्न नही हुआ वल्कि इन्द्रियोको पुद्गल पदार्थोंके निमित्तसे हुआ है। वह परसे उत्पन्न पर पदार्थके सयोग काल तक ही रह सकनेवाला सुख निन्दनीय है। सज्जनो के लिए ग्रहण करने योग्य नही है इसलिए सम्यग्दृष्टिको उसकी इच्छा ही नही होती। यह विषयभोगकी अनिच्छा ही सम्यग्दर्शनका दूसरा **निष्काक्षित** नामा अग है।

भावार्थ—जागते हुए भी पुरुषके यदि नेत्रोमे निद्राका असर है तो देखते और सुनते व नेत्र उघाडे हुए भी उसके भ्रमरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। उसका ज्ञान उसके लिए हितकर हो यह वात नही है। उसकी उस समयके ज्ञानकी सत्यार्थता अविश्वसनीय है। जव उसके निद्राकी खुमारी दूर हो जाती है तव वह स्वस्थ होता है और यह अनुभव करने लगता है कि मेरे नेत्र खुले होनेपर भी मेरा अव तकका ज्ञान वेकार था। निद्रा दूर होनेपर उसके नेत्र (दृष्टि) निर्मल हो जाते हैं और वह हेयोपादेय पदार्थका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेमे अपनेको समर्थ पाता है। मिथ्यात्वरूपी मोह निद्रासे अभिभूत है सम्यग्ज्ञान जिसका उस प्राणीकी भी वही अवस्था होती है। उस समयका उसका ज्ञान भी मिथ्याज्ञान ही रहता है। वह वस्तु तत्त्व की यथार्थता तक पहुच नही सकता। परन्तु मिथ्यात्व निद्रा भग होनेपर वही वस्तु तत्त्वका सम्यग्विवेवचन कर सकता है तव उसे यह ज्ञात हो जाता है कि जिन इद्रिय विषयोको हम सुख

रूप मानते थे वह हमारा भ्रम था। इद्रिय विषयोको एकत्रित करनेमे भी त्रास होता है। क्योकि वे सहज ही प्रत्येक व्यक्तिको प्राप्त नही होते। उनके सग्रहार्थ व्यापार-कृषि-सेवा-वाणिज्य-शिल्प-लेखन आदि षट्कर्म करने पडते है, न्यायमार्गको भी अतिक्रान्त कर छलसे, बलसे, दूसरेका छीन करके, दूसरेको कष्ट पहुँचा करके, मिथ्या दावा करके भी सग्रह करना पडता है। इन सबमे हमारा वर्षोका समय व्यतीत हो जाता है। सगृहीत वस्तुके सरक्षणमे भी कम परिश्रम नही होता, सदा आकुल व्याकुल परिणाम रहते है। दूसरे पुरुषोसे सघर्ष भी करना पडता है। इस सघर्षमे हानि भी उठानी पडती है। कभी-कभी तो प्राण तक गवा देने पडते हैं, इतनेपर भी यदि हम सग्रह कर सके तो "भोगे रोगभयम्" अर्थात् उनके भोगनेमे भी विपत्तिकी शका है। यदि स्पर्शनेन्द्रियके विषयभूत काम भोगोको अपनाते हैं और न्यायपूर्वक भी सेवन करते हैं तो शरीर क्षीण होता है, शक्ति कम होती है। क्षीण शक्ति होनेपर ज्वर आदि रोग प्राप्त होते हैं। यहाँ तक कि अतिशय काम भोगका परिणाम क्षय रोग है जिसका इलाज आज तक भी आज-कलका महान् विज्ञान नही निकाल सका। अनेक चिकित्सक बिना क्षयवालेको भी क्षयका भय दिलाकर अधिक पैसा व कीर्तिका सम्पादन करनेका ही प्रयत्न करते हैं। पर यथार्थत इस रोगके होनेपर इसका इलाज विज्ञान अबतक नही निकाल सका। ऐसा भयानक रोग कामभोगके अतिरेकसे हीन शक्तिवाले प्राणीको शारीरिक धातुओके क्षीण हो जानेके कारण होता है। रसनेन्द्रिय वशगत प्राणी रसना सुखका ध्यान रखकर अनेक गरिष्ठ रोगोत्पादक पदार्थोका मात्रासे अधिक सेवनकर रोगी बन जाते हैं और अपनी जिह्वाको वशमे न रख सकनेके कारण मृत्युको भी प्राप्त होते है। घ्राण इद्रियसे वशी पुरुषकी भी ऐसी ही स्थिति है। चक्षु और श्रोत्रके वशवर्त्ती प्राणियो की दशा भी छिपी नही। इनके निमित्तसे अपनी व दूसरोकी दुर्दशा होते हुए हम रोज देखते हैं। इससे कहना पडता है कि ये पचेद्रिय विषय भोगमे भी सुखदायक नही प्रतीत होते हैं।

तीसरी बात यह है कि जब इनके सग्रह और भोगमे कष्ट हो तो क्या इनका वियोग इष्ट होगा? इस स्थितिमे विचार करनेपर ज्ञात होगा कि इनको सुख साधन माननेवाला जीव भला इनका वियोग कैसे सहेगा? वह इनके वियोगमे अत्यन्त दुखी होता है। साराश यह कि इन्द्रिय विषयोके सग्रह करने भोगने और वियोगमे भी महान् दुखका सामना करना पडता है। अत सम्यग्दृष्टि इन्हे हेय ही मानता है। वह समझता है कि इनका प्रारभ, मध्य और अन्त तीनो दुखमय हैं। तब ये सुखदायी कैसे? इतने पर भी ये क्षणिक हैं, अल्पकालस्थायी हैं, अधिक काल नही ठहर सकते, तब वियोग अनिवार्य है। इनका संयोग भी कर्मोदयसे होता है वह हमारे हाथ नही है तथा इनका वियोग भी हमारे हाथकी वस्तु नही है, न इनका सरक्षण हमारे हाथ है। तब ऐसे पदार्थ तो निश्चित दु ख दायक ही होगे। वे कभी सुख-दायी नही हो सकते। यह पुद्गलोद्भव सुख भी स्वात्मबाह्य होनेसे और क्षणिक होनेसे निन्दनीय है, ग्रहण करने योग्य नही है, अतएव जिसकी मोह निद्रा छूट गई है वह शुद्ध चैतन्य चमत्कार रूप, शुद्धानु-भवका धनी, बाह्य विमुख अन्तर्दृष्टिका अधिकारी सम्यग्दृष्टि आत्मा इन इन्द्रियजन्य सुखोकी कभी भी आकाक्षा नही करता। इसे सर्वज्ञ आप्तके वचन पर दृढ आस्था है अत वह इन दुखदायी विषयोकी वाछा स्वप्नमे भी नही करता। इस वाछा या इच्छाका न होना ही काक्षारहितत्व या **निष्काक्षितत्व** नामका सम्यग्दर्शनका दूसरा अग है। यह गुण सम्यग्दृष्टिको सयमभावकी ओर प्रेरणा करता है। सघर्षमय जीवनसे बचाता है। अपरिग्रहत्वकी भावना उत्पन्न करता है। लौकिक व पारलौकिक उभय शान्तिका दाता है। अत **निराकाक्षता** सम्यग्दर्शनका प्रधान अग है और वह पवित्र गुण सम्यग्दृष्टिको अत्यन्त प्रिय है।२५।२६।

प्रश्न —निर्विचिकित्सिताङ्गस्य किं चिह्नमस्ति मे वद ।

तृतीयगुणस्य कानि चिह्नानि सम्यग्दृष्टिपु उत्पद्यन्ते यैस्तेपु तन्निर्णय स्यात् इति प्रश्ने सति आह ।

सम्यग्दृष्टियोमे वे कौनसे चिह्न हैं जिनसे उनका तीसरा निर्विचिकित्सित गुण पहिचाना जाय, वह मुझे कृपाकर बताइए, शिष्यके इस प्रश्नपर आचार्य निम्न उत्तर देते हैं—

[वसन्ततिलका]

तुच्छे निसर्गमलिने सुगुरोश्च देहे
रत्नत्रयेण सुखदेन पवित्रभूते ।
ग्लानिं करोति न च यो भुवि तस्य शुद्धं
सौख्यप्रदं भवति निर्विचिकित्सिताङ्गम् ॥ २७ ॥

तुच्छ इत्यादिः—शरीरमात्र खलु प्रकृत्यैव मलिन भवति । नात्मनि तन्मलिनताया अंशो मनागपि वर्तते, रसरुधिरादिधातुसप्तकाना शरीरत एवोत्पत्तिर्भवति, शरीरस्याप्युत्पत्ति रसरुधिरादिमलेनैव जायते, इति मलमूर्तिरेव एप देह । तत्सपर्कादिष्टमपि भोग्यमभोग्य भवति । तथापि यथा मलिनमपि स्वशरीररूप दृष्ट्वा पुरुषस्तत्र प्रीतिं करोति, स्वशरीरसेवाया न कदाचित्प्रमाद्यति, तथैव सम्यग्दर्शनगुणसम्पन्न पुरुपो रत्नत्रयविभूषितस्य सद्गुरो निसर्गमलिने तुच्छे सुखदेन रत्नत्रयेण पवित्रीभूत देहे मनागपि ग्लानिं न करोति अपि तु तस्य शरीरसपर्कात् पवित्रित चरणरज शिरसि धारयति तथा च तच्चरणारविन्दसेवया स्वजन्म कृतार्थं मन्यते । एव पवित्रपरिणामपरिणतस्यैव नरस्य सम्यग्दर्शनस्य सौख्यप्रद तृतीय निर्विचिकित्सिताङ्ग भवति । २७ ।

ससारी प्राणी अनादि कालसे ही शरीरबद्ध है। जैसे कोई राजा अपराधी प्राणीको मलिन स्थान दुर्गन्धितस्थान रूप जेलखानेमे बाँधकर डाल देता है वैसे ही मोहराजाने रसरुधिरादि अशुद्ध और दुर्गन्धित मलमूत्रोत्पादक, मलमूत्रसे उत्पन्न निरतर भोज्यपदार्थोंको भी अभोज्य बनानेवाले इस देहरूपी महादुर्गन्धित जेलखानेमे जीवको कैद कर रखा है। शरीरका यह स्वरूप ही है, फिर भी मनुष्य अपने शरीरसे प्रीति करता है उसकी यथायोग्य सेवा करता है। उसकी सेवामे न प्रमाद करता और न उससे घृणा करता है।

कामी पुरुष कामके वशीभूत हो कामिनीके मल मूत्र मय अगोका प्रीतिपूर्वक सेवन करता है और उससे ही अपने जीवनको सफल मानता है। यदि वह अपने जीवनमे पत्नीपरिग्रह न कर सके तो अपने जीवनको निरर्थक मानता है। मासभक्षी पुरुष प्राणीके मलमूत्र स्थानभूत अगोको भक्षण करने मे ग्लानि नही करता। जो ससारी प्राणी इतने स्थलोमे शरीरके मलिन स्वभावको भुला सकता है वह सम्क्त्वादि-रूप रत्नत्रयोसे विभूषित अनन्त गुणोके भडार और अनेक प्रकारके तप सयमके द्वारा पवित्र साधुओ की देहसे कैसे ग्लानि करता है यह आश्चर्यकी बात है। सम्यग्दृष्टि पुरुष धर्मात्मा पुरुषोसे कभी ग्लानि नही करता किन्तु उनकी सेवा और परिचर्यामे सदा सावधान रहता है। जिसने इस प्रकार ग्लानिको जीत लिया है उसे सम्यक्त्वका तृतीय निर्विचिकित्सित अग होता है। २७।

प्रश्न —वदास्ति सिद्धये किं मेऽमूढदृष्ट्यङ्गलक्षणम् ।

हे गुरो ! मम इष्टसिद्धयर्थं चतुर्थाङ्गस्य लक्षण कथय ।

हे गुरो ! मेरी इष्टसिद्धिके लिए चौथे अमूढदृष्टि अगका लक्षण कहिए—

(वसन्ततिलका)

दुःखादिक्लेशकलिते कुटिले कुमार्गे
भ्रान्तिप्रदे सुखहरे विषमे विधर्मे ।
श्रद्धा स्थितिर्ह्यनुमतिः क्रियते न येन
याऽमूढताङ्गमपि तस्य परं पवित्रम् ॥ २८ ॥

दु.खादित्यादिः—सम्यग्दृष्टेर्जिनोक्तपवित्रमार्गे परमश्रद्धा भवति । स जानाति यज्जिनोक्तधर्म एव ससार-दु खनिवारकोऽनुकूल स्वात्मनो हितकारको ऽभ्रान्तोऽस्ति । तद्विरुद्धधर्म दु खादिक्लेशकलित कुटिल कापथ विषम भ्रमोत्पादक सुखविघातकोऽननुकूल वर्तते अत. तस्मिन् तस्य श्रद्धा न जायते तत्र स्थितिमपि न करोति न तमनुमोदते । लोक-देव-गुरुमूढतासु न तस्य कदापि प्रवृत्तिर्भवति इति तात्पर्यम् । शापादिभयात्, लौकिकलाभाकाक्षया, सतानादिप्राप्त्याशया कौटुम्बिकस्नेहवशादपि सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व मिथ्यात्वाराधकम् च न सेवते । सुमेरुवत्तस्याचला श्रद्धा जिनदेवे तत्प्रतिपादके धर्मे तदाराधके गुरौ च जायते । एतदेव सम्यक्त्वत्य पर पवित्र "अमूढ-दृष्टि" अङ्गमस्ति । २८ ।

सम्यग्दृष्टि पुरुषकी पवित्र जिनमार्गमे सुमेरुकी तरह अचल श्रद्धा होती है। वह यह निश्चित जानता है कि जिनोक्त धर्म ससारके महान् दुखोंसे बचानेवाला है, वह आत्माके लिए हितकारक है, वह राजमार्गकी तरह प्राणिमात्रके लिए निर्भ्रान्त है। उससे विरुद्ध कोई भी धर्म विधर्म है, वह कभी भी हमारे ससार परिभ्रमणजन्य महान् दुखोको दूर करनेमे समर्थ नही हो सकता। वह सुख मार्गका कण्टक होगा, भ्रममे फँसानेवाला होगा, आत्महितके प्रतिकूल होगा। सम्यक्त्वी न उस पर श्रद्धा लाता है, न वैसा विचार रखता है और न तदनुकूल आचरण करता है।

लौकिक चमत्कारके वश होकर, शाप आदिका भयकर अथवा सतानादिकी अभिलाषावश अथवा धनकी आशासे अथवा ये हमारे कुटुम्बी जन हैं या सगे सम्बन्धी हैं इसलिए मिथ्यादृष्टि होने पर भी इनकी सेवा करनी चाहिए, इन पर श्रद्धा करनी चाहिए, यह बात सम्यग्दृष्टि कभी नही स्वीकार करता। उसके इस निर्मल अचल परिणामको अमूढदृष्टि नामक चौथा अग कहा है। २८।

प्रश्न —वदोपगूहनाङ्गस्य किं चिह्नं विद्यते गुरो ।

हे गुरो पञ्चमस्य उपगूहनाङ्गस्य किं लक्षण विद्यते इति प्रश्ने सति उत्तरयत्याचार्य ।

हे गुरो पाँचवें उपगूहन अगका क्या स्वरूप है इस प्रश्न पर आचार्य कहते हैं—

(वसन्ततिलका)

विज्ञानशून्यमनुजैर्विमुखैः स्वधर्माज्
जाता जिनेन्द्रसुमतस्य यदि प्रणिन्दा ।
ज्ञानैर्धनैर्भवहरैरपनीयते यैः
तेषां हि सर्वसुखद ह्युपगूहनाङ्गम् ॥ २९ ॥

विज्ञानेत्यादि—अनादिपरम्पराप्रवाहायाते जैनसघे क्वचित् कदाचित् स्वधर्माद्विमुखैर्जैनाचारानभिज्ञैर्विज्ञा-नशून्यमनुजै स्वात्मज्ञानपराङ्मुखै पुभि अज्ञानात् प्रमादात् शारीरिक-मानसिकासामर्थ्यात् यदि जिनेन्द्रसुमतस्य

जैनमार्गस्य निन्दा जाता स्यात् तर्हि भवहरैर्यै सत्पुरुषै ज्ञानैर्धनैर्वा साऽपनीयते तेषामेव सर्वसुखद पञ्चम उपगूहनाख्य अङ्ग भवति । उप-समन्तात् गूहन-रक्षण इति उपगूहनम् । येन केन प्रकारेण जैनमार्गस्य रक्षण कर्त्तव्यम् । यदि जैनमार्गस्य लोके निन्दा प्रचालिता स्यात् तदा सर्वे प्राणिनस्ततो विमुखीभविष्यन्ति तथा सति कपाटितमेव धर्मद्वार स्यात्, अतस्स्वसामर्थ्यात् धर्मरक्षण कर्त्तव्यम् । तदेव उपगूहानख्य सम्यक्त्वस्याङ्गम् । २९ ।

अनादि कालीन परम्पराके प्रवाहमे चले आए हुए इस विशाल जैन सघमे यदि कभी किसी श्रावक या श्राविका मुनि या आर्यिकाके द्वारा अपने अज्ञान या प्रमादसे अथवा शारीरिक वाचनिक या मानसिक कमजोरीके द्वारा चरित्रसे विचलित हो जानेके अथवा पापोदयसे मिथ्या अपवादके कारण या दुष्ट जनोंके द्वारा द्वेषवश लगाए गए दोषोंके कारण जिनोक्त पवित्र धर्मकी निन्दा उत्पन्न हो जाय तो सम्यग्ज्ञानी, सुचरित पुरुषोको जिस प्रकार बने उस अपवादको दूर करना चाहिए इस कार्यको सम्यग्दर्शनका उपगूहन अग कहा है ।

उपशब्दका अर्थ है समीप से और गूहन शब्दका अर्थ है रक्षण करना । इसका यह तात्पर्य हुआ कि जैनमार्गकी जो स्वय शुद्ध है निन्दा योग्य नही है, फिर भी यदि उसकी किसी प्रकार निन्दा हो तो सम्यग्दृष्टिको अपनी सामर्थ्यसे उसे दूर करना चाहिए और इस प्रकार जैनमार्गका रक्षण करना चाहिए। यदि धर्मात्मा पुरुष ऐसा न करेंगे तो लोकजन निन्दाके भयसे इस सद्धर्मसे विमुख हो जायँगे । ऐसी स्थितिमे धर्मका द्वार अपनेआप बन्द हो जायगा और लोक जन-कल्याणके प्रदान करनेवाले इस मार्गसे वञ्चित रह जांयगे और उनका कल्याण न हो सकेगा, अत उपगूहन अगका पालन करना अत्यावश्यक है ।

भावार्थ—यद्यपि जैनधर्म और उसे धारण करनेका मार्ग इतना सुन्दर और शुद्ध है, वह त्रिकालमे भी निन्दा योग्य नही हो सकता तथापि यह भी सुनिश्चित है कि धर्म कोई मूर्तिमान् पदार्थ नही है। वह तो जीवका एक शुद्ध परिणाम रूप है । वह अन्तरग धर्म या भाव धर्म कहलाता है और उन पवित्र परिणामवाले व्यक्तियोका जो वचन या शरीरसम्बधी आचरण है वह बाह्यचारित्र या द्रव्यचारित्र कहलाता है। इसका यह तात्पर्य हुआ कि धर्म किसी न किसी व्यक्तिके आश्रित ही पाया जायगा जो भी उसे धारण करे।

यदि धर्मरूप आचरण करनेवाला व्यक्ति केवल द्रव्य आचरणका पालन करता है । अन्तरग चारित्र अर्थात् भावधर्मसे शून्य हैतो वह धर्मात्मा नही है, वह धर्मात्माकी बाह्य क्रियाओकी नकल करके धर्मात्मा बनना चाहता है या अपनेको धर्मात्मा कहलाना चाहता है । ऐसी स्थितिमे ही यह अधिक सम्भव है कि भावशून्य क्रियाएँ उस व्यक्तिमे शिथिलता उत्पन्न करदें । उस शिथिलतासे केवल इस व्यक्तिकी ही निन्दा होनी चाहिए थी न कि धर्म की, तथापि इस स्थितिसे अनभिज्ञ अज्ञानी पुरुष धर्मकी ही निन्दा करने लगते हैं ।

कभी कभी कोई कोई मिथ्यादृष्टि पुरुष सद्धर्मसे स्वभावगत विरोधके कारण सच्चे सन्मार्गी धर्मात्माओ को भी मिथ्या दोष लगा देते हैं और इस प्रकार धर्मात्माकी निन्दासे स्वय धर्मकी निन्दा होने लगती है ।

कभी कभी अनेक स्त्रिया, बालक, वृद्ध या रोगी पुरुष अपने उत्साह अनुराग व भक्तिवश धारण किए हुए धर्मको अपनी गलती या शारीरिक कमजोरीके कारण ठीक ठीक पालन नही कर पाते और इसलिए भी धर्मकी निन्दा लोकमे होने लगती है ।

साराश यह है कि निन्दा दो तरह उत्पन्न होती है या तो धर्म पालकोकी गलतियोसे या निन्दको की अज्ञानता या दुर्भावसे। ऐसी स्थितिमे दूसरे धर्मात्मा व सज्जन पुरुषका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह जैसे भी हो इस निन्दाके भागको दूरकर धर्मकी ज्योति जनतामे जागृत करे।

निन्दा दूर करनेके अनेक उपाय हैं जिनमेसे कुछ निम्न प्रकार हैं—

१—धर्मपालकोको धर्मका सच्चा स्वरूप समझाना अर्थात् उनके अज्ञानको दूर करना।

२—उनमे भावधर्म उत्पन्न करना जिससे वे केवल धर्मात्मापनेकी नकल करनेवाले न हो बल्कि सच्चे धर्मात्मा बन सकें।

३—यदि किसी असामर्थ्यसे वे चारित्रभ्रष्ट हुए हो तो उन्हे ऐसे मार्ग पर लगा देना ताकि वे प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध हो सन्मार्गगामी बन सकें।

४—यदि धर्मात्मा पुरुषोको धर्मपालन करनेमे राजाकी ओरसे, राज्याधिकारियोकी ओरसे, विरोधियोकी ओरसे और देश-कालकी परिस्थितिके निमित्तसे बाधा आती हो तो जिस प्रकार भी हो सके धनबल, तनबल, विद्याबल, तपोबल और बुद्धिबलसे उस बाधाको दूरकर उन्हें धर्मपालन करने योग्य निर्विघ्न स्थिति पैदा कर देना।

५—धर्म प्रभावनाके अनेक अगो द्वारा जैसे धर्मोपदेश देकर, अनेक उत्तम पुस्तकें वितरण कर, श्री जिनेन्द्रदेवके जलविहार रथोत्सव आदिके द्वारा, प्राचीन स्थानोंके उद्धारके द्वारा, विद्यार्थियोको ज्ञानवान् बनाकर, उत्तमोत्तम जिनमन्दिर बनवाकर, लोकोपकारी अनेक सस्थाओ जैसे—धर्मशाला—अन्नसत्र—औषधालय—जल पीनेके स्थान—विद्यालय—छात्रावास—विधवा सरक्षक आश्रम—ग्रथालय आदिका निर्माण कर व अनेक धार्मिक स्थानोके निर्माण आदिके द्वारा भी धर्मकी कीर्त्ति फैलाकर निन्दा दूर की जा सकती है।

ये सब उपगूहन अगको पालन करनेके मार्ग हैं। धर्मात्माकी रक्षा व उसके सुधारसे तथा अज्ञानी व द्वेषी पुरुषोमे ज्ञानके प्रचारसे धर्मकी निन्दा स्वय दूर हो जाती है। जो अत्यन्त मिथ्यामती सद्धर्म द्वेषी हैं, जिनमे ज्ञान प्रचारसे भी काम नही चलता उनमे अपने व्यक्तिगत बल व प्रभावके द्वारा वह स्थिति पैदा कर देनी चाहिए जिससे धर्मकी निन्दा दूर हो जाय। यह उपगूहन अग है जो सम्यग्दर्शनका पाँचवा अग है। २९।

प्रश्न —किं स्थितीकरणस्य च चिह्नं वदास्ति मे गुरो।

स्थितीकरणस्य किं चिह्नमस्ति ? हे गुरो मे कथय।

स्थितीकरण नामक अगका क्या स्वरूप है ? हे गुरु कृपाकर बताइए—

(वसन्ततिलका)

स्वर्मोक्षशान्तिसुखतश्चलते जनाय
दत्त्वान्नवस्त्रनिलयानि हितोपदेशम्।
तत्रैव त प्रणयतोऽतिदृढीकरोति
श्रेष्ठ स्थितीकरणमस्य पवित्रमङ्गम् ॥ ३० ॥

स्वर्मोक्षेत्यादिः—सासारिकसुखशान्तिस्थल स्वर्गं पारमार्थिकसुखशान्तिस्थल मोक्ष च प्राप्तुकाम पुरुष क्रमेण मन्दकषायरूपमकषायरूपाञ्च प्रवृत्ति करोति। यदि मोहोदयात्क्वचित् रागाधीभूत कषायाविष्टश्च तस्मात् विचलति अथवा सासारिकदु खभूतबुभुक्षादारिद्र्यवशात् अशरणत्वात् हिततो विमुखीभूय कुमार्गगामी भवति तदा अन्नप्रदानेन वस्त्रदानेन सरक्षणार्थमावासदानेन अनेकाश्च हितोपदेशान् प्रदाय सन्तोष्य च त प्रणयत स्नेहात् धर्मे यो दृढीकरोति तस्य पवित्र श्रेष्ठ स्थितीकरण नाम सम्यक्त्वस्याङ्गमस्ति इति विज्ञेयम्। ३०।

स्वर्ग और मोक्षके कारणभूत सुख और शान्तिके मार्ग चारित्रसे किसी कारणसे विचलित होने-वाले गृहस्थको उसकी आवश्यकतानुसार अन्न, वस्त्र और घर आदि तथा हितरूप उपदेश देकर सयम मार्गमे स्थिर कर देना, विचलित न होने देना सम्यक्त्वका स्थितीकरणनामा अग है।

भावार्थ—सासारिक सुख और शान्तिका स्थान स्वर्ग और पारमार्थिक सुख व शान्तिका स्थल मोक्ष माना जाता है। उन दोनोकी प्राप्ति मन्द कषायसे और कषाय रहित प्रवृत्तिसे होती है। ये दोनो प्रवृत्तियाँ धार्मिक प्रवृत्तियाँ हैं, क्योकि इनसे कषायका क्रमश या साक्षात् अभाव होता है। कषाय रूप प्रवृत्ति ही असयम है और तद्विनाशिनी प्रवृत्ति ही सयम है। यदि कोई धर्मात्मा पुरुष क्वचित् कदाचित् मोहनीय कर्मके उदयसे रागी हो जाय या किसी भी कषायके वशीभूत हो अपने सयम रूपी उच्च प्रासादसे गिरने लगे, तो उसे धर्ममे पुन स्थिर करना चाहिए। यह धर्मप्रेमी मनुष्यका प्रधान कर्त्तव्य है।

यह ससार दु खमय है। अपनी कषायें ही दु खकी प्रधान हेतु हैं। कषाय सयुक्त मानसिक वाचनिक और कायिक प्रवृत्तिको ही असयम कहते हैं। कषायाशको पूर्ण रीतिसे दूर करनेका उपाय ही सयम है। जिसके सम्पूर्ण कषाय गल गई वह अकषाय गुणस्थानवाला ही परिपूर्ण सयमी है। वे कभी अपने मार्गसे विचलित हो सकेंगे इसकी कभी भी सम्भावना नही है। आत्मासे कर्म एक बार पूर्णरीत्या दूर हो जाय तो पुन बन्ध होनेका कोई कारण नही है। परन्तु जब तक कर्म पूर्ण न गल कर थोडा गला है, या उपशम हो गया है तो ऐसी स्थितिमे जो सयम भाव होगा वह अपूर्ण सयम होगा और यदि पूर्ण उपशमसे पूर्ण संयम होगा भी तो अल्पकालीन होगा, कारण उपशम भाव अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनिटके भीतर) मात्रमे ही मिट जाता है और उपशम भावको प्राप्त हुई प्रकृतियोका उदय आ जाता है। इस स्थितिसे उठनेके लिए आत्माका स्वयका पुरुषार्थ ही कारण है, किसी दूसरेके पुरुषार्थकी उसे आवश्यकता नही है, और न वह उसके अनुसार चल सकता है।

मन्दकषायवाले सयमी अपरिपूर्ण सयमी है, इनमे साधु भी है और श्रावक भी। यद्यपि श्रावकको देशसयमी शास्त्रकारोने बताया है और साधुको सकलसयमी ही लिखा है तथापि यह कथन केवल बाह्य चारित्र तथा ज्ञात अभ्यन्तर चारित्रकी अपेक्षा है अथवा चरणानुयोगकी अपेक्षा है। साधु अपनी जान-कारीमें और अपने प्रयत्न भर असयमी नही है, इससे सकलसयमी है, तथापि जब तक सज्वलन कषायका थोडा भी अश है तब तक करणानुयोगकी दृष्टिसे परिपूर्ण सयमी नही है। यह ग्रथ चरणानुयोगका है, इसलिए चरणानुयोगकी दृष्टिसे साधुको सकलसयमी और श्रावकको देशसयमी मानकर ही स्थितीकरण अगका लक्षण बताया गया है।

यदि श्रावक या श्राविका साधु या साध्वी (आर्यिका) किसी कषायके तीव्र उदय आ जाने पर अपने सयममार्गसे विचलित होने लगे तो इसमे कोई आश्चर्य नही है। सयमका मार्ग बहुत कठिन है।

असिधारापर चलनेकी अपेक्षा सयममार्गपर चलना अधिक कठिन है। असिधारा पर चलना तो केवल शारीरिक अभ्यास साध्य है पर सयममार्ग पर चलना केवल शारीरिक अभ्यास साध्य नही है, उसमे चित्तवृत्तिको साधना भी आवश्यक है। भूख प्यास-शीतदाघा तथा रोगादि कारणोके निमित्तसे होनेवाले कष्टोको न सह सकनेके कारण अनेक श्रावक या साधु अथवा श्राविकाएँ और आर्यिकाएँ अपने धर्ममार्गसे विचलित हो उठते है। सम्यग्दृष्टि अर्थात् जैनधर्मीका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि ऐसे व्यक्तियोको उनकी आवश्यकताके अनुसार सहायता दे।

वुभुक्षितको अन्नदान, निर्वस्त्रको वस्त्रदान, रोगीको औपधिदान, असमर्थोको सेवा, नि सहायोको सहायता आदि देकर उनके कष्टको दूर करना उचित है। सेवा इस प्रकार विवेकके साथ करनी चाहिए कि जिससे उनके सयमका विनाश न हो। यह ध्यान सदा रखना चाहिए कि जिस किसी भी प्रकार सयमी सयमके मार्गमे स्थिर रहे और उसमे उन्नति कर सके, वही सहायता वाछनीय है। उसे करना ही स्थितीकरण है। शीतकी वाधा सहित मुनिको वस्त्र पहिनाना, रोगी सयमीको अपवित्र' औषधियोका दान करना, इत्यादि प्रकारकी सेवा सेवा नही, पाप है। इस सेवासे सयमी धर्ममे स्थिर नही होता किन्तु अधिकाधिक असयमी वनता है, अत ऐसी सेवाको निंद्य माना है। इतना ही नही, यह पापोत्पादक है उस भक्तको भी दुर्गतिका कारण है और सयमीको भी। अत विवेकके साथ ही सेवा करना स्थितीकरण है।

यदि सयमी अत्यन्त विलष्ट होकर सयम विगाडनेकी स्थितिमे हो या ऐसी सेवा चाहता हो तो उसे सदुपदेश सद्दृष्टात देकर धर्ममे स्थिर करना चाहिए। यदि वह उपदेशको ग्रहण न करे और फिर भी भ्रष्ट हो तो उसे सयमी भेष त्याग देनेको वाध्य करना चाहिए, ताकि अन्य सयमी भी उसका अनुकरण न करें। ऐसा करना भी स्थितीकरण है। स्थितीकरण अपने यथार्थ अर्थमे वही है जहाँ येन केनाप्युपायेन सयमीको सयमके मार्गमे ही पुन लौटा दिया जा सके।३०।

प्रश्न —वात्सल्याङ्गस्वरूप किं वदास्ति मे गुरो मुदा।

हे गुरो! सम्यग्दर्शनस्य सप्तमाङ्गस्य वात्सल्यनाम्न किं स्वरूपमस्तीति मुदा मे कथय।

सम्यग्दर्शनके सातवें वात्सल्य अगका स्वरूप हे गुरो कृपा कर कहिए।

[वसन्ततिलका]

त्यक्तो मिथः कलिकरो भुवि येन भावः
स्वर्मोक्षमार्गनिरतस्य गुणानुरागात्।
निःस्वार्थतो हि शिवदा क्रियते सुसेवा
वात्सल्यभाव इति तस्य भवेत् पवित्रः॥३१॥

त्यक्त इत्यादिः—मिथ परस्पर कलिकर कलहोत्पादक भाव येन त्यक्त वात्सल्य प्रीतिरित्यर्थ। यथा मातुर्वत्से प्रीतिरुत्पद्यते तद्दर्शनमात्रेणैव तथैव स्वर्मोक्षमार्गनिरतस्य गुणानुरागात् दयादाक्षिण्यसाम्यभावज्ञानादिगुणानामनुरागात् परा प्रीतिरुत्पद्यते सम्यग्दृष्टे। स तु केवल स्वधर्मबुद्धया लौकिकस्वार्थविरहितया तेपामप्रतिमकल्याणदायिनी सेवा करोति। उक्तप्रकारेण सर्धामपु साधिकप्रीतिभाव एव वात्सल्याङ्गमस्ति। ३१।

ससारमे प्रत्येक प्राणी एक दूसरेसे प्रीति करते हैं। उन सबमे माता और पुत्रकी प्रीति पवित्र, निश्छल और नि स्वार्थ मानी गई है। माताका कोई स्वार्थ वत्सकी रक्षामे नही होता। वह कपटरहित

परम स्नेह भावसे उसका पालन पोषण करती है। इसलिए पवित्र स्नेह ने 'वात्सल्य' नाम ही प्राप्त कर लिया है। सम्यग्दृष्टि जीवका यह भी एक महान् गुण है। स्वर्ग और मोक्षके लिए कारणभूत सम्यग्दर्शनादि गुणोके पालनेवाले अपने समान धर्मी प्राणियोमे उसे वात्सल्य भाव उत्पन्न होता है, वह उनकी नि स्वार्थ निष्कपट सेवाके लिए सदा प्रस्तुत रहता है। सम्यक्त्वीका यह भाव ही 'वात्सल्य' नामा सातवा अग माना गया है।

भावार्थ :—इस अनादिकालीन रागद्वेषमय ससारमे न राग करनेवालोकी कमी है और न द्वेष करनेवालो की। पारमार्थिक दृष्टिसे दोनो हेय हैं, मोक्षमार्गके लिए बाधक हैं। क्रमश. जब कषायोका अभाव होता है तब अन्तमे सूक्ष्म राग ही प्राणीको अटका लेता है, वह शेष रह जाता है तब उसके अभावका भी प्रयत्न करना पडता है। भगवान् जिनेन्द्रका अन्तिम उपदेश यही है कि सर्वथा राग भाव छोड वीतराग बनो। इस पवित्र अवस्थाकी प्राप्ति सहसा नही होती। तब होती है जब पूर्ण सयम सात्मीभावको प्राप्त हो जाय। उसके पहिले राग द्वेष रहते हैं किन्तु उस पूर्ण सयम की प्राप्तिके लिए उन्हे क्रमश त्यागना अनिवार्य है। त्यागका क्रम यह है कि सम्यग्दृष्टि सबसे प्रथम वैर भावका त्यागकर प्राणिमात्रमे मित्रपने जैसे राग भावकी प्रतिष्ठा करता है। सब जीवमात्रको अपना मित्र मानता है। किसीको शत्रु नही मानता। दु खी जीवो को देखकर अत्यन्त दयार्द्र होता है, उदारता पूर्वक उनकी सहायता करता है। इतना साम्यभाव होते हुए भी वह धर्मात्मा गुणवान जीवोको देखकर परम हर्षको प्राप्त होता है। वह उनके गुणोमे आसक्त होता है और सदा उनकी मङ्गल कामना करता है। उन्हे किसी प्रकार भी दु खी होते हुए देखकर उसे ठेस पहुचती है। अत वह अनेक कष्टोको सहकर भी साधर्मीके दु खको दूर करता है। इस कष्ट सहनेमे उसे आनन्दका अनुभव होता है, वह इस भावनाके कारण सन्तुष्ट रहता है कि मै अपना कर्त्तव्य पूरा कर रहा हूँ।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनो राग द्वेषके कारण बेचैन रहते है फिर भी उनकी बेचैनीमे जमीन आसमान जैसा अन्तर है। मिथ्यादृष्टि किसीसे बदला लेनेके लिए जितना बेचैन रहता है, सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा पुरुष की सेवा जब तक नही कर पाता तब तक उतना ही बेचैन रहता है। दोनो बेचैनी बधकी कारण हैं। मिथ्यादृष्टिके पापका बध होता है जिससे नरकादि गति जन्य दु खोका मार्ग खुलता है और सम्यग्दृष्टि पुण्यका बध करता है जिससे उत्तम मानव और स्वर्गगतिमे होनेवाले सुखोका मार्ग खुलता है। मिथ्यादृष्टि अपने भावोके निमित्त से होनेवाले पाप-बधके कारण अपना ससार बढाता है जब कि सम्यग्दृष्टि अपने भावोके निमित्तसे होनेवाले पुण्यबन्धके कारण ससार परिभ्रमणके मार्गको नाश करने वाले मुक्तिके मार्गकी ओर बढता है।

अपेक्षा कृत मिथ्यादृष्टिके राग द्वेषकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टिका रागभाव अत्यन्त ग्राह्य है। वह धर्म मार्गकी ओर प्रेरक होनेसे ही स्वयं धर्म मान लिया गया है। कारणमे कार्यका उपचार न्याय सगत सिद्धान्त है। धर्मानुरागकी वुद्धिसे सम्यग्दृष्टिका यह पवित्र भाव ही सम्यग्दर्शनका वात्सल्य नामा सातवाँ अग है। इस पवित्र प्रीतिको वात्सल्य नाम इसलिए दिया गया है कि सिंह-व्याघ्र-मार्जारादि दुष्ट और हिंसक प्राणियोमे भी अपने 'वत्स' के प्रति निश्छल प्रीति पाई जाती है। ऐसी निश्छल प्रीति सम्यग्दृष्टि को साधर्मीके प्रति अवश्य होती है। उसका यह आन्तरिक धर्मानुराग ही वात्सल्याङ्ग है। ३१।

प्रश्न—प्रभावनाङ्गचिह्नं किं विद्यते मे गुरो वद।

हे गुरो सम्यग्दर्शनस्याष्टमाङ्गस्य प्रभावनाया किं स्वरूपमस्तीति मे कथय ।

हे गुरुदेव कृपाकर सम्यक्त्वके आठवें प्रभावना अङ्गका स्वरूप क्या है, कहिए ।

[वसन्ततिलका]

मिथ्यात्वजां कुमतिदां भवदां कुविद्यां
बोधामृतैर्भवहरैरपहृत्य शीघ्रम् ।
सर्वोपरित्वमिति यैर्जिनशासनस्य
तेषां प्रभावनकृतिर्भुवि दृश्यते हि ॥ ३२ ॥

मिथ्यात्वजामित्यादि —सुगममेतत् । तात्पर्यमिदम्—अनादिकालतो मिथ्यादर्शनकर्मजनितभावेन नष्टबुद्धित्वात् स्वहितमनपेक्षमाणा ससारावर्त्तवर्त्तिन प्राणिनो वीतरागपरमेष्ठिनोपदिष्टे जिनशासने मिथ्याधारण प्रकुर्वन्ति । शिवप्रदैर्ज्ञानामृतं ता धारणामपहृत्य दूरीकृत्य येन केनापि सम्यगुपायेन जैनशासनस्य सर्वोपरिप्रचार कर्त्तव्य । सम्यग्दृष्टेरयमेव प्रचार सम्यक्त्वस्य अष्टम प्रभावनमङ्ग स्यात् ॥ ३२ ॥

अनादि कालसे ससारी जीव मिथ्यात्वकर्मके वशीभूत हैं और इसीसे उनका ज्ञान मिथ्याज्ञान हो रहा है, वुद्धि हितमे नही जाती । वीतराग सर्वज्ञ भगवान् प्रतिपादित भी हितका उपदेश उन्हे अहितकर मालूम होता है । जैनधर्मके सवधमे वे सर्वथा विपरीत धारणाएँ कर बैठे हैं अथवा अज्ञानताके कारण जिन शासनका उन्हे बोध ही नही है । सम्यग्दृष्टि व्यक्ति जिस किसी भी उत्तम उपायसे कल्याणकारक धर्मोपदेश देकर उनका अज्ञान दूर करता है और उनमे जिनशासनकी प्रतिष्ठा करता है । इसे ही सम्यक्त्वका आठवां प्रभावनाङ्ग कहते है ।

भावार्थ —आठ कर्मोमे मोहनीय प्रधान है और मोहनीयमे दर्शनमोह प्रधान कर्म है । दर्शनमोहका प्रधान भेद मिथ्यात्व है । मिथ्यात्वके प्रभावसे ही ससारमे परिभ्रमण करनेवाले ये सभी प्राणी अपने हितके मार्गको भूले हुए है । मिथ्यात्व आत्माको सम्यग्मार्गसे दूर करनेवाली एक तरहकी मदिरा है । मदिरापान करनेवाला व्यक्ति नशा आने पर लौकिक सुख-दु ख, हित-अहित, इष्ट-अनिष्ट, पूज्य-अपूज्य और भोग्य-अभोग्यको नही जानता । उसकी क्या क्या दशा होती है उसे वतलानेकी आवश्यकता नही मालूम होती । सभी ससारी जन मदिरापान करनेवालोकी दुर्दशा और उनकी अज्ञानजनित कार्यप्रणालीसे परिचित है । मिथ्यात्व वशवर्त्ती जीवकी भी यही हालत होती है । उसे विषयजन्य अवस्थामे सुख मालूम होता है । कषायजन्य वैरमे, परके अपमानमे, दूसरोको धोखा देनेमे और परधन नाशमे सुख मालूम होता है । इसके विपरीत दूसरोको धनी देख उसे ईर्ष्या होती है, दूसरोंके सन्मानमे उसे दु ख होता है । किसीके साथ बैर हो और उसे कोई छुडाना चाहे तो वह छुडानेवालेको ही बुरा भला कहता है । विषय प्राप्त न हो तो अपनेको भाग्यहीन मानता है । अपनी इन दुर्भावनाओ के कारण वह विषयसगत्यागी दिगम्बर वेषी परमयोगी तपस्वीको देखकर हँसता है, उनकी निन्दा करता है । यह उन्हे अज्ञानी और अपनेको ज्ञानी मानता है । उसकी वीतरागी सर्वज्ञ भगवान् द्वारा प्रतिपादित जिन मार्गमे विपरीत धारणा हो जाती है । जबतक उस मिथ्यात्वरूपी मदिराका नशा उसे चढा है उसकी बुद्धि ठिकाने नही है । सम्यग्दृष्टिका कर्त्तव्य है कि वह यह समझे कि मैंने बडे भाग्यसे इस अपनी दुरवस्थासे अपना पिण्ड छुडा पाया है । अत अपने दूसरे भाइयोका भी इस मिथ्याज्ञानसे पिण्ड छुडा दूँ ।

अपने कर्त्तव्यके ज्ञानसे सम्यग्दृष्टि अपने समान ही दूसरे बन्धुओसे सहोदरकी तरह प्रीति करता हुआ उनकी भी दृष्टिको सम्यक् बनानेका प्रयत्न करता है। वह उन्हे घृणाकी दृष्टिसे नही देखता, उन्हे प्रेमकी दृष्टिसे देखता है और इसीसे उन्हे मिथ्या गर्त्तसे जो उनका अहित करनेवाला है उद्धार करना चाहता है। वह समझता है कि जैसे भी हो वैसे इन मिथ्यात्व ग्रस्त बन्धुओको सन्मार्ग पर लगाना है ताकि इनकी भ्रम बुद्धि दूर हो। इनमे परम कल्याणकारी जिन शासनकी प्रतिष्ठा हो।

इसके लिए वह प्रत्येक सम्भव उपाय काममे लाता है, फिर भी वह धर्मान्ध नही होता। जैसा आजकल लोग अनेक सम्प्रदायवादी धर्मान्ध होकर लोगोको डराकर धमका कर लूटकर आगमे जलाकर बहू बेटियोका अपहरण कर येन केन प्रकारेण आतङ्क जमाकर अपने सम्प्रदायमे सम्मिलित करना चाहते हैं। सम्यग्दृष्टि इस प्रकार अनीति कर निन्द्य पापमय पाप प्रचारक उपायोको सर्वथा हेय मानता है। इन जघन्य कार्योसे प्राणियोकी प्रवृत्ति पापमयी होती है, वे अहितके मार्गमे ही जाते है, हितके मार्गमे नही। ये सब काम पवित्र जैनधर्मके उद्देश्यसे सर्वथा विपरीत है। अत सम्यग्दृष्टि ऐसे कार्योके करनेकी स्वप्नमे भी इच्छा नही करता।

धर्मप्रचारका मूलोद्देश्य जगत्के प्राणियोके कल्याणकी कामना है। धर्मकी उन्नति धार्मिक उपायोसे ही हो सकती है, अधार्मिक उपायोसे नही। सम्यग्दृष्टिको उचित है कि वह ससारके प्राणिमात्रकी कल्याणकी महती इच्छाको सामने रखकर परम पवित्र दु खविमोचक जैनधर्मको ससारमे फैलानेका सत्प्रयत्न करे। ये उपाय निम्न प्रकारके हैं—

नि स्वार्थ सद्धर्मका उपदेश देना, पाप या विपरीत प्रवृत्तियोके दोष दिखाना। दोष दिखानेमे इस बातका ध्यान सदैव रखे कि इससे दोषीकी निन्दा व्यक्ति या नामाङ्कित समष्टि गत न हो जाय। निन्दासे अपने उद्देश्यमे बाधा पडती है और दोषवान् पुरुष सन्मार्गसे दूर रहता है, चिढ जाता है। इसलिए निन्दाका भाग छोडकर धर्मकी उत्कृष्टता और पापकी या मिथ्यात्वकी अनुत्कृष्टताको जनताके गले उतारना चाहिए।

सद्धर्मकी प्रभावनाका दूसरा उपाय है "सेवा"। वर्तमान युगका मानव उपदेशकी कदर नही करता किन्तु "सेवा" की कदर करता है। किसीके बीमार होने पर, कष्टमे होने पर, आग लगने पर, दरिद्रतासे पीडित होने पर और भयभीत होने पर क्रमश औषधि, सेवा, उपसर्गनिवारण, अन्न वस्त्र या आजीविकाके उपाय तथा आश्रय प्रदान और सरक्षण आदि करना "सेवा" है। सेवाभावी व्यक्ति अपने सदाचारसे दूसरोको स्वय आकर्षित कर लेता है। उस आकर्षणसे ही उसे (सम्यग्दृष्टिको) अपने सद्धर्म प्रचारका सुन्दर स्वर्ण अवसर प्राप्त होता है। ईसाई धर्मप्रचारकोने धर्म प्रचारकी इस प्रशसनीय पद्धतिको पूर्णरीत्या अपनाया है। सेवाभावी व्यक्ति अपने धर्मके स्वरूपका प्रतीक है—आदर्श है। उपदेश देनेकी अपेक्षा स्वय उसका आचरण कर जनताके सामने आदर्श रखना कही अधिक श्रेष्ठ है।

गृहस्थोके लिए उपदेश दाताका पद सुशोभित भी नही होता और प्रभावक भी नही होता। यह पद तो आत्मशोधक पवित्र साधुओके लिए जिन्होने अपनी आत्माको धर्म मार्गमय बना लिया है उनको शोभा देता है और उनका प्रभाव भी जनता पर पडता है, क्योकि उन्होने धर्मके लिए स्वार्थ त्यागकी कठोर साधनाको साधा है। गृहस्थके लिए तो 'सेवा" का कार्य ही धर्मप्रचारका सच्चा उपाय है उससे उस

गृहस्थका भी उद्धार होता है, क्योंकि सेवा ही तो धार्मिकताका सच्चारूप है तथा जिनकी सेवा की जाती है उनको भी सेवा सन्मार्गकी ओर सम्मुख करती तथा असन्मार्गसे विमुख करती है।

जनतामे जो अज्ञान है उसे दूर करने और सम्यग्ज्ञानके प्रचारके लिए शिक्षालय खोलना, पुस्तकें बाँटना, विद्यार्थियोको आर्थिक सहायता देना, विभिन्नरूपमे ग्रन्थ प्रकाशित कर जिनवाणीका उद्धार करना ये सब धर्मोद्धारके कार्य है। इन सब सम्यक् उपायोसे किये गये पवित्र धर्मके प्रचारके कार्य प्रभावनाङ्ग हैं। ३२।

[अनुष्टुप्]

अष्टाङ्गलक्षण प्रोक्त-मेवं सम्यक्त्वशुद्धिदम् ।
श्रीमता स्वात्मतुष्टेन कुन्थुसागरसूरिणा ॥ ३३ ॥

एवमुक्तप्रकारेण सम्यक्त्वशुद्धिद शुद्धिकारक सम्यक्त्वस्य अष्टाङ्गलक्षण अष्टानामपि अङ्गाना लक्षण स्वात्मतुष्टेन स्वात्मगुणलाभेन तुष्टात्मना श्रीमता कुन्थुसागरसूरिणा कुन्थुसागरेण जैनाचार्येण प्रोक्तम् । ३३ ।

ऊपर लिखे प्रकारसे सम्यक्त्वके अष्टागोका सम्यक् वर्णन श्री परम पूज्य आचार्य श्री कुन्थुसागरजी महाराजने किया है। यहाँ आचार्य महाराजने अपने लिए "स्वात्मतुष्ट" विशेषण लगाया है। स्वात्मतुष्ट व्यक्ति वह होता है जो केवल अपने आपमे अर्थात् अपने आत्मगुणोकी प्राप्तिमे ही सतुष्ट हो चुका हो, जिसे न तो लौकिक सपत्तिकी लालसा है और न अपने कामोसे अपनी कीर्ति की, सम्मान की, प्रतिष्ठा की और पूज्यता की इच्छा है।

जो कार्य धन प्राप्तिके लिए किए जाते है या कीर्ति या सम्मानके लिए या किसी पदके लिए या अन्य किसी लौकिक लाभके लिए किए जाते हैं उनके भीतर कोई दूसरी ही भावना काम करती है। वे मनुष्य सद्धर्मके सच्चे प्रचारक किसी भी हालतमे नही हो सकते। सद्धर्मपालक और प्रचारक या प्रभावक को नि स्वार्थी-सेवाभावी और प्रत्येक सभव उपायके द्वारा स्वपरकल्याण करनेवाला होना चाहिए।

आचार्य महाराजने "स्वात्मतुष्ट" एक ही विशेषण द्वारा अपने हृदयकी नि स्वार्थता व कर्त्तव्य-परायणता तथा हितैषिताका परिचय दिया है। सम्यक्त्वके ये आठो अग सम्यक्त्वको परिपूर्ण व पवित्र बनाते है। बिना इन अगोको पूर्ण किए सम्यग्दृष्टि अपने गुणमे अपूर्ण है, और अपूर्ण शक्तिवाला अपने उद्देश्य की प्राप्तिमे असफल रहता है। अत ससारोच्छेदके लिए पूर्णांग सम्क्त्व पालन करना चाहिए। ३३।

प्रश्नः—लोकमूढत्वचिह्नं किं विद्यते मे गुरो वद ।

हे गुरो ! मूढतात्रयपरिहार कर्त्तव्य एव सम्यग्दृष्टिना इत्येतत् श्रूयते किं तत्मूढतात्रयम् ? इत्यत्रोत्तरयत्याचार्य यल्लोकमूढता, देवमूढता, गुरुमूढता चेति मूढतात्रय सम्यक्त्वदोषापादकमस्ति । शिष्यो वदति यत किं लोकमूढताया चिह्न स्वरूपमिति कृपया वद ।

हे श्रेष्ठ ! तीन मूढताका त्याग सम्यग्दृष्टिको करना चाहिए ऐसा सुना जाता हैं। वे मूढताएँ कौन हैं ? आचार्य कहते है कि लोकमूढता, देवमूढता और गुरुमूढता ये तीन मूढताएं सम्यक्त्वमे दोषोत्पादक हैं। तब शिष्य पूँछता है कि हे गुरु, लोकमूढता किसे कहते हैं ? कृपाकर बताइए। आचार्य उत्तर देते हैं —

[वसन्ततिलका]

मोहादिमुक्तमनुजो लभते स्वधर्मं
मूर्खो न सत्यपि सुवस्तुनि सौख्यदे हि ।
गङ्गावगाहनवशाद्वदतीति धर्मो-
लोकस्य तस्य भवदा भुवि मूढता स्यात् ।। ३४ ।।

मोहादिमुक्तमनुज स्वधर्मं लभते, किन्तु मूर्ख अनादिकालीनमिथ्यात्वजनितसस्कारवशाद्विपयविमूढ भ्रम-बुद्धित्वात् सौख्यदे सुखदायिन्यपि सुवस्तुनि सत्यपि स्वधर्मं न लभते । स हि गङ्गावगाहनशात् गङ्गाया गोदावर्यां यमुनाया नर्मदाया अन्यत्र वा क्वचित् समुद्रादिके अवगाहनवशात शारीरिकस्नानमात्रादेव धर्मो भवतीति वदति । अतएव तस्य अज्ञानिजनस्य भुवि भवदा ससारावधिवर्धिनी लोकस्य मूढता लोकमूढता स्यात् ।। ३४ ।।

अनादिकालीन मिथ्यात्वके उदयसे जीवोको ऐसे सस्कार पडे हुए है जिनके कारण पचेन्द्रिय विषयोमे विमूढ हो रहा है और इनके त्यागमे असमर्थ होता हुआ सुखदायक सुमार्गमे नही चलता और न आत्महितको जानता है। सम्यग्दृष्टि सन्मार्गका अवलम्बन करता है, क्योकि वह विषयमूढतासे दूर है। जो विमूढ हैं वे धर्मकी अभिलाषासे गगादि तीर्थोमे, प्रयागके सगममे, गोदावरी यमुना नर्मदा या कही भी अन्यत्र स्नान करने मात्रसे अपनेको पापमुक्त मान लेते हैं। वे यह विचार नही करते कि स्नानसे शारीरिक मल दूर होगा, आत्माके रागद्वेषादि दोष दूर नही हो सकते। लौकिक मान्यताके आधारसे चली हुई उक्त लोकमूढताके कारण मोही पुरुष इस सम्यक् तत्त्वको नही जानता है।

पवित्रता धर्मका अङ्ग है यह नि सन्देह है। शारीरिक पवित्रता स्नानादिसे प्राप्त होती है, पर आत्माकी पवित्रता स्नानसे नही होती। आत्मा अमूर्त्त द्रव्य है और जल मूर्त्तिमान् पदार्थ है। मूर्तिमान पदार्थसे अमूर्त्त द्रव्य पवित्र या अपवित्र नही होता। गङ्गादि स्नानमे धर्म माननेवाले सज्जनोको आत्माकी पवित्रताके लिए श्रीकृष्णजी का उपदेश ग्रहण करना चाहिए। अर्जुनको सम्बोधित करते हुए श्रीकृष्णजीने कहा है—

आत्मा नदी सयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मि ।
तत्रावगाह कुरु पाण्डुपुत्र ! न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा ।।

अर्थात् हे पाण्डुके पुत्र धीरवीर अर्जुन ! अपनी आत्मा ही नदी है, उसमे 'सयम रूप' पवित्र जल भरा है, जिसमे सदा सत्य' ही बहता रहता है। 'शील' उसका तट है, उसमे दयाकी ऊर्मियाँ अर्थात् लहरें सदा लहराया करती है। ऐसी पवित्र आत्मा रूपी नदीमे तू प्रवेशकर, अर्थात् आत्माके अपने उक्त पवित्र रूपमे रमण कर। इससे तेरी अन्तरात्मा पवित्र बनेगी। पानी के द्वारा चाहे वह गङ्गा का हो या अन्यत्र किसी भी महातीर्थसे लाया गया हो उससे अन्तरात्मा पवित्र नही हो सकती।

श्रीकृष्णजीने लोकमूढताका कितना स्पष्ट निषेध करके आत्माकी पवित्रताका सुन्दरतम श्रेष्ठ मार्ग प्रकट किया है। यह प्रत्येक व्यक्तिके लिए विचारणीय है। जो मनुष्य मोह या अज्ञान जन्य स्थिति-से अपनेको दूर रख सकता है वही स्वधर्म (आत्मधर्म) को प्राप्त कर सकता है, अन्य नही। ३४।

प्रश्न — **किः देवमूढताचिह्नं वद मे सिद्धये गुरो।**

हे गुरो ! देवमूढता किसे कहते हैं ? मेरी इष्ट सिद्धिके लिए कृपा कर कहे।

देवमूढताका स्वरूप

[वसन्ततिलका]

सत्यार्थधर्मरहितो धनपुत्रहेतो-
र्मूर्खःकुदेवकुगुरोः शरण प्रयाति ।
स्यान्मूढता भुवि यतो भ्रमणस्य हेतु-
र्दुःखप्रदा सपदि तस्य कुदेवतायाः ॥ ३५ ॥

सत्यार्थेत्यादिः—सत्यधर्मस्वरूपमविज्ञाय लौकिकधनपुत्रादिप्राप्तयर्थं ये मूढा सरागदेवानामाराधना कुर्वन्ति—सा ससारपरिभ्रमणहेतुभूता दु खदायिनी देवमूढता स्यात् ॥ ३५ ॥

जिसने धर्मका सच्चा स्वरूप नही समझा वह मनुष्य ससार परिभ्रमणके लिए कारणभूत दु ख-प्रदायिनी देवमूढता का त्याग नही कर सकता । वह लौकिक लाभके लिए अर्थात् धनकी प्राप्ति अथवा पुत्रके लाभ आदिको इष्ट जानकर उनके निमित्त कुदेव और कुगुरुकी शरण पकडता है ।

भावार्थ —मनुष्य सदासे आदर्शका पूजक रहा है । यही कारण है कि जितने मत मतान्तर ससारमे प्रचलित हैं, रहे हैं या होगे वे सब उस मतप्रवर्तकके आदेशानुसार अपने आदर्शको ईश्वर, जिनेन्द्र, यीशु परमात्मा और खुदा आदि नामोसे पूजते आ रहे हैं और पूजते रहेगे । जिनमत-प्रवर्त्तकोने किसी सर्वशक्तिमान् ईश्वर या मुक्तात्मा या आदर्शकी सत्ता माननेसे इकार कर किया है । उनके अनुयायी यदि ईश्वर नही मानते तो कमसे कम उस मत प्रवर्त्तक को ही अपना आदर्श मानकर पूजते आ रहे हैं ।

कुल परम्परा द्वारा प्रचलित मान्यताके अनुसार चाहे जिसे 'देव' मानकर पूजना विज्ञता नही है । यह एक प्रकार का मोह है । मोह युक्त पुरुष ही व्याकरण (शब्द शास्त्र) के अनुसार 'मूढ' शब्द द्वारा व्यवहृत होता है । देव का मान्यताके सबधमे जो मोहपना है वह "देवमूढता" है । सद्धर्मका खोजी ऐसी मूढताका परित्याग करता है ।

वह अपना आदर्श 'देव' उसे मानता है जिसमे देवपनेके गुण हो । जो ससारके दु खमय कटकाकीर्ण मार्गको पार कर चुका हो और दूसरोको भी अपने परीक्षित मार्गको बता सके । जिसमे न किसी का पक्षपात हो और न किसी के प्रति द्वेप हो, किन्तु सामान्य तथा प्राणिमात्रका हितैषी हो । स्वय सब प्रकारके दोषोसे रहित हो । प्रत्येक बातका पूर्ण ज्ञाता और अनुभवी हो । उपर्युक्त गुण विशिष्ट आत्मा ही 'देव' 'ईश्वर' 'आप्त' 'परमात्मा' आदि शब्दोसे कहे जाने योग्य हैं । ऐसे श्रेष्ठ आदर्शकी पूजा-उपासना-ध्यान ही देवोपासना है । इसके विरुद्ध जिसका स्वरूप हो, जिसमे उक्त गुण न पाए जायँ, वह हमारा आदर्श नही हो सकता वह हमे उन्नत मार्ग नही बता सकता; क्योकि वह स्वय अनुन्नत है । अत 'देव' नही है, फिर भी उसे देव मानकर उपासना करना "देवमूढता" है । जैन तीर्थंकरोका यह उपदेश है कि वही व्यक्ति मान्य है जिसमे मान्यताके योग्य गुण हो । ऐसे व्यक्तिकी उपासनासे व्यक्ति ऊँचा उठेगा । स्वय योग्य और मान्य बन जायगा । वह सच्चा स्वपरोपकार कर सकता है । जो व्यक्ति गुणवान् तो नही है किन्तु उसे या तो भ्रमवश गुणवान् मान लिया गया है, या उसके अवगुणोमे ही हमने गुणपने की मान्यता कर ली है, उस व्यक्तिकी मान्यतासे हम उन्नत नही हो सकते । हमारा उक्त भ्रम ही मूढता है जो देव विषयक होनेसे 'देव मूढता' कही गई है । ३५ ।

प्रश्न —किं गुरुमूढताचिह्नम् वर्तते मे गुरो वद ?

हे गुरुदेव ! गुरुमूढता क्या है उसका क्या लक्षण है कृपाकर मुझे बतावें। ऐसा प्रश्न होने पर गुरुदेव गुरुमूढताका स्वरूप बताते हैं—

(वसन्ततिलका)

स्वात्मच्युतस्य भुवि कुर्वत एव पापम्
सेवाऽसतः क्रियत एव धनादिहेतोः ।
स्यात्तस्य दुःखजनिका गुरुमूढताऽपि
ज्ञात्वेति तत्त्वरसिकैः परिवर्जनीया ॥३६॥

स्वात्मच्युतस्येत्यादि :—भुवि अस्मिन्ननादिनिधने ससारे स्वात्मच्युतस्य स्वात्मबोधविमुखस्य पापमेव कुर्वंत केवल हिंसादिकर्मप्रयोजक पञ्चाग्नितप प्रभृतिबालतपो विदधानस्य असत कुगुरो धनादिहेतो धनादिलौकिककार्यसिद्धयभिलाषवशात् येन सेवा परिचर्या एव क्रियते तस्य प्राणिन दु खजनिका जन्मजरामरणप्रभृतिदु - खोत्पादिका गुरुमूढता स्याद् इति ज्ञात्वा तत्त्वरसिकै तत्त्वविद्भि सा परिवर्जनीया परिहर्तव्या ॥३६॥

इस अनादिनिधन ससारमे आत्मज्ञान रहित और इन्द्रिय विषय लम्पट अनेक पापात्मा 'गुरु' नाम रखाकर लोगोको ठगते हैं। उनमे गुरुपना तो नाम निशान को भी नही है। जो व्यक्ति इन्द्रिय विषयो के दास नही है, हिंसादि पञ्च महापापोसे दूर रहते है, निरभिमानी सरल प्रकृति व क्षमाशील हैं वे ही 'सद्गुरु' हैं, ऐसा स्वामी समन्तभद्राचार्यने श्रावकाचारमे वर्णित किया है। कुगुरु जन इष्ट वियोग और अनिष्ट सयोगादि तथा पीडा और रोगादिसे व्याकुल प्राणियोको देखकर कहा करते हैं कि हम तुम्हारा दु ख दूर कर देंगे, हमे अनेक प्रकारकी सिद्धि है। इत्यादि मिथ्याप्रलापसे जगतके भोले प्राणियोको ठगते हैं। वे सरल ससारी जन ससारके दुखसे आतुर हो अपने दुखको दूर करनेके लिए उन मूढोकी सेवा करते है। उनकी यह क्रिया गुरुसेवा नही 'गुरुमूढता' है। इस प्रकार गुरुमूढताके स्वरूपको जानकर तत्त्वरसिक जीवोको उसका त्याग करना चाहिए।

भावार्थ :—गुरुके स्वरूप को न जानकर यद्वा तद्वा उदर भरनेवाले ठगोको गुरु मानकर पूजना गुरुमूढता है। सद्गुरुका कार्य यह है कि वह आगमका पाठी होकर सर्वज्ञाज्ञा प्रमाण हितका उपदेश जनताको देवे। साधु या गुरु एक बहुत उपयोगी व्यक्ति ससारमे हैं। ये जनतासे भोजनमात्र लेते हैं और इस लोक और परलोकमे सुखदायक मार्गका प्रदर्शन जनताके लिए करते हैं। जो अपना व पराया उपकार साधन करे वे ही सच्चे साधु हैं। इसी तरह जो महान् गुणोके द्वारा गुरुतर (वजनदार) बन चुके हो वे ही सद्गुरु हैं अन्य नही। ऐसे सद्गुरुको छोडकर अन्य पाखण्डी तपस्वियोकी सेवा भक्ति ही गुरुमूढता कहलाती है। चमत्कार गण्डा-तावीज-झाडा-फूँकी आदि के द्वारा कुदेवपूजाका प्रचार करनेवाले कुगुरु हैं। जैनमार्ग मे मात्र भेष नही पूजा जाता, भेषके अनुसार गुण हो तो ही वह गुरु है पूज्य है, अन्यथा नही। ३६।

(अनुष्टुप)

इत्यात्मदुःखदं निन्द्य स्वाज्ञानदर्शक मया ।
त्रिमूढतास्वरूप कौ प्रोक्तं तद्बोधहेतवे ॥३७॥

इत्यात्मदु खदमित्यादि :—इत्यनेन प्रकारेण आत्मदु खद आत्महितविरुद्धत्वात् दुखप्रदायक अतएव निद्य निन्दनीय तथा स्वाज्ञानदर्शक स्वमूढभावप्रदर्शक त्रिमूढतास्वरूप मया श्रीकुन्थुसागरस्वामिना तद्बोधहेतवे मूढानाम् सद्बोधहेतो प्रोक्तम् ॥३७॥

उक्त प्रकारसे तीन मूढताका स्वरूप प्रतिपादन किया। ये तीनो मूढताएँ यथार्थमे आत्महितके विरुद्ध होनेके कारण दुखदायक है, अतएव निन्दनीय तथा मूढता भावकी प्रदर्शक हैं, सज्जनोके प्रतिबोधके लिए इन तीन मूढताओका स्वरूप श्री कुन्थुसागर स्वामीने प्रतिपादित किया है।३७।

इति मूढतात्रयदोषनिवारणोपदेश.।

प्रश्नः—षडनायतनचिह्नं किं विद्यते मे गुरो वद।

छह् अनायतनका क्या स्वरूप है ? हे गुरु कृपाकर कहिए—

(अनुष्टुप्)

कुदेवस्य तथा तस्य भक्तस्य वन्दनादिकम्।
न कार्यं तत्त्वतो भक्तिः सेवा वा शुश्रूषादिकम् ॥३८॥
सत्यार्थवस्तुनो लाभो यतः स्यात् स्वैररोधनम्।
सुदेवस्य सदा तस्य भक्तस्य वन्दनादिकम् ॥३९॥

कुदेवस्येत्यादि :—कुदेवस्य देवलक्षणरहितो देववदवभासमानो देवाभास एव कुदेव तस्य तथा तस्य भक्तस्य कुदेवानुयायिन भक्ति सेवा शुश्रूषादिक वा वन्दनादिक वा न कार्यम्। तत्करणे हि अनायतनदोष स्यात्। सुदेवस्य अज्ञानरागादिदोषरहितोऽशेषज्ञस्तथा हितोपदेशक एव पुरुष आप्त स एव सुदेव तस्य तथा तस्य भक्तस्य सुदेवानुयायिन वन्दनादिक कार्यम्। यत सत्यार्थवस्तुन जीवादितत्त्वस्य लाभ सम्यग्ज्ञान स्वैररोधन च स्वहित-विरोधिप्रवृत्तिपरित्यागश्च स्यात्।३८।३९।

जो तत्त्वार्थका परिपूर्ण ज्ञाता न होवे, अज्ञानादि दोषोसे मुक्त न हो और परहित कामनासे रहित हो वही कुदेव नामसे प्रख्यात है। उसकी तथा उसके सेवकादिककी पूजा भक्ति वन्दनादि कभी न करनी चाहिए। 'देव, ईश्वर, आप्त और परमात्मा' आदि अनेक नामो द्वारा लोग किसी एक ऐसे आदर्शको मानते हैं जिसे वे ससारमे सर्वोत्कृष्ट समझते हो। विचार यह करना चाहिए कि हम उसे सर्वोत्कृष्ट क्यो मानें ? इसका उत्तर सीधा है कि वह हम सबसे अधिक गुणवान, निर्दोष, ज्ञानवान् व समर्थ है और हमारा उससे हित होगा इसीलिए हम उसे मानते हैं—पूजते हैं और स्तुति आदि करते हैं। यदि उस व्यक्तिमे ये आदर्श गुण न हो तो वह किसलिए वन्दनीय माना जाय ? इसी बातको दूसरे शब्दोमे ग्रथकार आचार्य लिखते हैं कि उक्त प्रकारके गुणोसे रहित यदि कोई देवस्थानीय है तो वह कुदेव है और उसकी या उसके मानने वालोकी सेवा शुश्रूषा आदि दोषकारक है।

यद्यपि जैनधर्म प्राणिमात्रमे प्रेमका उपदेश देता है तथापि पदवीरूढ व्यक्ति यदि उस पदके योग्य न हो और उसे उस पद पर प्रतिष्ठित किया जाय तो यह बुद्धिमे भ्रमोत्पादक होनेसे मिथ्यात्व कहा गया है। जिस सत्यार्थ वस्तुका स्वरूप परिज्ञान सुदेवके द्वारा हो सकता है वह कुदेवादिसे नही, इसलिए कुदेवको छोड सुदेवका तथा उसकी मान्यता करनेवाले भक्तजनोका आदर करना समुचित है, कुदेवका नही। इसतरह कुदेव और कुदेव पूजक इन दोनोका आदरादि करना अनायतन सेवा है, इस प्रकार इन दोनो अनायतनोका स्वरूप कहा।३८।३९।

कुशास्त्र और उसके पाठक

(वसन्ततिलका)

अन्यागमस्य खलु तस्य कुपाठकस्य
ह्येकान्तपक्षकलितस्य भवप्रदस्य ।
सङ्गं विहाय जिनशास्त्रसुपाठकस्य
कार्यो निजात्मसुखदस्य सदैव सङ्गः ॥४०॥

अन्यागमस्येत्यादि :—एकान्तपक्षकलितस्य तत्त्व नित्यमेव अनित्यमेवेति एकान्तपक्षसमर्थकस्य अतएव भवप्रदस्य ससारवर्धकस्य अन्यागमस्य न्यायागमविरुद्धतत्त्वोपदेशकस्य अन्यैं कुवादिभि प्रणीतागमस्य तथा तस्य कुपाठकस्य सङ्ग विहाय परित्यज्य जिनशास्त्रसुपाठकस्य सच्छास्त्रस्य तथा तत्पाठकस्य सङ्ग सदा एव कार्य यतो निजात्मसुख समुत्पद्यते । अनेकान्तात्मक खलु वस्तुनो रूप प्रत्यक्षत प्रतीत तथापि सदसद्रूपेण नित्यानित्यरूपेण वा एकान्तपक्षग्रहण भवदु खप्रदमस्ति । अतोऽसच्छास्त्रस्य तत्पाठकस्य च सङ्ग विहाय सर्वज्ञवीतरागोपदिष्टस्य आगमस्य तत्पाठकस्य वा वन्दनादिक कर्त्तव्यम् ।४०।

इस सासारिक जीवनमे सदुपदेश ही आधारभूत या शरणभूत है। जीवनके सुधारके लिए या उसे समुन्नत बनानेके लिए उपदेश प्रभावपूर्ण कार्य करते हैं, यदि वे उपदेश यथार्थ हो। उपदेशकी यथार्थता वक्ताकी प्रामाणिकतासे सबधित है। यदि वक्ता श्रेष्ठ गुणवान् है तो उसका उपदेश भी उपयोगी होगा और यदि वक्ता श्रेष्ठ गुणवान् नही है, स्वय दोषी है, आत्मबल हीन है, तो उसका उपदेश जीवनको समुन्नत न बना सकेगा। ऐसे उपदेशको ही 'कुशास्त्र' या "कुआगम" कहा है। इन कुशास्त्रोमे जो वस्तुतत्त्व वर्णित है वह एकान्तपक्षसे दूषित है। अत वे अतत्त्वप्ररूपक है। वस्तुका स्वरूप अनेकान्त है और जैसा वस्तुका स्वरूप है वैसा ही प्रतिपादन करनेवाला आगम समीचीन शास्त्र है। सत्शास्त्रका उपदेश कल्याणकारक है। असत् तत्त्वके प्ररूपक ग्रथ असत् शास्त्र हैं। वस्तुका यथार्थ ज्ञान होनेसे सुख या सुखके मार्गकी प्राप्ति होती है और मिथ्या या विपरीत ज्ञानसे जीव मार्ग भ्रष्ट होकर दु ख या दु खके मार्गको प्राप्त हो जाता है। अतएव एकान्तपक्ष ग्रसित मिथ्याशास्त्र और उसके पाठकोसे दूर रहकर आत्माके शाश्वतिक सुखकी प्राप्तिके लिए अनेकान्तप्रतिपादक जैन शास्त्रोका पठन तथा उसके सुपाठकोकी सगति वन्दनादिक ही करनी चाहिए। ४०।

कुगुरु और उसके वन्दक

(वसन्ततिलका)

शिष्यस्य तस्य कुगुरोश्च कुमार्गनेतुः
सेवा स्तुतिश्च सुजनैर्न कदापि कार्या।
स्वानन्दसौख्यजनकस्य सदा सुसेवा
शिष्यस्य चास्य सुगुरो सुखदा हि कार्या ॥४१॥

शिष्यस्येत्यादि:—कुमार्गनेतु ससारहेतुमिथ्यादर्शनादिमार्गोपदेष्टु कुगुरो तस्य शिष्यस्य च सुजनैं सेवा स्तुतिश्च कदापि न कार्या। किन्तु स्वानदसौख्यजनकस्य सुगुरो अस्य शिष्यस्य च सुखदा सुसेवा सदा कार्या। तात्पर्यमेतत्-

स्वय विपयाणामभिलाषी लोभादिकपायवशित्वेनानेकारम्भसरभभारेणाकुल कामक्रोधादिभिर्विजितश्च पुरुषः स्वय धर्म-मार्गपराङ्मुख सन् अन्यानपि स्वच्छन्दानुवर्तिनश्शिष्यान् नानादु खसमीकीर्णे ससारकानने परिभ्रमन्परिभ्रामयति अत स्वहितमन्विच्छद्भिर्न कदापि तेपा कुगुरूणा तच्छिष्याना च सेवा स्तुति प्रशसादिक वा कार्यम्। स्वात्मसुखाभिलाषिण-स्ससारमार्गपराङ्मुखास्सन्ति सुगुरुव , येषामस्तगतो विषयाभिलाप , गृहत्यागिनस्ते वसन्ति भीमकानने स्वात्मचिन्तनाय, नि परिग्रहा नग्नशरीरा निर्मानिन क्रोधकामादिभिस्तु दूरत एव परिहृता शीलेशा पाणिपुटाहारिण परमदयालव परोपकारकरणव्यापारा । तेपाम् सुगुरूणा तच्छिष्याणा तत्सेवकाना तु सेवा-स्तुति प्रशसादिकम् वन्दनादिकञ्च सदैव स्वहितैपिभि कार्यम् । एवञ्च करणे स्वात्मोत्थ परमनिर्वाणसुख परिप्राप्नुवन्ति भक्ता । ४१ ।

पाचो इन्द्रियोकी अभिलाषाओके दास, आत्मबलहीन, लोभादिकषायके वशीभूत अनेक आरम्भ और परिग्रहके भारसे दबे हुए, कामक्रोधादि दुर्गुणोके द्वारा पराजित अपनेको गुरु माननेवाले अनेक पापी स्वय ससारके दुखोको भोगते हैं और अपने अनुयायी शिष्योको भी संसार चक्रमे परिभ्रमण कराते हैं। अतएव ऐसे कुगुरुओकी और उनके भक्तजनोकी सेवा स्तुति प्रशसा यावन्दनादिक कदापि नही करनी चाहिए। किन्तु स्वात्मसुखके अभिलाषी ससारके दु खमय मार्गसे विमुख जो सुगुरु हैं जिनकी विषयाभिलाषा नष्ट हो चुकी है, जो गृहत्यागकर स्वात्मचिन्तन मात्रके लिए भयकर वनोमे निवास करते हैं, जो स्वय ही परिग्रहसे दूर, नग्नशरीरमात्रसे भी मोह न रखनेवाले, मानसे रहित, कामक्रोधादि दुर्गुणोसे परित्यक्त, शीलके भण्डार, गृहस्थके द्वारा भक्तिपूर्वक दिए हुए रूखे-सूखे अन्नको अपने हस्तपुटमे रखकर ही खडे खडे एकबार निर्दोष आहार ग्रहण करनेवाले, परमदयालु, परोपकार करना ही जिनके जीवनका एक मात्र व्यापार है ऐसे परम वीतरागी महापुरुष 'सुगुरु' हैं। जो व्यक्ति ससारके दु खोसे भयभीत हैं, अनादिकालकी परम्परा द्वारा प्राप्त जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि अनिवार्य तथा विषयाभिलाषा, ईर्षा, द्वेष, दम्भ, कलह और वैर आदि स्वकृत महान् दुखोसे त्रस्त हैं और इनको दूर करना चाहते हैं उनका कर्त्तव्य है कि कुगुरु और उसके भक्तोका जो कि इन दु खोमे पगे है और इन दुखोंके मार्गमे ही चल रहे हैं सग त्यागकर सुगुरु और उनके भक्त शिष्यादिकोकी सगति करें। "सुगुरु" परमदयालु हैं, प्राणिमात्र पर उनकी अनुपम दया है, वे अपनी सहज वृत्तिसे प्राणियोके कल्याणकी कामना करते हैं, वे उस कामनाके बदलेमे तुमसे या किसीसे कुछ भी नही चाहते। न वे धन चाहते हैं न सेवा, न मान, न कीर्ति और न प्रशसा। इस परोपकारवृत्तिपर कोई कृतघ्न यदि उन्हे गाली दे, मारे या बध-बन्धनादि उपसर्ग भी करे तो भी वे अपने चित्तमे उद्विग्न नही होते, उस कृतघ्न पर क्रोधित नही होते, उसे शाप नही देते, उसे सद्बुद्धि आये ऐसी ही अभिलाषा रखते हैं। ऐसे परम सुगुरुकी तथा उन जैसे ही उनके भक्तोकी सेवा-स्तुति प्रशसादि तथा अनुकरण सदा करनी चाहिए, जिससे स्वात्मकल्याण हो। ४१ ।

इति षडनायतनस्वरूपम् ।

सम्यक्त्वके २५ दोषोंमें मददोषका निरूपण ।

प्रश्न :—भो ! ज्ञान प्राप्य किं कार्यं वद मे सिद्धये गुरो ।

हे गुरो ! ज्ञान प्राप्त करके स्वात्मसिद्धिके लिए और क्या कर्त्तव्य है ? कहिए—

(सन्ततिलका)

विज्ञानदानत इतीह भवेद्विवेक—
स्तद्बोधतो निजपदे स्थितिरेव ते स्यात् ।
ज्ञानादिदानमपि तत्र सदैव कार्यं
कार्यो मदो भयकरो भवदो न बुद्ध्वा ॥४२॥

विज्ञानदानत इत्यादिः—सुगमम् । भावस्त्वयम्—ज्ञान तु स्वात्मधनम् । तल्लक्षणो जीव । जीवमात्रे केवलज्ञानशक्तिर्विद्यते । ज्ञानावरणादिकर्मपराभूतत्वादेव मन्दज्ञानिनो दृश्यन्ते जीवा , स्वस्वज्ञानावरणक्षयोपमविजृम्भितज्ञानमात्राराधकास्सन्ति ते । स्वात्मावबोधकृता विवेकिना न कदापि ज्ञानादीनामहङ्कारो भवति । विज्ञानदानतस्तु तेषा विवेक एवोपजायते, विवेकतस्तु तेषा स्वात्मपदे एव स्थितिर्भवति न तु मदादिषु दुर्गुणेषु । मदादयस्तु स्वात्मविकारास्सन्ति । प्राणिमात्रे यदापूर्णज्ञानशक्तिर्विद्यते, इति जिनागमतो निश्चिन्वन्तस्तु सम्यग्दृष्टय कथ मदयुक्ता स्यु । हीनाधिकगुणेष्वेव मात्सर्यमदादीना सभावना भवति न तु समगुणेषु प्राणिषु तत्सभावना जायते । जिनागमश्रद्धया विरहिता मिथ्यादृष्टय हीनाधिकज्ञान प्राप्नुवन्त मद कुर्वन्ति । विशिष्टज्ञानिभि सदा ज्ञानदान कार्यम् । दानतस्तु ज्ञानस्य वृद्धिरेव भवति न कदापि हानि स्यात् । दानाभावे तु विद्या लुप्यते, तस्माद् विद्यादान स्वोपकार एव न परोपकार । मत्ताना तु ज्ञानादिगुण सदोषो भवति । सदोषस्तु ससारे परिभ्रामयति, दु खञ्चोत्पादयति इति बुद्ध्वा भवदो भवकरो मद न कदाचिदपि कार्य । ४२ ।

ज्ञान आत्माका लक्षण है । प्रत्येक जीवमे केवलज्ञान शक्ति है । ससार दशामे वह ज्ञान ज्ञानावरणादि कर्म द्वारा लुप्त सा हो रहा है, अत॰ जिन जीवोको कर्मका जितना क्षयोपशम प्राप्त है उतना ही ज्ञान खुला हुआ है । कर्मका नाश करनेपर पूर्ण ज्ञान प्रकाशमान हो जाता है । जिनागमके श्रद्धानवाले सम्यग्दृष्टि जीवोको उक्त प्रकारका पूर्ण निश्चय रहता है, इसलिए स्वात्मबोध प्राप्त उन विवेकी पुरुषोको ज्ञानादि जन्य अहकार नही उत्पन्न होता । उनकी बुद्धि दूसरोको ज्ञान दान देनेकी ओर ही प्रेरणा करती है । ज्ञान दानसे विवेक उत्पन्न होता है और विवेकसे वे स्वात्मपदमे ही रमण करते है । मदादि या मात्सर्यादि दुर्गुणोमे उनकी प्रवृत्ति नही जाती है ।

यदि ज्ञानादिमे हीनाधिकता हो तो मदादि उत्पन्न हो । जब सम्यग्दृष्टि जीवमात्रके परिपूर्ण ज्ञानरूपी धन है, ज्ञान जीवकी सम्पत्ति है ऐसा दृढ निश्चय रखता है तो ईर्ष्या मात्सर्य और मद उत्पन्न होनेका अवसर ही कहाँ है ? यदि इतने पर भी जिनको मद उत्पन्न होता है तो समझना चाहिए कि उनको सम्यग्दर्शन नही है, जिनोदित तत्त्व पर श्रद्धा नही है । सभी जीव अपनेको ज्ञानी और अन्यको अज्ञानी मानकर ज्ञानका गर्व करते है । क्योकि कर्मके क्षयोपशमके अनुसार सासारिक अवस्थामे ज्ञान गुणकी व्यक्तिमे हीनाधिकता पाई जाती है । अत अविवेकी मिथ्यादृष्टि मद करता है, विवेकी सम्यग्दृष्टि नही करता ।

विवेकी सोचता है कि ज्ञान दानसे ज्ञानकी वृद्धि होती है । कदापि हानि नही होती । दानके अभावमे विद्या लुप्त हो जाती है, इसलिए विद्या देना परोपकार नही, स्वोपकार है । स्वोपकार करते हुए यदि परोपकार हो जाय तो इसमे अहकारके लिए स्थान ही कहाँ है । फिर भी मिथ्यादृष्टि व्यर्थ ही अहकार करते हैं । अहकार ज्ञानादि गुणोका दूषण है । दूषण ससार परिभ्रमणका कारण है । ससारपरिभ्रमण जन्म जरा रोगाक्रान्त होनेसे दु खरूप है । इसलिए भयकर ससार दु खवर्द्धक ज्ञानका मद कदापि नही करना चाहिए ।४२।

प्रश्न'—किं पूजामदचिह्नं मे वदास्ति शान्तये गुरो ।

हे गुरो ! आठ मदोमे पूजाका मद क्या वस्तु है ? कृपया मेरे प्रश्नका समाधान कीजिए—

(वसन्ततिलका)

पूजादिदानकरणात् सुगुरोः प्रभोः स्यात्
पूजा सदा निजमतिर्विमलाऽपि कीर्त्तिः ।
स्वानन्दशुद्धहृदयश्च कृतीति बुद्ध्वा
पूजामद कुभवदं न करोति विज्ञः ॥४३॥

पूजादिदानकरणादित्यादि·—पूजया तत्र आहारादिचतुर्विधदानेन च दातुरेव लोके पूजा भवति । सर्वत्र तस्य विमला कीर्तिर्भवति । निजमति तस्य मतिरपि सदा विमला निर्दोषा भवति। अतएव एव विभावयेत् यत् पूज्याना गुरुपादाना पूजया एव मम कल्याण स्यात् । सुगुरो महानुपकारोऽस्ति यत् स मा कुमार्गात् परावृत्य सुमार्गे नियोजयति । सुमार्गचलनादेव स्वानन्दशुद्धहृदय स्वानन्दरूप शुद्धहृदय कृती च भवामि । इति बुद्ध्वा स विज्ञ कुभवद ससारार्णवकारणभूत पूजामदं कदाचिदपि न करोति । ४३ ।

सम्यक् वीतरागी, निर्मोही, विषयसगविरक्त, सच्चे साधुकी सेवा-विनय-पूजा तथा उनकी आहारादि दानसे शुश्रूषा आदिसे लोकमे दाताकी ही प्रतिष्ठा वढती है । उसकी लोकमे कीर्त्ति होती है तथा पवित्र भावनावाले साधुओकी सेवासे उसकी भावना भी पवित्र होती है । वह विचार करता है कि—यदि ससारमे मेरी कीर्त्ति है प्रतिष्ठा है तो यह कोई अभिमान करनेकी बात नही है । सुगुरु सेवा करनेवाले दाता धर्मात्माओकी प्रशसा सर्वत्र होती है । यह तो सुगुरुका मुझ पर महान् उपकार है जो मुझ जैसे अनादि कालसे भूले हुए पथिकको दुखके गर्त्तसे निकालकर कल्याणके सिंहासन पर बैठाया है । यदि मै सुमार्ग पर चलने लगा तो इसमे घमड करने योग्य क्या बात है । मै कुमार्गगामी था अत निन्दाका पात्र था, अब सुगुरु कृपासे निन्दाका पात्र नही रहा सो यह तो मेरा महान् उपकार हुआ । अब मै व्यर्थका घमड कर क्यो नरकादि कुगतिका पात्र बनूँ । इस तरहके विचारोसे वह बुद्धिमान् अपनी प्रतिष्ठाका मद नही करता और समभाव रहकर अपना कल्याण करता है । ४३ ।

प्रश्न —**उच्चकुलमदस्यास्ति किं चिह्न मे गुरो वद ।**

अह कुलवानस्मि इति कुलमदस्य किं लक्षणमस्ति इति हे गुरो मे कथय ।

हे पूज्य गुरुदेव "कुलमद" क्या वस्तु है उसके क्या चिह्न हैं ? यह मुझे स्पष्ट बताइए—

(अनुष्टुप्)

भवेदुच्चकुले जन्म दानपूजादिपुण्यतः ।
ज्ञात्वेति दानपूजादि कार्यमुच्चकुले यतः ॥४४॥
उच्चकुलमदः त्याज्यः कार्यं नोन्मत्तचेष्टितम् ।
वन्द्यः सर्वज्ञसन्देशस्तथा स्थाप्यो जनैर्हृदि ॥४५॥

भवेदित्यादिः—दानपूजादिपुण्यत सत्पात्रेषु दानत पूज्याना पूजया च प्राणिनामुच्चकुले जन्म भवति इति ज्ञात्वा यत उच्चकुले जन्म अस्ति अत दानपूजादि नियमत कार्यम् । यदि पूर्वजन्मकृतसत्पुण्येन भवता उच्चकुले

जन्म जात चेन्न कुलमदः कर्त्तव्य इति यावत् । नास्त्यत्र कश्चित् एतज्जन्मप्रयास' । पूर्वपुण्यानुसारेणैव उच्चकुलेषु जन्म जात, अत उच्चकुलमद त्याज्य । तथापि तत्करण उन्मत्तचेष्टित स्यात् । तच्च न कार्यम् । यत सर्वज्ञसन्देश भगवतो महावीरतीर्थकरस्य सन्देश वन्द्यस्तथा स्वहृदि जनै स्थापनीयश्च ।४४।४५।

उत्तम पात्र मुनि आदिको चतुर्विध दान देना तथा उनकी योग्यरीतिसे पूजा, विनय, सेवा और शुश्रूषा आदि करनेसे पुण्यका उत्पादन होता है और इस पुण्योदयसे जीवका उच्चलोक प्रतिष्ठित सदाचारी माननीय कुलमे जन्म होता है। यह कुलीनता पूर्व पुण्यका ही फल है। इस जन्मका कोई प्रयत्न नही है। तब उच्च कुलमे जन्म पानेका अभिमान कैसा। तो भी यदि कोई मूढ कुलका अभिमान करे तो यह उसकी उन्मत्त जैसी चेष्टा है। पागलोका प्रलाप है। इससे उसकी प्रतिष्ठा घटती ही है। अत इस चेष्टाको परित्याग कर परम पूज्य वन्दनीय सर्वज्ञ परमात्मा अर्हन्त देवका हितकर सन्देश अपने अपने हृदयोमे स्थापित करना चाहिए, क्योकि जिनोपदेश ही हमे दु खके मार्गसे विमुख कर सुखके स्थानमे पहुँचाएगा।४४।४५।

प्रश्न '—**चिह्न जातिमदस्यास्ति ब्रूहि मे सिद्धये गुरो** ।

हे गुरो! जातिमदस्य किं लक्षणमस्ति इति तन्निराकरणसिद्धये मे कथय ।

हे दयालो! जातिमदके निराकरणकी सिद्धिके लिए कृपाकर जातिमदके स्वरूपका प्रतिपादन कीजिए—

(अनुष्टुप्)

देवशास्त्रगुरूणां ये सेवां कुर्वन्ति भक्तितः ।
लभन्ते श्रेष्ठजातिं ते सुखं कौ मान्यतामपि ॥४६॥
ज्ञात्वा जातिमदो नेति कार्यो मर्मविदारकः ।
श्रेष्ठजात्यां यतो जन्म स्यात्ते स्वर्मोक्षदा मतिः ॥४७॥ युग्मम् ॥

देवशास्त्रगुरूणामित्यादि—सुगमम् । तात्पर्यमेतत्-मातृपक्षस्तु जाति', पितृपक्ष कुलमिति निर्णयात् स्वमातुलस्य तत्सम्बधात् तत्कुलस्य श्रेष्ठताया धनवत्ताया विद्वत्ताया प्रतिष्ठाया' बलवत्ताया मद न कुर्यात् । श्रेष्ठजातिषु तेषा प्राणिना जन्म स्वत एव भवति ये भक्तित सद्देवशास्त्रगुरूणा यथोचिता सेवा सविनय कुर्वन्ति । लोके तेषा प्रतिष्ठापि सजायते । स्वजातेरुच्चताया मदेन तदहकारेण लोकेऽप्रतिष्ठा भवति हीनजातिषु जन्म च भवति । इति ज्ञात्वा अन्येषा मर्मच्छेदकानि जातिमदसूचकानि वचनानि न वक्तव्यानि । यदि एव स्यात्तर्हि ते जन्मापि श्रेष्ठजात्या स्यात् तथा स्वर्गेषु परम्परया मोक्षे च समुत्पादका बुद्धिस्ते स्यादेव नात्र सशय ।४६।४७।

मातृपक्ष यदि विशुद्ध हो तो वह विशुद्ध जातिवाला मनुष्य है और यदि मातृपक्ष अविशुद्ध है तो वह जातिहीन है। मातृपक्षका उच्चताकी उसकी धनवत्ता बलवत्ता प्रतिष्ठा आदिका अभिमान करना ही जाति सबधी मद है। उच्च जातिवाला होने पर भी मनुष्यको उस उच्चताका अहकार न करना चाहिए। उच्चकुल या उच्चजातिमे जन्म उन महापुरुषोको स्वत प्राप्त होता है जो सद्देव, सद्धर्म तथा सद्गुरुकी भक्ति और विनयपूर्वक यथोचित सेवा करते हैं। ऐसे सदाचारी जातिविशुद्ध पुरुषका कर्त्तव्य है कि वह ऐसे मर्मघातक वचन किसीसे न कहे जिन वचनोसे उसका जात्यभिमान प्रकट हो। अभिमानी

पुरुष सदा परका पराभव करता है और उससे ही दूसरे पुरुषोको मानसिक भयंकर दुःख होता है। इसलिए अभिमानी पुरुष हिंसक हो जाता है।

अभिमानी पुरुषको ससारके दूसरे मनुष्य उच्च न मानकर नीचा ही मानते हैं भले ही वह उच्च-कुल या जातिका हो। अत उच्चजातिका होकर भी वह लोक व्यवहारमे जनताकी निगाहमे नीचा माना जाता है। इससे सक्लेश परिणामोमे वृद्धि होती है और सक्लेश परिणाम पापबधनका हेतु हैं तथा पापसे कुगति परिभ्रमण करना होता है। अत जो भव्य पुरुष स्वर्ग और परम्परासे मोक्षको भी प्रदान करने-वाली धर्मबुद्धिको उत्पन्न करना चाहता है उसे चाहिए कि भूल कर भी जाति सबधी अहकार न करे। और न दूसरोको पराभूत करनेका प्रयत्न करे। हीन जातिके मनुष्योंके साथ भी सद्व्यवहार रखे। उन्हे हीन समझकर उनका अनादर न करे। उनके सुधारके लिए केवल सदाचारका उपदेश करे। ऐसा करनेवाले व्यक्तियोका ही श्रेष्ठ जातिमे जन्म होता है। मद करनेवालेका जन्म तो नीच जातिमे ही होता है ।४६।४७।

प्रश्न —**चिह्नं बलमदस्यास्ति ब्रूहि मे शान्तये गुरो।**

हे गुरो! बलमदस्य कानि चिह्नानि इति मे शान्तिलाभाय कथय।

हे श्रेष्ठ! बलका मद कैसा होता है उसका क्या फल है, मुझे शान्तिलाभार्थ उसका स्वरूप प्रति-पादन कीजिए—

(वसन्ततिलका)

दीनात्मरक्षणत एव सुपुण्यतोऽपि,
स्वर्मोक्षसाधकतमं लभते बलं ना।
ज्ञात्वेति दीनजनरक्षणमेव कार्यं
दुःखप्रदो बलमदो न कदापि कार्यः ॥४८॥

दीनात्मेत्यादि—लोके बलवतामुपयोगिता दीनातिरक्षणे एव मन्यते जनै। तदुत्तमकार्यकरणादेव सुपुण्यत समुत्पन्नपुण्यत ना पुरुष स्वर्गमोक्षसाधक बल लभते। इति ज्ञात्वा दीनजनरक्षण दीनाश्च ते जनाश्च तेपा रक्षण विपत्तिदूरीकरण रुग्णावस्थाया शारीरिकसेवाकरण अन्यैर्बलवद्भि पीडिते सति तत्साहाय्यकरणमेव कार्यम्। अह बलवानस्मि को नाम मत्समक्षे स्थातु समर्थोऽस्ति? अन्यैस्तु निर्बलैर्मत्सेवैव करणीया अन्यथा तेषा विनाश एव समुपस्थितो भविष्यति इति बलमदेन अन्यतिरस्करण न्यायातिक्रमेण तेषामधिकारहापन दु खप्रदमस्ति इति ज्ञात्वा कदापि बलमदो न कार्य ।४८।

बलवान् पुरुषोके बलकी उपयोगिता दीन, निर्बल और त्रस्त लोगोंके रक्षणमे ही ससारमे मानी जाती है। इस परमोत्तम कार्यके द्वारा उत्पन्न श्रेष्ठ पुण्यके द्वारा ही उत्तम गतिके साधन प्राप्त होते हैं और परम्परासे मोक्षकी प्राप्ति होती है। इसलिए प्रत्येक व्यक्तिका यह सामान्य कर्त्तव्य है कि अपनी शक्तिका उपयोग सदा उन प्राणियोके रक्षणमे करे जिनका जीवन ही एक मात्र धन है। उनकी विप-त्तियोका दूर करना, रुग्णावस्थामे उनकी शारीरिक सेवा करना, दूसरे बलवानोके द्वारा सताए जानेवाले निर्बलोकी सहायता करना इत्यादि अनेक सदुपायोसे उनकी रक्षा करनी चाहिए।

मैं बलवान् हूँ, मेरे सामने कौन ठहर सकता है, निर्बलोको मेरी सेवा करनी होगी, नही तो वे तकलीफमे डाल दिए जाँयगे। उनका विनाश कर दूगा। इत्यादि कुभावोके द्वारा अपनी शक्तिका

अनुचित अहकारकर दूसरोका तिरस्कार करना न्याय मार्गका उल्लघनकर उनके अधिकार छीनना, उनपर अपनी सत्ता जमाना, अपना प्रभुत्व स्थापन करना, यह सब "बलमद" है। बलमदवाला पुरुष अन्यायके मार्ग पर जाता है, हिंसा करता है, पराया धन हडप जाता है, मिथ्या भाषण द्वारा स्वार्थसिद्धिके लिए दूसरो पर झूठा दोषारोपण करता है, पराई बहू बेटियोपर खोटी निगाह करता है और अपने घमडमे चूर होकर तरह तरहके अन्याय करते हुए भी नही डरता।

उसकी ये सब बातें उसे पारमार्थिक हानि तो पहुँचाती ही हैं पर लौकिक हानि भी पहुँचाती हैं। वह लोकमे निंद्य होता है, पापी गिना जाता है, आततायी और अत्याचारी माना जाता है, सभी लोग उसके पराभवकी काक्षा करते है और उसके पराभूत होने पर आनद मानते है। अतः प्रत्येक व्यक्तिको चाहिए कि अनिष्टकारक महान् दु खदायी इस "शक्तिमद" को कभी पास न आने दे। 'शक्ति' की प्राप्तिको दीनोके उद्धारमे व व्रत सयमके पालनमे लगावे जिससे कि उसका इस लोक और परलोकमे कल्याण हो।४८।

प्रश्न :—चिह्नमृद्धिमदस्यास्ति ब्रूहि मे सिद्धये गुरो।

धनमदस्य यच्चिह्नमस्ति तत् मे कार्यसिद्धचर्थं हे गुरो ! कथय।

धनका मद क्या है यह हे गुरो मेरे कार्यकी सिद्धिके लिए कृपया कहे—

(वसन्ततिलका)

ऋद्धिं सुविस्मयकरी व्रतदानधर्मा-
ज्ज्ञात्वेति शान्तिसुखदा भवतीह भव्य।
ऋद्धेर्विहाय कुमदं व्रतदानधर्मं
भक्त्या सदा कुरु यतश्च तवेष्टसिद्धिः ॥ ४९ ॥

ऋद्धीत्यादि'—हे भव्य ! इह लोके व्रतदानधर्मात् व्रतानाम्परिपालनात् सुपात्रदानात् दयादाक्षिण्यादिधर्मादेव सुविस्मयकरी लोकविस्मयकरी शातिमुखदा शान्तिप्रदा सुखप्रदा च ऋद्धि धनादिवैभव भवति सप्राप्यते। इति ज्ञात्वा ऋद्धे कुमद कुत्सितो मद कुमद, यथा—ऐश्वर्यमत्तानां पुरुषाणा विचित्रा स्थितिर्भवति, न ते गणयन्ति देवशास्त्र-गुरूनपि, तेषामपि निरादरस्तै क्रियते का कथान्येषाम्। अहमेव देवस्थानरक्षकोऽस्मि, मम गृहे यदि धनमस्ति तर्हि अनेके देवालया अनेकाश्च देवमूर्त्तयो निर्मापिता भविष्यन्ति, यद्यविनयादरक्षणाच्च शास्त्राणि कृमिकीटैर्भक्षितानि तर्हि का नो हानि ? अन्यान्यपि धनप्रदानेन विद्वद्भि लेखकैश्च लेख्यानि भविष्यन्ति, मुनिसघस्याहमेव सचालकोऽस्मि, धनाभावे कीदृशी गति स्याद् मुनीनाम्, सर्वोऽपि धर्मो मदधीन एव, मम दानादेव जिनालयेषु जिनपूजा भवति, अनेके विद्वास पठन पाठन च कुर्वन्ति, रुग्णा दीनजना औषधानि प्राप्नुवन्ति चतुर्विधसघस्य आहारादिक सपद्यते। इत्यादि प्रकारेण धनमद हिंसादिपञ्चमहापातकानामपि कारको ऋद्धिमद एव, सोऽभिमानी स्वधनबलेन महाहिंसामपि गोपयति। महदप्यसत्य सत्ये समारोपयति, विविधप्रकारादानप्रदानजालेषु दीनान् धनहीनान् पाशयित्वा कुसीदेन कुसीदस्यापि कुसीदेन च तान् निर्धनीकरोति। चौरयित्वा स्वबलेन अन्यधन महाजन स्वात्मान लोके साधुकारत्वेन ज्ञापयति। परवनितादिकमपि धनवलादाहृत्य शीलवानस्मि इति ज्ञापयति। न किञ्चित् गरीय पापमस्ति यत्तेन न क्रियते। तस्मात् सर्वप्रकारेण त (ऋद्धे कुमदम्) विहाय भक्त्या व्रतदानधर्मं सम्यग्व्रताना परिपालन जिनपूजाकरण शास्त्रसेवाकरण ज्ञानार्जन गुरुपादसेवाकरण सुपात्रेषु दान कुरु। यत यत्करणादेव तव इष्टसिद्धि स्वात्मकल्याण भवति इति विज्ञेयम्।४९।

हे भव्य पुरुषो ! व्रत पालन, सुपात्रदान, दया और उदारता आदि गुणोके द्वारा ही जीवनमे शान्ति और सुखकी दाता सामग्री प्राप्त होती है। केवल व्यापारादिके उद्योग या पुरुषार्थसे धनादिकी प्राप्ति नही होती। इस निश्चित सत्यको जो लोग नही जानते ऐसे मूर्ख ही अपने वैभवका अभिमान करते हैं।

ऐश्वर्यसे उन्मत्त पुरुषोकी स्थिति बहुत विचित्र होती है। वे देव, शास्त्र और गुरु जैसे परम उद्धारकोकी भी अवहेलना करते हैं। जब वे परम हितकारक देव, शास्त्र और गुरुकी भी अवहेलना करते हैं तब अन्य पुरुषोकी क्या कथा कहनी है। धनोन्मत्त पुरुष ऐसा मानता है कि मैं मन्दिरोका निर्माता हूँ, मैं देव स्थानोका व तीर्थस्थानोका रक्षक हूँ। यदि मेरे पास धन है तो बहुतसे मन्दिर और बहुत सी मूर्तियाँ बन सकती हैं। मन्दिरोकी पूजा प्रतिष्ठा रथयात्रा महाभिषेक आदि सम्पूर्ण सत्कार्य करना मेरे बाएँ हाथका खेल है।

शास्त्र भडारोमे यदि चूहे घुसते हैं, यदि कृमि कीट आदि शास्त्रोको नष्ट करते हैं तो हानि क्या है? और लिखा लिये जायगे। धन पाने पर बहुतसे पडित और लेखक अनेक शास्त्र रचकर तैयारकर रख देंगे। मैं मुनिसंघोका सचालक हूँ। यदि मै धन न खर्च करूँ तो मुनियोकी क्या दशा होगी? मेरे धनसे ही बडे बडे विद्यालय विश्वविद्यालय चल रहे है। पैसेके लिए ही तो बडे बडे विद्वान् पठन-पाठन करते हैं।

इस प्रकार धन या वैभव तथा अधिकारका अभिमान मनुष्यको धरती पर पैर नही रखने देता। वह चाहता है कि मै सबके ऊपर चलूँ। वह समझता है कि सारा ससार मेरा मुँह देखता है। सबकी दृष्टि चाहे वह गृहस्थ हो व साधु, दीन हो या श्रीमान्, बलवान् हो या निर्बल, पडित हो या मूर्ख, उद्योगी हो या निरुद्योगी, राजा हो या रक, पापी हो या धर्मात्मा, मेरे धनकी ओर है। मैं इन सबसे बडा हूँ। सब मेरा मान करते हैं। मेरा निरादर कोई नही कर सकता। मेरा निरादर करनेवालोकी खैरियत नही है। उसका जीवन दुष्कर हो जायगा।

ऐश्वर्यमत्त व्यक्ति पाच महापातकोसे भी नही डरता। वह महान् से महान् हिंसा, स्त्रीघात, बालघात, पुरुषघात, प्रतिघात तथा मुनिघात जैसी हिंसाको भी धनके बलसे छिपा लेता है। बडे बडे असत्यको भी सत्य स्थापित कर देता है। अनेक प्रकारके लेन देनके जालोमे दीन दुर्बल मनुष्यरूपी मछलियोको फास कर व्याज और महा व्याजसे उन्हे निर्धन बनाकर उनका सर्वस्व हरण कर लेता है। कर-बल-छलसे अन्य जनोका धनापहरण कर स्वय महाजन और साहूकार अपनेको प्रकट करता है। धनके बलपर दूसरोकी कन्याओका या वनिताओका अपहरण कर उनका शील नष्ट करके भी स्वय शीलवान् बनकर समाजमे प्रतिष्ठा स्थापित करनेका प्रयत्न करता है। ससारमे ऐसा कोई महान्से महान् पातक नही जिसे धनमत्त पुरुष न कर सकता हो। यदि अन्य पाप मात्र पाप है तो धनमत्तता पापोका पिता है, पापोकी खनि है, पापोकी जननी है।

अत सब प्रकारके प्रयत्नोसे अनर्थोत्पादक अहित कारक इस मदका त्यागकर धनका सदुपयोग भक्ति सहित विनयसहित जिनपूजामे लगाना शास्त्रोका उद्धार करना सुपात्रोको दान देना ज्ञानार्जनके कार्यमे लगाना रोगियोकी सेवामे खर्च करना ही परम श्रेयस्कर है और इससे ही धनप्राप्तिकी सफलता है। ऐसा करनेवाला निरहकारी पुरुष ही स्वात्मकल्याण कर सकता है यह जानना चाहिए।४९।

प्रश्न —**शरीरमदचिह्नं किं विद्यते मे गुरो वद।**

किं तत् शरीरमदचिह्नमस्ति ? हे गुरो कृपया ब्रूहि।

हे गुरो! शरीरमदका क्या स्वरूप है? कृपया कहिए—

[वसन्ततिलका]

अन्नौषधादिसुखहेतुविशेषदानाद्
देह व्रतादिकरणे लभते समर्थम् ।
ज्ञात्वेति कायकुमदो भवदो न कार्यः
स्वात्मान्यशुद्धिकरणे सततं स योज्यः ॥५०॥

अन्नौषधादित्यादि—ससारपरिभ्रमणरूपासु चतुर्गतिपु मध्ये मानवदेह एव सयमयोग्य इति कथयन्त्याचार्या । अन्नौपधादिसुखहेतुविशेपदानाद् अन्नौपधादीना सुखहेतु सुखकर यद् विशेषदान तस्मात् व्रतादिकरणे मोक्षसाधनभूत-व्रतोपवासादिविधाने समर्थं देहं शरीर लभते इति ज्ञात्वा भवद कायकुमद ससारपरिभ्रमणरूपदुखस्य बीजभूत कायमद कदापि न कार्य । किन्तु स्वात्मान्यशुद्धिकरणे स्वात्मशुद्धये परोपकृतये च सतत स देह योज्य ।५०।

यद्यपि ससार परिभ्रमणरूप चारो ही गतियोमे मनुष्य देह श्रेष्ठ मानी गई है, पर वह जिस कारणसे श्रेष्ठ है वह कारण है श्रेष्ठसयम । इसकी प्राप्ति अन्य किसी भी गतिमे नही होती । तिर्यञ्चोमे क्वचित् कदाचित् कथञ्चित् किसीको देशसयम होनेकी सभावना रहती है तथापि परिपूर्ण सयम कभी नही होता । उसे प्राप्त करनेकी एक मात्र सामर्थ्य मानव देहमे है और वह भी उच्चकुलीन पुरुष पर्याया-श्रित देहमे ।

यदि मानव देहकी उत्कृष्टताके उक्त कारणको छोडकर शरीरके स्वरूपपर विचार किया जाय तो यह देह महान् अपवित्र है । जिस देहका वीज मल है अर्थात् जो पुरुषके और स्त्रियोके रजवीर्यरूपी मलसे ही बनता है । तथा मलको उत्पादन करना ही जिसका एकमात्र कार्य है । नवद्वार जिसके सदा मलप्रवाही हैं । उस शरीरको सुन्दर मानना ही मूर्खता है, फिर सुन्दर मानकर उसका घमड करना तो महान् मूढता है ।

मोही जन ही ऐसे घृणित शरीरको सुदर मानते तथा उसमे रमण करते है । विवेकी पुरुष उसमे कभी रमण नही करते । मिथ्यात्वके उदयसे ही जीव हाड मास चर्बी रक्त पीप आदि महान् दुर्गन्धित और अस्पृश्य पदार्थोके योगसे बने इस शरीरको सजाते हैं और उसे सुन्दर मानते है । उसके लिए अच्छे अच्छे पदार्थोंकी उपमा देकर अपने ज्ञाता हृदयको भी धोखा देकर अपना अकल्याण करते हैं ।

सम्यग्दृष्टि पुरुष जिनके हृदयसे भ्रम दूर हो गया है वे वस्तुके ठीक-ठीक स्वरूपको जानते हैं । वे कभी भ्रममे नही पडते, वे झूठी उपमाओ और उत्प्रेक्षाओके जालमे पडकर अपना वस्तुतत्त्वका ज्ञान गदला नही करते । जब कि वे शरीरके वास्तविक रूपका ज्ञान रखते है तब ऐसी स्थितिमे वे शरीरका मद भी कभी नही करते । वे जानते हैं कि यह मद ससार परिभ्रमणका मूल है । वे शरीरकी उपयोगिता सयमके परिपालनमे मानकर सयमधारण करते है । तपस्याके द्वारा इन्द्रिय विषय और कषायोका निग्रह कर वे आत्मशुद्धिके मार्गमे बढते है तथा इस प्रकार स्वपरोपकार करते हुए अपना काल यापन करते हैं । यह कर्तव्य प्रत्येक मानवके लिए अनुकरणीय है ।५०।

प्रश्न.—**किं लक्षणं वद गुरो च तपोमदस्य ।**

हे गुरो ! तपोमदस्य किं चिह्नमस्ति ? कथय ।

हे गुरो ! तपमद कैसा होता है उसका क्या चिह्न है ? कृपा कर कहे—

(उपजाति)

इच्छानिरोधस्तपसः सुचिह्न
　　ज्ञात्वेति चोक्तं सुखद सुशान्त्यै ।
मोक्षस्य चेच्छापि भवस्य बन्धो
　　वद प्रभो ! चान्यकथास्ति का कौ ॥ ५१ ॥

इच्छानिरोध इत्यादिः—ससारपरिभ्रमणदु खवारणाय तप कुर्वन्ति तपस्विन । इच्छानिरोध पञ्चेन्द्रियाणा विपयेषु स्वेच्छाया रोधनमेव तपम चिह्नं लक्षणमस्ति इति ज्ञात्वा सुशान्त्यै ससारदु खशान्त्यर्थं तप सुखद उक्तम् । एव सत्यपि 'वय तपस्विन स्म , को नाम वर्तते एव दुष्कर तप कर्त्तुं समर्थो मदन्य'' इत्येवप्रकारेण तपसो मदो न कार्य । इच्छा एव दु ख वर्त्तते । इच्छारहिताना तु दु खस्य मात्रापि न स्यात् । ससारमार्गेऽपि दृश्यते यत् अल्पेच्छावान् पुरुपः स्वेच्छा स्वल्पप्रयत्नेन साधयति सुखी च भवति । नैकेच्छावता पुरुपाणा तु नैकविधप्रयत्नेनापि नेच्छाशान्तिर्भवति अत स न स्वल्पप्रयत्नेन सुखी भवति । अतएव सिद्धमेतत् यत् इच्छाया उत्पत्ति एव दु खोत्पत्ति कौ पृथिव्या अन्यकथा कास्ति दूरमास्ताम्, मोक्षस्यापि इच्छा भवस्य बन्धो बन्धहेतु । अत इच्छानिरोध कार्य इति तात्पयम् । ५१ ।

पाँचो इन्द्रियोके विषयोकी अभिलाषाको स्वेच्छासे रोकना यह तपका सामान्य लक्षण है । ससार परिभ्रमणके गहन दु खोसे छूटनेकी अभिलाषासे तपस्वी पुरुष तपकी आराधना करते है । उक्त अभिप्राय-की पूर्तिके लिए तप करना श्रेयस्कर है । ऐसे तपस्वियोमे अनेक ऐसे भी पुरुष हैं जिन्हे अपने द्वारा की जानेवाली उग्र तपस्याका गर्व उत्पन्न हो जाता है । वे यह कहने लगते हैं कि—हम तपस्वी हैं मेरे जैसा दुष्कर तप करने मे मेरे सिवाय और कौन समर्थ है । किन्तु इस प्रकारका तपस्याका मद कभी नही करना चाहिए ।

इच्छामात्र ही दु ख है । जो इच्छा रहित हैं उनके दु खका लेश भी नही है । यह बात ससार प्रसिद्ध है कि अल्प इच्छावाला पुरुष स्वल्प प्रयत्नसे अपनी इच्छाकी पूर्ति करके सुखी हो जाता है और अनेक इच्छाओवाला व्यक्ति अनेक प्रयत्नोसे भी अपनी इच्छा पूर्ति नहीं कर पाता और दु खी होता है । वह अपना शान्तिमय जीवन नही व्यतीत कर सकता । इससे यह सिद्ध है कि इच्छाका उत्पन्न होना दु खका ही उत्पन्न होना है ।

मोक्षप्राप्तिकी अभिलाषा यद्यपि प्रशस्त इच्छा है । उसका अर्थ ससारके विषय भोगोकी इच्छासे विमुक्त होना ही है, तथापि जब तक अन्य इच्छाओंके निरोधकी तरह मोक्षकी भी अभिलाषाका निरोधकर एकमात्र दृष्टि आत्मविशुद्धिकी ओर नही जाती तब तक मोक्ष भी दूर है । मुझे मोक्षकी प्राप्ति हो वह मुझे कब मिले ऐसी चिन्ता करनेवाला अपना समय व्यर्थ ही चिन्तामे खोता है । चिन्ता करनेसे कोई वस्तु नही मिलती, उसके लिए किए जानेवाले प्रयत्नमे सलग्न होनेसे ही उक्त उद्देश्यकी पूर्ति होती है । कर्तव्यविमूढ केवल चिन्तामे सलग्न तपस्वी अनेक वर्षोंकी तपस्या करनेपर भी मुक्तिको प्राप्त नही होता है । जब मोक्षाभिलाषा ही मोक्ष प्राप्तिमे बाधक है तब अन्य पदार्थोंकी अभिलाषाएँ कितनी अधिक बाधक होगी यह सहज ही समझमे आ जाता है ।

साराश यह कि मोक्षाभिलाषीको अपने उद्देश्यकी पूर्तिके लिए बनाए गए प्रयत्नोमे ही सलग्न रहना चाहिए । कर्त्तव्यशील व्यक्ति ही स्वोद्देश्यकी पूर्त्ति कर सकता है । कर्त्तव्य रहित चिन्तामात्र करने-

वाला चिन्ताशील व्यक्ति केवल चिन्ताका पात्र होता है और अल्प प्रयत्नको वडा प्रयत्न माननेवाला अथवा महान् प्रयत्नको भी अपने गर्वकी वस्तु माननेवाला व्यक्ति पथसे च्युत हो जाता है और वह कभी अपने लक्ष्यको प्राप्त नही होता। अत तपस्याका भी मद करना हेय है। ५१।

उपसंहार

(अनुष्टुप्)

मिथः क्लेशकर प्रोक्तं हीत्यष्टमदलक्षणम् ।
ज्ञात्वेति तान् मदांस्त्यक्त्वा भवेयुर्निर्मदाः सदा ॥ ५२ ॥

मिथ इत्यादिः—इति एवप्रकारेण मिथ क्लेशकर अष्टमदलक्षण प्रोक्तम्। अष्टावाश्रित्य गर्वकरण अष्टाना इति स्वरूप ज्ञात्वा मदान् त्यक्त्वा सदा निर्मदा भवेयु ।५२।

ऊपर कहे हुए परस्पर क्लेशकर आठो मदोका स्वरूप भली भाति समझ कर धर्मात्मा पुरुषोका कर्त्तव्य है कि वे इनसे अपनेको सदा दूर रखे और किसी भी प्रकारका मद न करें। अभिमानी स्वल्पोन्नतिमे सतोषी हो जाता और अपने अल्प गुणोको भी महान् गुण मान बैठता है। उसके इस भ्रमसे उसकी उन्नति रुक जाती है। वह अपनी उन्नतिका स्वय बाधक बन जाता है। सम्यग्दर्शन मोक्षका मूल है। किन्तु इन मदोसे उसकी जड पर ही कुठाराघात होता है और सम्यक्त्व सदोष हो जाता है। धर्मात्मा पुरुषोको इन मदोंसे दूर रहकर अपना सम्यक्त्व निर्मल बनाना चाहिए। ५२।

इस प्रकार आठ मदोके स्वरूपका विचार किया।

सम्यग्दृष्टि सप्त भय रहित होता है

प्रश्न —**इहलोकभयस्यास्ति किं चिह्नं मे गुरो वद ।**

सप्तभयेषु सर्वप्रथम इहलोकसवधिनो भयस्य स्वरूपनिरूपणार्थं पृच्छति शिष्य ।

भय सात प्रकारके होते हैं। उनका वर्णन इस प्रकरणमे क्रमसे किया है। इनमेसे सर्वप्रथम इस लोकसबधी भय है। इसका क्या स्वरूप है ऐसा शिष्य श्रीगुरुसे प्रश्न करता है—

(अनुष्टुप्)

स्वीयाज्ञानाद्यवस्थायां यत्किञ्चिद्धि कृत मया ।
तदेव भुज्यते काले भावो यस्येति जायते ॥५३॥
तस्येहलोकभीतिर्न जायते तत्त्ववेदिनः ।
सम्यग्दृष्टेस्तु जीवस्याऽचिन्त्योऽस्ति महिमा सदा ॥५४॥ युग्मम् ॥

अज्ञानादित्यादि :—सुगमम्। तात्पर्यमेतत्—इहलोकसवधिना जीवरक्षोपायभूताना पदार्थाना अर्जन तेपा सञ्चयञ्च कुर्वन्ति जना । एतत्कृते प्रयत्ने कृ सति यदि पौरुष विफल स्यात् तदा नानाचिन्ताभिर्भीतास्ते निरुत्साहा म्लानाश्च भवन्ति। सम्यग्दृष्टिस्तु जानाति यत् सर्वमेतत् मम कर्मफलमस्ति। निजार्जित कर्म विहाय कश्चिदपि मे हानिं वृद्धि वा कर्त्तुमसमर्थोऽस्ति। यत् किल स्वाज्ञानावस्थाया मयापराध कृत तत्फलमेव भुज्यते मयाऽधुना। एवविचार-यतस्तस्य स्वल्पमपि भयोत्पादन न भवति। तत्त्वस्वरूपबोधकस्य तस्य महान् महिमा अस्ति ।५३।५४।

लोकमे अपने अपने जीवनकी रक्षाके लिए अनेक पदार्थोंका अर्जन और सञ्चय तथा उनका रक्षण लोग करते हैं। उनके प्रयत्न करनेमे कदाचित् पौरुष विफल हो जाय तो अनेक चिन्ताएँ उन्हे आ घेरती हैं और वे जीवन रक्षाके अभावसे भयभीत हो उत्साह रहित होकर म्लानचित्त हो जाते हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्त्ववेदी है। वस्तुके स्वरूपका उसे परिज्ञान है। सपत्ति और विपत्ति दोनो अवस्थाओमे वह समभावी रहता है। न सपत्तिसे फूल उठता है और न विपत्तिमे चिन्तातुर होता है। वह जानता है कि मैंने पूर्वमे अच्छे या बुरे जो भी कर्म किए है उसके फलस्वरूप ही यह सपत्ति या विपत्ति है। अपने कर्मोदयके सिवाय अन्य कोई मेरी हानि या वृद्धि करनेमे समर्थ नही है। मैंने अपनी अज्ञानावस्थामे जो अपराध किए है उनका ही कटुक फल मै इस समय भोग रहा हूँ। इस प्रकारके तात्त्विक विचारसे उसका चित्त सदा निर्भय रहता है। उसके चित्तमे भयकी रेखाका कभी उदय नही होता। यह सब उस महान् तत्त्वबोधकी ही अचिन्त्य महिमा है कि जिससे वह सम्यग्दृष्टि विपत्तिमे भी सुखी और निर्भय तथा साहसी बना रहता है।५३।५४।

प्रश्न —परलोकभयस्यास्ति किं चिह्न मे गुरो वद।

हे गुरो! सप्तभयेषु परलोकसबधिनो भयस्य किं स्वरूपमस्ति इति मे कथय।

हे गुरुदेव! सात भयोमे दूसरा परलोक सबधी भय है उसका क्या स्वरूप है और उसका त्याग सम्यग्दृष्टि किस प्रकार करता है कृपया कहे। श्रीगुरु उत्तर देते हैं—

(अनुष्टुप्)

भवेऽस्मिन् यत् कृत किञ्चित् परस्मिन् भोक्ष्यते मया।
स एव तत्त्वतः श्रीदो भावो यस्येति वर्तते ॥५५॥
परलोकभय तस्य न स्याद्विज्ञानचक्षुषः।
शुद्धचिद्रूपमूर्त्तेः को ह्यगाधा महिमा मतः ॥५६॥

भवेऽस्मिन्नित्यादि.—सुगमम्। तात्पर्यमेतत् परलोकस्य भय न कर्त्तव्यम्। मिथ्यादृष्टय खलु एव विचारयन्ति यत् परलोकोऽस्ति न वा? यदि नास्ति तदा मम नाश एव स्यात्। यद्यस्ति तर्हि किं भविष्यति परत्र। कस्मिन् जन्मनि गमिष्यामि? कीदृशी तत्र दशा भविष्यति? एव चिन्तापरम्परया सीदन्ति भीताश्च भवन्ति। सम्यग्दृष्टिस्तु एव निश्चिनोति यत् तदेव प्राप्यते परत्र यदत्र जन्मनि मयारभ्यते। तत् परमपर वा किञ्चिदपि स्यात्। इच्छामि चेत् सुख परत्र कर्त्तव्य तया सुचरित मया। नास्ति भयस्य किञ्चिदपि कारण परलोक। परलोकस्य निर्माणमस्मदधीन वर्तते न तु पराधीनमस्ति। तदा कथ शोच्योऽहम्? स्वाधीनोऽह स्वभाग्यनिर्माणाय। कस्मात् तर्हि भीति स्यात। शुद्धचैतन्यतत्त्वमालोकयतस्तस्य ज्ञाननेत्रस्य महान् महिमा इति।५५।५६।

मिथ्यादृष्टि लोग ऐसा विचार करते है कि यथार्थमे परलोक है भी या नही। यदि नही है तो मेरा नाश ही हो जायगा। यदि परलोक है तो मेरा परलोकमे क्या होगा। किस योनिमे जाऊँगा मेरी वहाँ कैसी दशा होगी? इस प्रकारकी विषम चिन्ताओसे वह दुःखी तथा भयभीत होता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष ठीक इसके विपरीत यह निश्चय करता है कि परलोकमे वह होगा जैसा हम इस लोकमे करेंगे। यदि हम परलोकमे सुख चाहते हैं तो हमे इस लोकमे सदाचारसे रहना चाहिए। परलोकमे भयका कोई भी कारण नही है। परलोकका निर्माण हमारे ही अधीन है, पराधीन नही है। तब मैं क्यो व्यर्थ चिन्ता करूँ। मैं अपने भाग्यका निर्माता हूँ। फिर भय किस बातका? शुद्ध चैतन्य तत्त्वका

अवलोकन करनेवाले उस ज्ञाननेत्र पुरुषकी बहुत बडी महिमा है। वह कभी परलोक सबंधी भीतिको पास नही आने देता है। ५५। ५६।

प्रश्न :—वेदनाभयचिह्नं किं विद्यते मे गुरो ! वद।

हे गुरुदेव ! वेदनाभयस्य कानि चिह्नानि सन्ति इति कथय।

हे गुरुदेव ! तृतीय वेदना भयके क्या लक्षण है उनका स्वरूप बताइए—

(अनुष्टुप्)

यदि पुण्य कृतं तर्हि कथं रोगी भवाम्यहम्।
भवत्येव सदा पापी रोगी दीनोऽतिचञ्चलः॥ ५७॥
यस्येति तत्त्वतो भावस्तस्य तत्त्वार्थवेदिनः।
न वेदनाभय स्यात् कौ सद्दृष्टेर्महिमाऽचलः॥ ५८॥

यदि पुण्यमित्यादिः—सुगमम्। भावार्थस्त्वयम्—ससारे खलु जीवाना वेदनातो भवति भयम्। माभूत् कश्चिद्रोग मम। किं करिष्यामि रोगादिसन्निपाते जलोदरादौ क्षयादिके वा समुपस्थिते। कीदृशी महती वेदना तदा भविष्यति। कथमतिमात्रया सीदन्ति रोगिण। न तेषा किञ्चिदपि सुख सासारिक वैषयिक वा। व्यर्थमेव तेषा यौवन जीवितञ्च। इत्येव प्रकारेण वेदयतस्तस्य मिथ्यादृष्टे सदा नानाभयानि क्लेशयन्ति। सम्यग्दृष्टिस्तु सदा निर्भयो निरहकारो भवति। यदि पूर्वजन्मनि मया पुण्यकार्याणि कृतानि, रोगिणा दरिद्राणा विकलाङ्गाना असहायाना दीनाना सेवया तदुपयुक्तसाहाय्येन यदि मया पुण्यानि सञ्चितानि तदा न स्यात् मम शरीरे कश्चिद्रोग। नाह कदाचिदपि असहायी भविष्यामि। पापिनस्तु स्वकर्मविपाकवशादेव लोके रोगिणोऽतिदीना चञ्चलचित्ताश्च भवन्ति। यस्यैव निश्चयो वर्तते दृढहृदयस्य तस्य विमलदृष्टे, कथ स्यात् पृथिव्या किंचिदपि वेदनाभयम्? यथार्थतस्तु सम्यक्त्वस्य अति महिमा वर्तते येनासौ सदा निर्भयो विचरति लोके। ५७। ५८।

ससारमे प्राय सभी साधारण प्राणियोके मनमे इस प्रकारका अनागत भय बना रहता है कि मुझे कोई रोग न हो जाय। यदि मुझे जलोदर, क्षय और सग्रहणी आदि कोई भयकर रोग हो गया तो मैं क्या करूँगा कैसे अपने जीवनकी रक्षा करूँगा? रोग अवस्थाकी उस महती वेदनाको कैसे सहूँगा। देखो विचारे इन रोगोंके रोगी कितने दु खी हैं, उनका यौवन और जीवन दोनो व्यर्थ हैं। वे जीवनसे निराश पाले (हिमपात) से मारे हुए वृक्षो जैसा नीरस निष्फल जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इसी प्रकार जीवन मुझे भी भोगना पडेगा। इससे तो मरण अच्छा। ऐसे विचारोके द्वारा मिथ्यादृष्टि जनोके चित्त सदा क्लेशित, मोहित और भयभीत रहते हैं।

किन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुष सदा निर्भय रहता है। वह देहमे ममत्व तथा अहकार नही करता। वह जानता है कि यदि पूर्व जन्ममे मैंने पुण्यकार्य किए हैं, रोगी, दीन, दरिद्र, अङ्गहीन और असहायोकी सेवा और उनके लिए उपयुक्त उचित सहायता की है तो मैने अवश्य अनेक पुण्योका सञ्चय किया है। ऐसी स्थितिमे मै कभी भी रोगी, दीन और दरिद्र नही हो सकता और न कभी असहाय रहूँगा। पाप सञ्चय करनेवाले पुरुष ही अपने दुष्कर्मके विपाकवश रोगी, दीन और चञ्चलचित्त होते हैं, ऐसा श्री जिनेन्द्रका वचन है। यदि मैने भी पूर्वजन्ममे ऐसे पाप किए हैं तो मैं भी अवश्य ही रोगी और दुखी होऊँगा, फिर भी भय कैसा? पूर्वोपार्जित कर्मके फल भोगनेमे दीनता कैसी? ऐसा भय कायर पुरुष करते

है। मुझ जैसा साहसी जिन वचनके दृढनिश्चयी पुरुषको कायर बनना शोभास्पद नही है। ऐसा विचार करनेवाले सम्यग्दृष्टि पुरुषके कभी भी वेदना सबधी भय नही होता। सम्यक्त्वकी ऐसी ही महिमा है। ५७। ५८।

प्रश्न —मरणभयचिह्न किं विद्यते मे गुरो वद।

हे गुरो! मरणभय भवति मिथ्यादृशस्तस्य स्वरूप कथय।

हे गुरुदेव! मरण भय क्या है और मिथ्यादृष्टिके उस मरणभयके कारण क्या परिणाम होते हैं। सम्यग्दृष्टि उस भयसे कैसे विमुक्त रहता है, कृपाकर समझाइए। शिष्यके ऐसा प्रश्न करने पर सद्गुरु उत्तर देते हैं —

(उपजाति.)

यावत्प्रमोहो भुवि तावदेव जन्मापि मृत्युश्च भवेन्नरस्य।
वा यस्य जन्मास्ति च तस्य मृत्युः प्रियः सखा मे नववस्तुदाता॥ ५९॥
यस्येति भावोऽस्ति विवेकपूर्णो मृत्योर्भयं तस्य भवेन्न दुष्टम्।
चिद्रूपमूर्त्तेस्सुखशांतिभोक्तुरहो ह्यचिन्त्यो महिमा त्रिलोके॥ ६०॥ युग्मम्॥

यावदित्यादि —भावोऽयम्–शरीरपरिग्रह एव जन्म। शरीरविनाश एव मृत्यु। शरीर तु जीवात्मनस्सर्वथा पृथक् विभिन्नलक्षणकमस्ति। नास्ति जीवस्य जन्म मृत्युर्वा इत्येव तत्त्वे सुनिश्चितेऽपि मिथ्यात्वोदयवशात्खलु ससारिण प्राणिन शरीरजन्मनि स्वजन्म तस्य विनाशे स्वविनाश परिशीलयन्ति। एव विपरीतबोधात्तेषा शरीरगलनादेव स्वमृत्योर्भयम् समुत्पद्यते। यथार्थतस्तु भेदविज्ञानिन न कश्चिन्मोह स्यात् शरीरे। स निश्चिनोति यत् वर्तमानशरीरस्य विनाशेऽपि जन्मान्तरे पुनरपि शरीरोत्पादन भविष्यत्येव। यावत् खलु विधिपराधीनोऽह तावत् नानाजन्ममरणसकुले ससारे परिभ्रमण स्यादेव। यदि जीर्णं जरया मम शरीर तदा तु शरीरमेव मम महद्दु खकारणमस्ति। मृत्युस्तु मम सखा वर्तते यज्जीर्णशरीरादुत्थाप्य नवशरीर प्रवेशयति। कथ तस्मात् भय स्यात्। इत्येव विवेकपूर्णो भावो यस्य विद्यते तस्य शान्तमूर्त्ते स्वचित्चमत्कारमात्रस्य विवेकिन न कदापि मृत्युतो भय भवति। ऊर्ध्वाधोमध्यलोकेषु सर्वत्र निर्भय। तस्य अचिन्त्यो महिमा लोकेऽस्ति। ५९। ६०।

शरीरका प्राप्त होना ही जन्म है और उसका विनाश ही मरण है। जीवात्मा शरीरसे बिलकुल पृथक् लक्षणवाली वस्तु है। न तो जीवका कभी जन्म होता है और न मृत्यु ही। ऐसा तत्त्व निश्चित होनेपर भी मिथ्यात्वके उदयके वश ससारी प्राणी शरीर जन्ममे स्वजन्म और शरीरके विनाशमे अपना विनाश मान लेते हैं। उनकी ऐसी मिथ्या मान्यता ही उनके दु खका मूल है। इस मिथ्याभावभासनासे उन्हे मृत्युका महान् भय उपस्थित होता है।

भेदविज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुषको शरीरमे ऐसा कोई मोह नही होता। उसे यह निश्चय है कि इस जन्ममे इस शरीरका नाश हो जाने पर भी इस अमर आत्माको जन्मान्तर लेना पडेगा और वहाँ नवीन शरीर अवश्य प्राप्त होगा। जब तक मेरा जीव कर्मसे पराधीन है तब तक ऐसी अनेक योनियोमे जन्म मरण करने होगे।

मेरा यह जरासे जीर्ण शरीर छूटता है तो छूटने दो अब तो यह महारोगोका घर दु खका निदान है, इससे छुडानेवाली और नवीन शरीर प्रदान करनेवाली मृत्यु मेरे साथ मित्रताका ही कार्य कर रही है।

तब मृत्युसखासे भय कैसा ? ऐसा विवेकपूर्ण भाव जिस शान्तिमूर्ति विवेकी पुरुषके हो उस चैतन्य तत्त्वके दर्शी महापुरुषको मृत्युका भय अपने सन्मार्गसे कभी विचलित नही कर सकता। वह तीनो लोकोमे निर्भय होकर विचरता है। सम्यक्त्वकी यह अचिन्त्य महिमा है। ६०।

प्रश्न.—अरक्षाभयचिह्नं मे किमस्ति वद सिद्धये।

हे गुरो ! अरक्षाभयस्य किं स्वरूपमस्ति तन्मे कथय यत स्यात् मे सिद्धि ।

हे गुरो ! अरक्षाभयका स्वरूप कृपाकर बताइए जिसके परित्यागसे मै आत्मसिद्धिको प्राप्त कर सकूं। आचार्य उत्तर देते है—

(उपजातिः)

स्वात्मात्मना स्वात्मनि स्वात्मनो वा यथार्थतः कौ क्रियते स्वरक्षा।
पुण्येन रक्षा व्यवहारदृष्ट्या पापेन कस्यापि विलोकिता न॥ ६१॥
यस्येति भावोऽस्ति विवेकपूर्णोऽरक्षाभयं तस्य भवेन्न चित्ते।
निजात्मरक्षां हि निजात्मनैव प्रकुर्वतो ज्ञानदिवाकरस्य॥ ६२॥ युग्मम्॥

स्वात्मेत्यादि.—सुगमम्। तात्पर्यमेतत्—सप्तभयेषु एकमस्ति अरक्षाभयमिति। नास्ति मम रक्षक कश्चित्, कथ मे रक्षा स्यात् इति चिन्तया नाना पापानि कुर्वन्ति मिथ्यात्ववुद्धय। स्वशरीररक्षणार्थं शस्त्राणि धारयन्ति। चौरत स्वधनरक्षणार्थं गर्भगृहादिषु धन निक्षिपन्ति। स्वरक्षार्थं मिथ्यापि वदन्ति। इत्यनेन प्रकारेण स्वात्मान रक्षयितु मिथ्यामार्गमवलम्बन्ते ते। यथार्थतस्तु धनादिक पुद्गलद्रव्यमस्ति न तु जीवद्रव्येण तस्य कश्चित् सबध। तथापि मोहजन्यभ्रमवुद्धया धनादिभिरेव स्वरक्षामामनन्ति। आत्मनस्तु धन ज्ञानादिगुणा एव, तत्रैव तस्याधिकारोऽस्ति। एव प्रकारेणात्मनस्तत्त्व जानन्नेव स विज्ञानधन स्वात्मान क्रोधकामादिविकारत रक्षति। स तु स्वस्य आत्मन स्वात्मनि एव स्वात्मप्रयत्नेन रक्षा करोतीति तात्पर्यम्। नान्यो जीव नान्यत्पुद्गलादिक द्रव्य वा तस्य रक्षा कर्तुं सामर्थमस्ति। व्यवहारनयेनापि स्वकृतपुण्यकर्मणा विपत्तितो रक्षा भवति। पाप कुर्वता भवत्यन्ते विनाश एव। अतिदु खान्युत्पादयन्ति पापानि। इत्येवप्रकारेण निजात्मरक्षा कुर्वतस्तस्य विज्ञानदिनकरस्य विवेकेन परिपूर्ण परिणामो भवत्यत तस्य मनसि कदाचिदपि न स्यादरक्षाभय क्वचित्। ६१। ६२।

सात प्रकारके भयोमे 'अरक्षा भय' भी एक है। मिथ्यात्वके द्वारा जिनकी बुद्धि मोहित है वे सदा ऐसी चिन्ताओमे निमग्न रहते है कि ससारमे कोई मेरा रक्षक नही है। मेरी रक्षा कैसे हो ? इस अरक्षाकी चिन्ताको दूर करनेके लिए वे अनेक पाप करते हैं। शरीररक्षाके लिए शस्त्र रखते हैं। चोर आदिसे रक्षा करनेके लिए अपना धनादिक द्रव्य जमीनके भीतर गर्भगृह आदि बनाकर वहाँ छिपाते हैं। अनेक अपराधोको करते हुए भी अपराधोके दुष्फलोसे बचनेके लिए लोकके सामने मिथ्यावाद करते हैं। उचितानुचित प्रकारसे अनेक प्रकारके परिग्रहका सञ्चय करते है। इस प्रकार आत्मरक्षार्थ मिथ्यामार्गका अवलम्बन करते हैं।

निश्चयनयसे विचार कीजिए तो धनादिक परद्रव्य हैं—पुद्गल द्रव्य है। जीवद्रव्यकी रक्षासे उनका बिलकुल सम्बन्ध नही है। केवल मोहजन्य बुद्धिके भ्रमवश धनादिसे लोक स्वात्मरक्षा मानता है। आत्माका सच्चा धन ज्ञानादि गुण हैं। उनमे ही जीवका स्वाधिकार है। विज्ञानका धनी आत्मा आत्मतत्त्वके बाधक क्रोध व कामादि विकारोसे स्वात्माकी रक्षा करता है। वह अपनी आत्माकी यथार्थ

रक्षा अपने ही सत्प्रयत्नसे अपने ही भीतर करता है। वह जानता है कि मेरे सिवाय अन्य कोई जीव या अन्य कोई पुद्गलादि द्रव्य मेरी रक्षा करनेमे सर्वथा असमर्थ है।

व्यवहारनयसे भी विचार किया जाय तो जीवके सत्प्रयत्नो द्वारा अर्जित पुण्यकर्म ही विपत्तिसे रक्षा कर सकता है। पापसे तो केवल हानि ही है। पापी पुरुष तत्काल प्रसन्न भले ही हो पर अन्तमे वे अपनेको महान् दुखोमे फँसा हुआ पाते हैं।

उक्त प्रकारसे ज्ञानरूपी सूर्यके द्वारा जिनका विवेक पूर्णरीत्या जागृत हो गया है वे सम्यग्दृष्टि ही स्वात्मरक्षा करनेमे समर्थ है। ऐसे महापुरुषोंके कदाचित् और क्वचित् अरक्षाका भय उत्पन्न नही होता। वे साहसी सदा प्रसन्नचित्त और निर्भय हो स्वात्मकल्याणके मार्गपर बढते जाते है। ६१। ६२।

प्रश्न·—अगुप्तिभयचिह्न किं विद्यते मे गुरो वद।

हे गुरो ! अगुप्तिभयस्य किं चिह्न विद्यते इति मे कथय।

हे गुरुदेव अगुप्ति भयके स्वरूपका भी प्रतिपादन कीजिए जिसे त्यागकर सम्यग्दृष्टि मुक्तिके पात्र होते हैं —

(अनुष्टुप्)

यावन्मे वर्तते पुण्य चौराद्याः केऽपि मद्धनम्।
न हरन्ति गजाश्वादि पतितं यत्र कुत्रचित् ॥ ६३ ॥
स्वात्मास्ति तत्त्वतो गुप्तः शुद्धचिद्रूपनायकः।
यस्येति बोधदा बुद्धिस्तस्यागुप्तिभयं कुतः ॥ ६४ ॥ युग्मम् ॥

यावदित्यादिः—सुगमम्। भावस्त्वयम्—व्यवहारनयतस्तु एव विचार्यं यत् यावन्मे पुण्योदय स्यात् न तावत् काचिन्मे हानि स्यात्। यत्र कुत्रापि स्थापित निहित पतित विस्मृत वा मद्धन गजादिक अश्वादिक सुवर्णादिक वा न केचित् चौरा राजादयो वा हर्तुं समर्था भवन्ति। निश्चयनयतस्तु शुद्धचैतन्यज्ञानघनो जीव सदा गुप्त एव न तस्य हानादिक कर्तुं परद्रव्यादिक समर्थमस्ति। इत्येवप्रकारेण यस्य बोधदायिनी बुद्धिरस्ति तस्य कुतोऽपि अगुप्तिभय न स्यात्। ६३। ६४।

व्यवहार नयसे यह विचार करना चाहिए कि जब तक किसी भी जीवको पुण्यकर्मका तीव्रोदय है तब तक उसकी हानि करनेमे कोई समर्थ नही हो सकता। मेरा धनादिक हस्ती घोडा आदि द्रव्य या अन्य व्यवहारोपयोगी भोगोपभोगकी सामग्री चाहे वह कही भी रखी हो, भूली हुई हो, पराधीन हो पर उसे न चोर ले जा सकते हैं न राजादिक ही छीन सकते हैं। प्रत्युत वे सब मेरे सहायक ही होगे, विरोधक नही। हा पुण्यक्षीण होने पर मै कितना भी उपाय करू, कितना भी अधिक भोगोपभोगको गुप्त रखूं किन्तु मैं उन्हे बचाने मे असफल रहूँगा। निश्चयनयकी दृष्टिसे विचारिए तो आत्मा शुद्धज्ञान धनवाला है, अनन्तगुणोका भडार है। वे गुण आत्मद्रव्यसे कभी पृथक् नही हो सकते। कर्मका आवरण भले ही हो पर वे कर्म मेरे आत्मगुणोका नाश करनेमे समर्थ नही हैं। जैसे मदिरा पुरुषको मोहित कर उसे अपने गृह धनादि से दूर कर सकती है पर उन्हे नष्ट नही कर सकती वैसे ही मोह मदिरा जीवको भ्रममे डाले है जिससे जीव आत्मधनको भूलकर परद्रव्य पुद्गलादिकमे ही स्वस्वरूप देखता है, पर वह आत्माके परम-

धन गुणोका विनाश नही कर सकता। आत्मा स्वय रक्षित है उसे रक्षककी आवश्यकता नही है, ऐसी बोधदायिनी जिसकी बुद्धि है उस सम्यक्त्वीके कभी भी अगुप्ति भय नही हो सकता।६३।६४।

प्रश्न —अकस्माद् भयचिह्नं किं विद्यते मे गुरो वद।

हे गुरो! अकस्माद् भय किं ? तत्स्वरूपमपि मे कथय।

हे गुरुदेव। अकस्माद् भयका स्वरूप क्या है ? वह भी कृपाकर बताइए—

(अनुष्टुप्)

मत्पुण्यविशेषश्चेन्न पतेत्किञ्चिन्ममोपरि।
वा स्वचतुष्टये केऽपि न प्रविशन्ति वस्तुतः॥ ६५॥
परचतुष्टये नापि प्रविशामि परात्मके।
यस्येति बोधको भावस्तस्याकस्माद्भयं कुत॥ ६६॥ युग्मम्॥

मत्पुण्यमित्यादि —किमायाति काचिद्विपत्तिर्ममोपरि ? आकाशात् वज्रपातो भविष्यति चेत् किं कुर्मो वयम् ? अकस्मात् रोगादिके समायाते किं स्यात् ? निरपराधोऽप्यह केनचिद्राजकीयेनापराधेन न लिप्ये ? इत्येव प्रकारेण अकस्मादापत्तेराशङ्कया भीतित्वम् 'अकस्माद् भयम्' कथ्यते। समुत्पद्यते च मोहिना तत्।

सम्यग्दृष्टिस्तु विचारयति यदि मत्पुण्यविशेषश्चेत् मम पुण्योदयो वर्तते तर्हि न ममोपरि अकस्मात् किञ्चित् वज्रादिक रोगादिकम् विपत्त्यादिक वा पतेत्। यदि पुण्योदयो न स्यात् तर्हि किं भीत्या तदा स्यात् ? कर्मफल स्वार्जितन्तु भोक्तव्यमेव। वा अथवा स्वचतुष्टये स्वात्मद्रव्ये स्वात्मप्रदेशरूपे स्वक्षेत्रे स्वात्मपर्यायरूपे स्वकाले स्वचैतन्यस्वरूपके स्वभावे वस्तुत न केऽपि परपदार्था प्रविशन्ति, अतत्स्वभावत्वात्तेषाम्। अहमपि परात्मके परचतुष्टये मूर्त्तामूर्त्तस्वरूपेषु पुद्गलजीवधर्माधर्मकालाकाशादिरूपेषु द्रव्येषु तेषा स्वप्रदेशस्वरूपेषु क्षेत्रेषु तत्परिवर्तन-परिणामरूपेषु कालेषु स्वभिन्नभिन्नलक्षणाक्रान्तत्वात् भिन्नरूपेषु स्वभावेषु एतत्परचतुष्टयरूपेषु चेतनाचेत-नात्मकेषु न कदापि प्रविशामि। यस्य विवेकिन इति एवविधो बोधक भाव विद्यते तस्य अकस्माद्भय कुत स्यात्। ६५। ६६।

यदि मेरे पुण्यका प्रवल उदय है तो कोई विपदा मेरे ऊपर नही आ सकती। न तो अन्य मेरे द्रव्यादि चतुष्टयमे प्रवेश कर सकते है और न मै अन्य किसीके द्रव्यादि चतुष्टय मे प्रवेश कर सकता हूँ। ऐसे विचारपूर्ण जिसके परिणाम होते हैं, उसे अकस्माद् भय कैसे हो सकता है ?

विशेषार्थ—मिथ्यात्वसे जिनकी बुद्धि मोहित है उनके विचार सदा मिथ्या विचारो मे घूमते रहते है। वे विना कारण भी सोचा करते है कि मेरे ऊपर कोई विपत्ति अचानक न आ जाय ? आकाशसे बिजली अमुक जगह गिरी है ऐसा सुना है, कही मेरे ऊपर बिजली गिर पडे तो क्या होगा ? अमुक पुरुष रोगके कारण बहुत कष्टमे है। कही मेरे ऐसा रोग हो गया तो क्या होगा ? मै क्या करूँगा ? अनेक राजबन्दीगृहमे बहुत बड़े बडे कष्ट उठाते है, मारे जाते है, पीटे जाते हैं। मै तो निरपराध हूँ। पर यदि मुझ पर ही कोई मिथ्या राजकीय अपराध लगा दे तो मेरी क्या दशा होगी। इत्यादि प्रकारसे अकस्मात् भयके कारणो की शङ्काकर मिथ्यादृष्टि जन दु खित होते है।

किन्तु वस्तुतत्त्वके वेत्ता पुरुष ऐसी शका या भय नही करते। सद्बुद्धिवाले व्यक्तिको यह

विचार करना चाहिए कि मेरे यदि पुण्योदय विशेष है तो इनमें से कोई भी विपत्तियाँ मुझपर कदापि नही आ सकती। यदि कदाचित् मेरा पुण्य क्षीण होगा और पापोदय प्रबल होगा तो मैं केवल भय करके भी तो नही बच सकता। स्वार्जित कर्म पुण्य हो या पाप उसका फल भोगना अनिवार्य है, तब उससे भय कैसा ? यदि मैं कर्मोदयका फल नही भोगना चाहता तो मुझे भविष्यके लिए सावधान हो जाना चाहिए। मुझे उचित यह है कि मै ऐसे कर्म अब न करूँ जिनसे भविष्य मे दु ख या अशान्तिका भाजन बनना पडे।

मैं अपने आत्माका स्वामी हूँ। मेरे ज्ञान दशन सुख क्षमा सन्तोष आदि पवित्र गुण हैं। ससारमे कर्मोदयके कारण मेरे नरनारकादि पर्यायें होती हैं। तथापि शुद्ध विज्ञानमय स्वानन्दमय परणति ही मेरी परणति है। मेरा आत्मा असख्यप्रदेशी है, अमूर्तिक है, पुद्‌गलादि परपदार्थोसे सर्वथा भिन्न है। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावका धनी है। पुद्‌गलादि अचेतन द्रव्य और अन्य जीवादि सचेतन द्रव्योसे, उनके प्रदेशोसे, उनकी परणतियो से और उनके स्वतन्त्र गुणोसे मुझे कोई प्रयोजन नही है। वे सब परचतुष्टय न मेरे है और न मैं उनका हूँ। न वे मुझमे प्रवेश कर सकते है, और न मै उनमे प्रवेश कर सकता हूँ। न वे मेरा बिगाड कर सकते हैं और न मैं उनका बिगाड कर सकता हूँ। ऐसा वस्तु स्वरूप होते हुए भी मै पर द्रव्योके अनायास निमित्त मिलने पर या मिलनेकी व्यर्थ की आशका पर भयभीत होकर अकस्मात् भयका पात्र बनकर अपने चैतन्यस्वरूपसे विहीन होकर दु खी बन जाऊँ तो यह मेरा बहुत बडा अज्ञान होगा।

ऐसे वस्तुके यथार्थ स्वरुपके विचार करने पर सम्यग्दृष्टिके किसी भी प्रकारके भयका सञ्चार नही होता। वह स्वात्मस्वरूपमे दृढ होकर अपनेको सब प्रकारसे सुरक्षित मानता है। वह जानता है कि जब मेरा आत्मा अखण्ड, अच्छेद्य और अभेद्य है तब किसी पदार्थसे भय कैसा ? वह ज्ञानवान् होकर सदा निर्भय विचरण करता है। ६५। ६६।

उपसहार

(अनुष्टुप्)

इति सप्तभयादीनां स्वरूप कथित मया।
सर्वेषां धीमता शान्त्यै कुन्थुसागरसूरिणा ॥ ६७ ॥

इतीत्यादि :—इत्येव उक्तप्रकारेण धीमता बुद्धिमता श्रीकुन्थुसागरसूरिणा आचार्यवर्येण कुन्थुसागरेण सप्तभयादीना स्वरूप तत्परिहारोपायश्च निरूपित। यतस्स्यात् सर्वेषामपि जीवाना शान्तिलाभ। सम्यक्त्वप्राप्तिश्च स्यात्। ६७।

ऊपर लिखे प्रकारसे बुद्धिवैभवशाली श्री १०८ आचार्यवर्य कुन्थुसागर महाराजने जीवोके शान्ति लाभके लिए तथा सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिए अथवा सम्यक्त्वके निर्मल बनानेके लिए सप्त भय आदिका स्वरूप तथा उनसे दूर रहनेके सदुपायोका वर्णन किया। ६७।

इति भयसप्तकनिरूपणम्।

सवेगादि-अष्टगुणनिरूपणम्

(अनुष्टुप्)

सवेगाद्यष्टधर्माश्च श्राद्धानां सन्ति कीदृशाः ।
वद तेषां स्वरूप मे तेषु वृत्तिर्भवेद्यथा ।।

प्रश्न —हे गुरो ! सवेगादीना अष्टाना धर्माणा स्वरूप कथय यतस्तेषु मम वृत्तिर्भवेत् ।

हे गुरुदेव ! सम्यक्त्वीके सवेग और निर्वेद आदिक अष्ट गुण होते हैं उनका क्या स्वरूप है कृपाकर कहिए ताकि उनके पालनेमे मेरी प्रवृत्ति हो—

संवेगका स्वरूप

(अनुष्टुप्)

स्वधर्मे सुखदे प्रीतिरधर्मे दुःखदेऽरुचिः ।
भावो यस्येति स्यात्तस्य सवेगः सुखदो गुणः ।। ६८ ।।

स्वधर्म इत्यादि :—सुखदे स्वधर्मे स्वानन्दसुखस्वरूपे आत्मधर्मे क्षमादौ यदा प्रीतिरुत्पद्यते । तथा दु खदे दु खदायिनि अधर्मे तद्विपरीते अनात्मधर्मेऽरुचि सजायते । यस्य जीवस्य इति भाव स्यात्तस्य सुखद सवेगो नाम प्रथमो गुण स्यात् ।। ६८ ।

चतुर्गति परिभ्रमण ही ससार है। ससार रूप इस परिभ्रमणमे यह जीव अनेक भातिके दु ख उठाता है। यह ससारवृक्ष कर्ममूलक है। कर्मोदयसे ही जीव चतुर्गतिमे परिभ्रमण करता है। इस दु ख मूलक ससारसे उद्वेग उत्पन्न होना अर्थात् अरुचि उत्पन्न होना यही सवेगनामा गुण है। जिस बुद्धिमान्‌को ससारोत्पादक अधर्ममे अरुचि होती है उसके दया, क्षमा, निरहकार, सरलता, अपरिग्रहत्व और ब्रह्मचर्य आदि पवित्र गुणोमे स्वय प्रीति उत्पन्न होती है। ये दोनो ही प्रकार सवेग गुणके रूपान्तर है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि सप्तभय रहित होता है तथापि वह ससारके दु खोसे भयभीत होता है। इन दोनो भयोमे महान् अन्तर है। सप्त भय पर पदार्थके निमित्त जन्य भ्रमवश मोहोदयसे होते है, पर यह सवेग जनित भय स्वपदार्थके यथार्थ बोध होनेसे तथा परपरणतिस्वरूप अपनी अज्ञानता पर खेद होनेसे परके मोहके अभावमे होता है। इस प्रकार दोनोमे महान् अन्तर है। सप्त भय त्याज्य है। उनका अस्तित्व मिथ्यात्वके अस्तित्वका सूचक है, किन्तु ससारपरिभ्रमणसे भीरुता मोक्षसुख प्राप्तिके प्रति उत्साह और साहस प्रदान करता है। अत वह भीरुता भी वीरता है। यही सवेग नामा प्रथम गुण है। ६८।

निर्वेग गुणका स्वरूप

(इन्द्रवज्रा)

ससारदेहे विषये विरक्तो यः शुद्धचिद्रूपसुखेऽनुरक्तः ।
स्वानन्दमूर्त्तेः सुमतेः कृपाब्धेः स्यात्तस्य निर्वेगगुणः पवित्रः ।। ६९ ।।

संसारेत्यादि :—भावान्वयम्—संसाराद् भीतितानिमित्तेन संवेगेन स जीव संसारात् देहात् विषय-गुणाच्च यदा विरक्तो भवति तथा निर्विकारस्वरूपे चैतन्यगुणे चानुरक्तो भवति तदा परमानन्दस्वरूपस्य तस्य दयासागरस्य निर्वेगनामक पवित्रगुणस्य प्राप्तिर्भवति । स एव निर्वेगगुण इत्यर्थः । ६९ ।

प्रथम सवेगका स्वरूप बताया था कि ससारसे भीरुताका नाम सवेग है। इस भीरुताका फल जीवकी ससार, देह और विषयभोगोसे विरक्ति है। जो पुरुष ससारकी असारता, अनित्यता, और अशरणताको देखकर उससे विरक्त होता है, घृणास्पद देहके यथार्थ स्वरूपका चिन्तवन कर और कामिनियोकी सुन्दरताको मलसे भरे हुए सुवर्णके घडेकी तरह समझकर काम भोगादिकोसे अरुचि करने लगता है तथा पाचो ही इन्द्रियोके विषयोके सुखोको अन्तमे नीरस देखकर उनकी अभिलाषासे चित्तवृत्तिको हटाता है वही सम्यक् विचारवान् अपने परमानन्दस्वरूप, निरजन, निर्विकार, कर्म कालिमा-रहित और चैतन्यस्वरूप आत्माके प्रति अनुरागी हो जाता है। उस दयासागर आनन्दमूर्ति बुद्धिमान्की यह प्रवृत्ति ही निर्वेग नामा गुण है जो सम्यक्त्वका साधक है। ६९।

उपशम गुणका स्वरूप

(अनुष्टुप्)

क्रोधादेर्दुःखदस्यास्ति मन्दता यस्य सौम्यता ।
स्यादुपशमगुणस्तस्य मिथः श्रीदः सुखप्रद ॥ ७० ॥

क्रोधेत्यादि :—उपशम शान्तिरित्यर्थ। यदा यस्य दु खदस्य अनन्तदु खोत्पादकस्य क्रोधादे मन्दता भवति तथा सौम्यता सौम्यत्वमायाति परिणामे तदा तस्य सुखप्रद श्रीद कल्याणकारी च परिणाम एवोपशमगुण स्यात्। ७०।

क्रोधादि परिणाम आत्माको सदा दु खदाता है। क्रोधी स्वहिंसक है और परहिंसक है। क्रोधसे हिंसा तो होती ही है पर अन्य भी लोभ, भीरुत्व और अहकार आदि दुर्गुण उत्पन्न होते हैं। ये सब दुर्गुण अनात्म स्वरूप होनेसे अनन्त दु खके प्रदाता हैं। जब जीव अपने सत्प्रयत्नो द्वारा इन क्रोधादि परिणामोकी मन्दता करता है तब उसके आत्मामे जो सन्तोष व शान्ति होती हैं उसे ही उपशम गुण कहते हैं। इस गुण से मनुष्यकी प्रकृतिमे सौम्यता आ जाती है। दृष्टि बदल जाती है। यह उपशम गुण आत्माको अनेक दु खोसे बचाता है और कल्याणके मार्गको प्रकट करता है। इस गुणकी प्राप्तिके विना जीवको सम्यग्दर्शनका लाभ नही हो सकता। मिथ्यात्वका उपशम हो जानेपर भी यदि अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया या लोभ इनमेसे किसीका उदय हो तो सम्यक्त्वका नाश हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि 'उपशम' सम्यक्त्वीका प्रधान गुण है। ७०।

स्वनिन्दा नामक गुणका स्वरूप

(अनुष्टुप्)

विद्यमाने गुणे श्रेष्ठे स्वात्मनि सुखदे सदा ।
स्वनिन्दां कुरुते तस्य स्यात् स्वनिन्दागुण प्रिय ॥ ७१ ॥

विद्यमाने इत्यादि :—ससारावस्थाया सर्वेऽपि मनुजा गुणदोषभाजस्सन्ति। कश्चित् सर्वथा गुण-रहितोऽपि न तथा सवथा दोषरहितोऽपि न। सम्यग्दृष्टेरपि स्वात्मनि दोषा सन्ति गुणा अपि। स्वात्मनि सुखदे श्रेष्ठे गुणे विद्यमानेऽपि यो न तत्र दृष्टि ददाति, किन्तु स्वल्पमपि विद्यमान दोष दूरीकर्त्तुं यतते अतस्स दोषनिमित्तेन स्वनिन्दामेव कुरुते। तस्य सद्दृष्टे स स्वनिन्दानामा गुण स्यात्। ७१।

संसारमे ऐसा कोई मनुष्य नही है जिसमे गुण या दोष न हो। किसीमे गुण अधिक हैं तो दोष भी कोई न कोई पाया जाता है और किसीमे यदि दोष बाहुल्य है तो एक-दो गुण भी उसमे पाए जाते

हैं। सम्यग्दृष्टि आत्मामे उक्त नियमानुसार दोष भी हैं तथा सम्यक्त्वादि अनेक गुण भी हैं। ऐसा होनेपर भी सम्यग्दृष्टि अपनेमे विद्यमान अनेक श्रेष्ठ गुणोकी ओर लक्ष्य नही करता, किन्तु यदि उसमे स्वल्प भी दोष है तो उसे दूर करनेके लिए स्वनिन्दा करता हुआ उस दोषको दूर करनेका प्रयत्न करता है। सम्यग्दृष्टिका यह स्वनिन्दाकरण भी एक गुण है जो सम्यक्त्वमे उज्ज्वलता लाता है।

विशेषार्थ–उन्नतिका एक मात्र साधन यही है कि कोई भी व्यक्ति सदा स्वदोषोका निरीक्षण करे तथा उसे दूर करनेका प्रयत्न करे। जब तक उक्त दोष दूर न हो, या दूर करनेमे अपनी दुर्बलता हो तो उसे आत्मग्लानि होना स्वाभाविक है। आत्मग्लानि होनेसे आत्मनिन्दा स्वत होती है। और इस निन्दाको न सह सकनेके कारण वह उक्त दोपसे अपनेको मुक्त कर लेता है अर्थात् दोष रहित बन जाता है।

जो मनुष्य अपने दोषका निरीक्षण नही करते किन्तु अपनेमे होनेवाले थोडेसे भी गुणको देखकर फूले नही समाते और उसके निमित्तसे स्वात्मप्रशसा करते हैं उनकी उन्नति रुक जाती है। स्वात्म-प्रशसाको ही अपनी कीर्तिका प्रसार समझकर हर्षोन्मत्त होने लगते है और वे थोडे गुणोको अधिक बनाकर अथवा गुण न होनेपर भी अपनेको गुणवान् बनाकर मिथ्या भाषण कर कीर्तिको प्राप्त करना चाहते है। वे इस लोभका सवरण नही कर सकते। 'लोभसे पाप उत्पन्न होता है' इस उक्तिके अनुसार कीर्तिलोलुपी मिथ्याभाषण, विश्वासघात, मायाचारी और कपट व्यवहार आदि पापोको स्वीकार कर अपनेमे रहनेवाले पूर्वके थोडेसे भी गुणोको नष्ट कर डालते हैं और इस प्रकार उनकी उन्नतिका अध्याय समाप्त होकर अध पातका अध्याय प्रारभ हो जाता है।

स्वात्मप्रशसा करनेवाले परनिन्दा भी अवश्य करते हैं। बिना ऐसा किए उनका स्वात्मकीर्तनका स्वाग नही जमता है। अत दिन दिन वे दुर्गुणोके पात्र होकर नीच गोत्रका बधकर ससार परिभ्रमणके पात्र बनते है। सम्यग्दृष्टि ठीक इसके विपरीत स्वदोषनिन्दा, परगुणप्रशसा, स्वदोषवारण, परगुण-ग्रहण, स्वगुण कथनमे उपेक्षा और परदोष कथनमे भी उपेक्षा भाव इन गुणोके कारण सर्वदोषसे दूर होकर अनेक गुणोके पात्र होते हैं। यह सब उनके "स्वात्मनिन्दा" नामक गुणका श्रेष्ठतम कार्य है। इसलिए आत्महितैषीको यह गुण सदा अपनाना चाहिए। ७१।

गर्हा-गुणका स्वरूप

(अनुष्टुप्)

धनादिकारणाद् गर्वः स्याच्चित्ते यदि दुखदः।
तन्निन्दाकरणं नून श्रीदो गर्हागुणः प्रियः॥ ७२॥

धनादीत्यादि —कदाचित् कर्मोदयात् धनादिकारणाद् धनप्राप्तिनिमित्तेन गुणप्राप्तिनिमित्तेन-लोकप्रतिष्ठा-प्राप्तिनिमित्तेन राज्याधिकारनिमित्तेन वा चित्ते यदि दु खद गर्व गर्वोत्पत्ति स्यात् तदा सद्दृष्टेस्तत्कालमेव नून निश्चयेन तन्निन्दाकरण श्रीद कल्याणप्रद प्रियश्च गर्हानामा गुण स्यात्। ७२।

सम्यग्दृष्टि पुरुषको भी कदाचित् कर्मोदयवशात् धनकी प्राप्ति होनेसे, अनेक गुणोकी प्राप्ति हो जानेसे, कीर्ति फैल जानेसे, राज्य सबधी अधिकार बलसे और अनेक विद्याओमे अपनेको पारङ्गत देख करके गर्व आ सकता है। सुन्दरशरीर, यौवनावस्था, अनेक प्रकारकी भोगोपभोग सामग्रीकी प्राप्ति, सुपुत्र का होना, आज्ञाकारी पुत्रका होना, रूपवती सुलक्षण पतिव्रता भार्याका पाना और अनेक प्रकारमे

सामाजिक या राजकीय सम्मानकी प्राप्तिका होना इत्यादि अनेक कारण है जिनका गर्व मनुष्यको उत्पन्न होता है। उक्त प्रकारसे गर्वोन्नत मनुष्योके मध्यमे रहनेवाले सम्यग्दृष्टिको भी कदाचिद् ये सब दुर्गुण उत्पन्न हो सकते हैं तथापि वह सदा आत्महितमे सतर्क रहता है। अत कभी गर्व उत्पन्न भी हो जाय तो तत्काल अपने गर्वकी निन्दा करता है। यह परनिमित्तजन्य हो जानेवाले गर्वको दूर करनेकी प्रक्रिया ही सम्यग्दृष्टिका 'गर्हा' नामक विशिष्ट गुण है।

विशेषार्थ-सम्यग्दृष्टि सदा अपनी दृष्टिको आत्मगुणोकी प्राप्तिकी ओर रखता है। सासारिक वस्तुओ का भोग करते हुए भी वह उनको आत्माके भोग योग्य नही मानता। यह ससार जिसमे केवल पुद्गल नृत्य करता है उसका ससार नही है। उसका ससार तो चैतन्यमय लोक है। वह उसमे ही रमण करना चाहता है। यद्यपि इस जडात्मक ससारसे वह उद्विग्न है तथापि कर्मोदयवशात् उसे परित्याग करनेमे अपनेको असमर्थ पाता है। उसकी अवस्था उस मनुष्यके समान है जो अचेतावस्थामे बाँधकर जगलमे डाल दिया गया है और चेतावस्थामे आकर भी अपनी पराधीनताको देखकर, जानकर और उसके छूटनेकी अभिलाषा रखकर भी अपनेको छुडा नही पाता। अतएव वही छटपटाता रहता है। धन, सपत्ति, वैभव और कुटुब आदि परवस्तुओमे रमना नही चाहता, पर कर्मोदयके अधीन होनेसे इनका भोग करनेके लिए लाचार होता है। ऐसी स्थितिमे कदाचित् उसे उपर्युक्त लौकिक लाभोके निमित्तसे और पुण्योदयकी प्रबलतामे प्राप्त भोगोपभोगोके निमित्तसे अभिमान उत्पन्न हो जाय तो वह तत्काल आत्मग्लानिसे दुखी हो स्वात्मनिन्दा करता है।

उसकी यह 'गर्हा' उसे प्रिय है। वह उसे ही अपने आत्माके लिए कल्याणदायिनी मानता है। इस गुणके निमित्तसे उसे तत्काल आत्मस्वरूपका और पररूपका बोध होता है और वह आत्महितमे सावधान होकर अपनी भूलको दूर कर लेता है। ७२।

अनुकम्पा गुणका स्वरूप

(अनुष्टुप्)

स्वान्योपरिदयादृष्टिकरणमेव तत्त्वतः ।
ह्यनुकम्पागुणो ज्ञेय सर्वसौख्यप्रदर्शक ॥ ७३ ॥

स्वान्येत्यादि :—भावस्त्वयम्—दुखितान् प्राणिनो विलोक्य तद्दुखापाकरणार्थं यत् चिन्तन तत् अनुकम्पाशब्देन कथ्यते। सद्दृष्टि गहनदुखपरिपूरिते ससारे परिभ्रमता जीवानामुपरि सानुकम्पया बुद्ध्या दुखदूरीकरणार्थं तदुद्धारार्थं च यतते। स्वमपि दुखमूलाद्रागादिपरिणामाच्च दूरीकरोति। एतदेव सद्दृष्टे अनुकम्पागुण । ७३।

दुखित प्राणीको देखकर उसके दुखको दूर करनेकी इच्छा या चिन्ताको अथवा प्रयत्नको अनुकम्पा या दया कहते हैं। सद्दृष्टि पुरुष सतत दयालु होता है। केवल व्यावहारिक दुखोसे परिपीडित पुरुषोपर ही वह दया नही करता बल्कि व्यवहारदृष्ट्या जो विषयान्ध पुरुष अपनेको सुखी मानते हैं उनकी उस अनर्थ परम्पराको उत्पन्न करनेवाली विषयान्धताको भी दूर कर उन्हे आत्मिक सच्चे सुखकी प्राप्ति होवे ऐसा प्रयत्न करता है। स्वय अपनेको भी दुखका मूल राग, द्वेष, काम और क्रोधादि विकृत परिणामोंसे बचाता है। उसका यह सत्प्रयत्न ही अपने व अन्य पर की गई दया दृष्टि है जो सर्वप्रकार सुखप्रदायिनी है। इसे ही अनुकम्पानामा सम्यक्त्वका गुण कहते हैं। ७३।

आस्तिक्यगुणका स्वरूप

(अनुष्टुप्)

देवे शास्त्रे गुरौ यस्य बन्धे मोक्षे शुभेऽशुभे ।
श्रद्धास्ति शर्मदा तस्याऽस्तिक्यनामा भवेद् गुणः ॥ ७४ ॥

देवे इत्यादिः—देवे सर्वसत्त्वहितङ्करे रागद्वेषकामक्रोधादिरहिते विज्ञानघनस्वरूपे अर्हत्परमेष्ठिनि शास्त्रे तदुपदुष्टे परस्परविरोधरहिते दयामयसद्धर्मप्रकाशके शास्त्रे गुरौ तत्प्रतिपादितसन्मार्गावलम्बिनि सुखदु खसमे गुरौ तथा शुभेऽशुभे बन्धे मोक्षे अर्हत्प्रतिपादते सद्धर्मे च यस्य शर्मदा श्रद्धाऽस्ति तस्य आस्तिक्यनामा गुणोऽस्ति ।

'आस्तिको लभते मोक्ष नास्तिको नरक ध्रुवम्' इत्यादि लौकिकोक्त्या आस्तिकानामेव कल्याण स्यान्न नास्तिकानामिति श्रद्धा धार्मिकाणामस्ति । किन्तु कोऽसौ आस्तिक कश्च नास्तिक इत्यस्मिन् विषयेऽस्ति महान् विवाद इति । वेदानुयायिनस्तु वदन्ति यत् "नास्तिको वेदनिन्दक" वेदा प्रमाणमिति यस्य श्रद्धा स आस्तिक तदन्यो नास्तिक ।

शब्दशास्त्रेण तु 'अस्ति' इति मतिर्यस्यासौ आस्तिक इति सिद्ध्यति । किमस्ति इति प्रश्ने सति सत्यमुत्तमेतत् यत् सर्वप्रथम तावत् स्वात्मनोऽस्तित्वमेव ग्राह्यम् । स्वास्तित्वाभावे अन्यस्य कस्याप्यस्तित्व को विजानीयात् । ज्ञाता द्रष्टा अनुभाविता खलु अहमेवास्मि तथाहमेव शुद्धो निर्विकल्पो निरञ्जन इत्येवप्रकारेण आत्मनस्स्वरूपास्तित्वे मतिरस्ति यस्य स एव 'आस्तिक' इति आत्मनोऽस्तित्वे सिद्धे स खलु नित्योऽनित्यो वा शरीराद्व्यतिरिक्तोऽव्यतिरिक्तो वा बद्धोऽबद्धो वा इत्यादय प्रश्ना तस्य मनसि सञ्जायन्ते । तदा तस्य अधिगतात्मतत्त्वेन केवलज्ञानविभूषितेन च परमर्षिणा यदात्मन बधावस्थामुक्तावस्थयो तत्कारणाना च आश्रवसवरनिर्जरादीना स्वरूपं प्रतिपादित तेषामस्तित्वे श्रद्धा भवति । इत्येवप्रकारेण सुनिश्चितमेतत् यत् आत्मनो वा तत्पर्यायाणा परलोकादीना वा तत्कारणभूते शुभेऽशुभे वा कर्मणि तद्वियोगरूपे मोक्षस्यास्तित्वे यस्य 'अस्ति' इति मतिरस्ति स एव आस्तिक । सम्यग्दृष्टिस्तु परमास्तिकोऽस्ति । तस्यैव परमश्रावकस्य परमगुण आस्तिक्यमिति कथ्यते । ७४ ।

आस्तिकपनेके भावको आस्तिक्य गुण कहते हैं। प्राणिमात्रके हितकारक, राग द्वेष काम क्रोधादि विकारोसे रहित व ज्ञानधनस्वरूप अर्हन्तपरमेष्ठीमे, उनके द्वारा उपदिष्ट पारस्परिक विरोधभाव रहित दयामय सद्धर्म प्रकाशक शास्त्रमे, शास्त्र प्रतिपादित सन्मार्गका अवलम्बन करनेवाले तथा सुख-दु खमे, मित्र-शत्रुमे, सयोग और वियोगमे और भवन-श्मशानमे, हर्ष-विषादसे रहित समताभावके समुपासक गुरुमे और सर्वज्ञ प्रतिपादित सद्धर्ममे तथा शुभाशुभरूप बन्ध मोक्षमे जिसकी सुखदायिनी परम श्रद्धा है वही आस्तिक है। उसका यह सर्वोत्कृष्ट गुण ही 'आस्तिक्य' नामा गुण है।

"आस्तिक नियमसे मोक्षका तथा नास्तिक नरकका अधिकारी है" ऐसी लोकोक्तिको सुनकर अनेक धर्मात्माओका यह विश्वास है कि आस्तिकोका कल्याण होगा, नास्तिकोका नही। पर कौन आस्तिक है और कौन नास्तिक है, यह तो सबसे बडा विवादास्पद प्रश्न है। वेदानुयायी लोग "वेदनिन्दक नास्तिक है" ऐसा कहते हैं। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि जिस व्यक्तिकी श्रद्धामे वेदोकी प्रामाणिकता है वही आस्तिक है और अन्य सब नास्तिक है।

व्याकरणशास्त्रसे यदि आस्तिक शब्दका विचार किया जाय तो यह अर्थ होता है कि 'अस्ति' ऐसी जिसकी मति है वह आस्तिक है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किस पदार्थके अस्तित्वको

स्वीकार करनेवाला आस्तिक माना जाय ? इसका न्यायसगत उत्तर है कि सर्व प्रथम जिसे अपना स्वय-का अस्तित्व स्वीकार हो वह आस्तिक है। अनेक मत ऐसे हैं जो स्वात्माका ही आस्तित्व स्वीकार नही करते। जहाँ आत्माका ही अस्तित्व स्वीकार नही है वहाँ बन्ध और मोक्ष, पुण्य और पाप, लोक और परलोक, सदाचार और असदाचार, हिंसा और अहिंसा तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यके अस्तित्वका प्रश्न नही उठता। "मूल नास्ति कुत शाखा" अर्थात् जिस वृक्षमे जडका ही अभाव है उसकी शाखा, प्रति-शाखा, पत्र, पुष्प और फलकी आशा करना मूर्खताकी बात है। इसी प्रकार स्वात्मसत्ताके अभावमे उसके सम्बन्धकी सारी चिन्ताएँ व्यर्थ हैं।

जितने मत-मतान्तर, सिद्धान्त व सम्प्रदाय ससारमे प्रचलित हैं वे सब शान्तिलाभ, सुखप्राप्ति व मुक्तिप्राप्तिके लिए या वस्तुतत्त्व-जगद्रहस्यके प्रतिपादनके लिए हैं। उनका उद्देश्य उक्त उद्देश्योमेसे एक न एक अवश्य है। ऐसी स्थितिमे यह प्रश्न सहज ही होता है कि शान्ति, सुख व मुक्ति कौन प्राप्त करेगा ? वस्तुका तत्त्व और जगत्का रहस्य कौन समझेगा ? इन सब सैद्धान्तिक रचनाओका करनेवाला कौन है और किसके लिए ये सब रचनाएँ हुई है ? तो इन सब प्रश्नोका एक ही उत्तर आयेगा कि आत्मा-के लिए अर्थात् जीवके लिए।

इस प्रकार आत्माके अस्तित्वके स्वीकार कर लेनेके साथ ही यह प्रश्न तत्काल उपस्थित हो जाता है कि वह कहाँसे आता है, कैसे पैदा होता है, कहाँ जाता है, क्या देह ही स्वात्मा है या देहसे पृथक् कोई स्वात्मा है, आत्मा कैसा है, वह किस लक्षण, चिह्न, गुण या स्वभाववाला है। उसकी लम्बाई; चौडाई आकार-प्रकार और रूप-रग क्या है ? इत्यादि अनेक प्रश्न उठते है। इन सब प्रश्नोके सम्बन्धमे विचार करने पर यह सहज ही समझमे आ जाता है कि देहसे पृथक् कोई आत्मतत्त्व है जो स्थायी है तथा जिसके लिए कल्याणका उपदेश सभी सिद्धान्तकार देते हैं। यदि वह शरीरमात्र होता तो अग्निमे भस्म हो जाता। फिर पुण्य-पाप आदि कर्त्तव्योका उपदेश व्यर्थ हो जाता। जो लोग देहमात्र ही आत्मा मानते हैं वे लोक-परलोक, पुण्य-पाप और आत्मा-परमात्मा यह सब कुछ नही मानते। उनके मतमे सदाचार और अनाचारकी कोई व्याख्या नही बन सकती। मूलभूत आत्माके अभावमे उसके लिए कुछ भी प्रतिपादन करना असम्भव है। ऐसी स्थितिमे सभी पदार्थोंका अस्तित्व समाप्त होता है। यही नास्तिकत्व है। ऐसी मान्यतावाले नास्तिक है। न कि वेदनिन्दक नास्तिक है। किसीकी निन्दा या प्रशसासे कोई आस्तिक या नास्तिक नही हो सकता बल्कि उस मूलभूत स्वात्माके तथा उसके स्वरूपकी प्राप्तिके सदुपायोको स्वीकार न करना ही नास्तिकत्वकी ठीक व्याख्या है।

सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने स्वात्माका अस्तित्व तो मानता ही है, साथ ही उसका द्रव्यदृष्टिसे नित्य शाश्वत स्वरूप भी उसकी दृष्टिसे ओझल नही है। उसका यह विश्वास है कि आत्मा अमर है, निर्विकार है, शुद्ध है, बुद्ध है, निरञ्जन है, ज्ञान-दर्शनचैतन्य स्वरूप है। वह देहमे स्थित है, देह ही आत्मा नही है। उसे स्वात्मापराधजनित कर्म लगे हुए हैं, जिनसे उसकी अवस्था शुद्ध रूपमे नही है, किन्तु वह कर्मजनित विकारोको दूरकर शुद्ध हो सकता है। वह केवल अपने अपराधसे स्वय बद्ध है। कोई दूसरा व्यक्ति उसे बाँधने या छोडनेवाला नही है। जिन आत्माओने अपने विकारोपर विजय पा ली है वे देहधारणकी परम्पराके कष्टसे छूट जाते है और वे ही आत्मा 'परमात्मा' कहलाते हैं। वह मानता है कि एक शाश्वत सुख-दु खका दाता अपना शासन दण्ड चलानेवाला कोई 'परमात्मा'

नही है, जो मुझे पराधीन कर सके। अपने बनाने और बिगाडनेमे मै स्वतन्त्र हूँ। मैने अब तक अपनेको अपनी भूलसे बिगाडा है, परमात्माने मुझे नही बिगाडा। मै अपनी भूलका प्रायश्चित्त कर निरपराध हो स्वय परमात्मा बन सकता हूँ। मुझे कोई दूसरा-ईश्वर परमात्मा बनानेवाला नही है।

इस प्रकार सद्दृष्टि पुरुषको अपने आत्माके अस्तित्वका पूर्ण बोध है। उसकी बद्धावस्थाका, बद्धावस्थाके कारणोका और बद्धावस्थामे कारण होनेवाली अपनी स्वरूप हानिका पूर्ण ज्ञान है। आत्मा विचार करता है कि वह किससे बँधा है। उसे बाँधनेवाले कर्म क्या है? वे कैसे आगए? कैसे बँध गए? उन्हे कैसे रोका जा सकता है? पूर्वबद्ध कर्म कैसे मुझसे दूर हो सकते हैं? वह अवस्था कब होगी जब मै सर्व कर्मोंपर व तन्निमित्तजन्य काम-क्रोधादि विकारो पर विजय पाकर नित्य शाश्वत अपने चिदानन्दमय स्वरूपको प्राप्त होऊँगा। वस्तुत मेरे विकार ही मेरा ससार है, जिसका नाश करना है, यही मोक्ष है।

इन प्रश्नोंके उत्तर स्वरूप क्रमश उसे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन तत्त्वोका सम्पूर्ण बोध है और उन सबका बोध जिनसे प्राप्त हुआ है उन परमवीतरागी परमात्मपनेको प्राप्त अर्हत्परमेष्ठीमे, उनके प्रतिपादित उपदेश स्वरूप शास्त्रोमे तथा उस परिशुद्ध मार्गका सत्यार्थ रूपसे अवलम्बनकर स्वात्मशोधक साधुओमे उसे परिपूर्ण श्रद्धा है। इस प्रकार इस जगत्के रहस्यभूत सब तत्त्वोके अस्तित्वको स्वीकार करने रूप 'आस्तिक्य' गुणको सद्दृष्टि प्राप्त होता है। ७४।

वात्सल्य गुणका स्वरूप

(अनुष्टुप्)

य स्वात्मवत् सदा प्रीतिं करोति धार्मिकै समम्।
तस्य वात्सल्यधर्म स्यात्सर्वप्राणिहितङ्कर ॥ ७५ ॥

यः स्वात्मवदित्यादि :—य पुरुषः धार्मिकाणामुपरि प्रीति विधत्ते। तेषा विपत्तिनिवारणे सदा सन्नद्धो भवति। तेषा धर्मपरिपालने साहाय्य करोति। तथा सदा स्वात्मवत् तेषामात्मसमुद्धरणे समुन्नतौ च प्रयत्नशीलो भवति, स एव वात्सल्यगुणवानस्ति। ७५।

प्रीतिका प्रकर्ष इस जगत्मे माताका पुत्रमे होता है। यद्यपि पिता-पुत्रका, भाई-भाईका और पति-पत्नीका भी स्नेह सम्बन्ध होता है, किन्तु इन सबमे प्रीतिका भाव कुछ न कुछ स्वार्थमूलक है। पिता पुत्रके प्रति प्रेम करता है क्योकि उसे यह भरोसा है कि यह हमारे कुलका नाम जागृत करेगा तथा वृद्धावस्थामे मेरा सहायक होगा। यदि उसे पुत्रसे इन दोनो बातोकी कोई आशा न रह जाय तो वह उसे अपने घरसे पृथक् कर देता है। भाई भाई अर्थके लिए लडते हैं। अर्थके निमित्तसे भाई बहिनमे भी खटपट हो जाती है। पति पत्नीका स्नेह तो केवल पारस्परिक विषय पूर्तिके साधन होनेसे ही प्रारम्भ होता है। मध्यकालमे वह जीवन निर्वाहके लिए परस्पर साधन भूत होनेसे टिकता है और अन्तमे सन्तान मोह ही उस स्नेहको टिकाता है। उक्त स्वार्थोके अभावमे वह कच्ची लकडीकी तरह पद पद पर चटकता है। यदि लोकलज्जाके भयकी चिन्ता न हो तो वह बिलकुल ही टूट सकता है। पुत्र भी माताको तब तक अधिक स्नेह करता है जब तक माता दुग्धपान कराती है। भोजनका साधन अन्नादि हो जाने पर स्नेहकी मात्रा घटने लगती है। अवस्था बडी होने पर वह अपने स्वार्थके लिए माताका अनादर भी करता है तथा आज्ञाके बहिर्मुख हो जाता है। विवाहित हो जाने पर वह

विषयान्ध पत्नीका दास हो माताको बिलकुल भूल जाता है और माताके भोजनका खर्च भी उसे भार रूप मालूम होने लगता है। वह स्वय माताका अनादर करने लगता है। इतना ही नही, बल्कि पत्नी द्वारा भी माताका निरादर होने पर उसकी उपेक्षा करता है तथा माताको ही दोष देनेको प्रस्तुत रहता है। इन सब बातोके विचारसे यह ध्रुव सत्य है कि सासारिक स्नेह बन्धन केवल स्वार्थजन्य बन्धन है। पारस्परिक स्वार्थके लिए शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। अपरिचितोमे भी घनिष्ट परिचय हो जाता है। इतना होते हुए भी माताका अपने वत्स पर स्नेहका बन्धन नि स्वार्थ होता है।

मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी प्राणियोमे यह नियम देखा जाता है। 'पुत्र कुपुत्र हो जाता है पर माता कुमाता नही होती' ऐसी लोकोक्ति प्रसिद्ध है। माता गर्भ समयसे ही बालककी सुविधाका ध्यान रखती है। गर्भभारको वहन करते हुए भी प्रसन्नमुख रहती है। गरम, तीखा, चटपटा और अनिष्टकारक भोजन केवल इस लिए नही खाती कि वह गर्भस्थ बालकको हानिकारक होगा। पुत्रोत्पत्तिके बाद जब तक वह दुग्धपान करता है तब तक शीतकारक,उष्णकारक और गरिष्ठ भोजन केवल इस विचारसे नही करती कि बालकको शीत या उष्णताका विकार हो जायगा। दुग्धपान छूट जाने पर भी उसकी सदा परिचर्या करती रहती है, उसके सुख दु खका ध्यान रखती है। यदि घरमे धन भी न हो, दरिद्रता हो तो भी स्वय मजदूरी करके धनोपार्जन करती है और स्वय एक बार रूखा सूखा बासी अन्न खाकर भी बालकको उत्तम भोजन कराती है। बालक दुष्ट प्रकृतिका भी हो जाय, अनादर भी करे, आज्ञा भी न माने तथा गाँव भरका उपद्रव कर उलाहना लावे तो भी माता उसे स्नेह करती है। विवाहित होने पर यदि पुत्र और पुत्रवधू दोनो निरादर करें, भोजनको भी तग करें तो भी माता नित्य प्रात साय अपने पुत्रकी, पुत्रके सुखके लिए पुत्रवधूकी तथा उसके पुत्र पुत्रियोकी कुशलता और कल्याणकी भावना पूर्वक परिचर्या करती रहती है।

वत्सके प्रति माताकी इस नि स्वार्थ प्रीतिने इसीलिए अपना 'वात्सल्य' नाम पाया है। वात्सल्य शब्दके अर्थमे वे सब गुण छिपे हैं जो वत्सके प्रति माताकी प्रीतिमे होते हैं या हो सकते हैं। कोई भी धर्मात्मा दूसरे धर्मात्माके प्रति क्या व्यवहार रखे, कैसा बर्ताव करे इसके लिए आचार्योने सर्वत्र 'वात्सल्य' शब्दका ही उपयोग किया है। प्रीतिके वाचक सैकडो शब्दोके रहते हुए उनमेसे एकका भी प्रयोग नही किया है।

इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी धर्मज्ञ सम्यग्दृष्टि दूसरे साधर्मीको देखकर इतना प्रसन्न हो जितना माता वत्सको देखकर होती है। उसके हितका और सुख-दु खका उतना ही ख्याल रखे। उससे गलती भी हो जाय तो वह उसकी निन्दा नही करे और न दूसरोसे की गई उसकी निन्दाको सहे। वह सदा उसके दोषोको दूर करनेकी सतत चेष्टा करे और सदा उसकी गुणोन्नतिका ध्यान रखे। साराश यह है कि उसे हर प्रकारसे अपनाए जिससे धर्मकी वृद्धि हो।

ग्रथकार आचार्यने 'वात्सल्य' का अर्थ यद्यपि 'प्रीति' किया है, किन्तु उस शब्दका प्रयोग करते हुए भी उन्होने वात्सल्य शब्दके पूर्णार्थको व्यक्त करनेके लिए उसे उपयुक्त नही माना। अत यथार्थ अर्थ का सम्यग्बोध करानेके लिए 'स्वात्मवत्' ऐसा उदाहरण देकर स्पष्टीकरण किया है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपने हितका, अपने सुख दुखका अपनी समुन्नतिका, अपनी कीर्ति रक्षाका, अपने शरीर की रक्षाका, अपने धर्मकी रक्षाका, वृद्धि और अपने गुणोको उन्नतिका सदा ध्यान

रखता है उसी तरह उसे अपने सहधर्मीके लिए भी रखना चाहिए। यही सम्यग्दृष्टिका 'वात्सल्य' गुण है।

यद्यपि नीतिकारने कहा है कि—"ससृतौ व्यवहारस्तु न हि मायाविवर्जित." अर्थात् ससारका कोई भी व्यवहार माया अर्थात् कपटसे रहित नही होता। बिना कुछ न कुछ कपट व्यवहारके सासारिक व्यवहार नही चलता। अनेक स्थलोमे तो कपट व्यवहार 'सभ्यता' मे शामिल है। मायाचारी सहित मिथ्याकीर्तन शिष्टता और नागरिकताकी कोटिमे गिना जाता है। यदि किसी आगत व्यक्तिका (भले ही उसमे वे गुण न हो) आप उत्तमोत्तम शब्दो द्वारा स्वागत न करे तो आप अशिष्ट, ग्रामीण और सभ्यता रहित व्यक्तियोकी गणनामे गिने जायगे जब कि उसका मिथ्याकीर्तन कर स्वागत करना, सभ्यता, शिष्टता और नागरिकताकी मर्यादामे गिना जाता है। ऐसा होते हुए भी सम्यग्दृष्टि उससे अर्थात् सहधर्मीसे सभ्यताकी रक्षार्थ शिष्ट व्यवहार नही करता बल्कि हितैषिताके नाते उससे समुचित स्नेहमय व्यवहार करता है। उसका यह सद्व्यवहार उसके 'वात्सल्य' गुणके कारण ही है। ७५।

उपसहार

(अनुष्टुप्)

श्रावकाणां प्रबोधार्थं विशेषाष्टगुणा मया।
प्रोक्तास्ते व्यवहारेऽपि मिथस्सत्प्रीतिकारकाः ॥ ७६ ॥

श्रावकाणामित्यादिः—प्रोक्तास्ते सवेगादयोऽष्टौ गुणा यद्यपि सम्यग्दृष्टेर्भवन्त्येव। सम्यक्त्वे सति तेपामुत्पत्तिर्भवत्येव। यदि न स्यात्तर्हि सम्यक्त्वस्यैव हानि स्यात्। सम्यक्त्वस्य फलानि एव एतानि इत्यपि कथन समञ्जसमेव प्रतिभाति। व्यवहारेऽपि सर्वसाधारणप्राणिपु यदि ते गुणा स्युस्तदा तेषा परस्पर प्रीतिकारका स्यु।७६।

श्रावकोके प्रबोधके लिए सवेगादि अष्ट गुणोका वर्णन जो पहले किया गया है वे गुण सम्यग्दृष्टि जीवके अवश्य होते हैं, क्योकि सम्यक्त्वके उत्पन्न होने पर वे अवश्य पाये जाते हैं। यदि वे न हो तो सम्यक्त्वकी भी हीनता हो जाय। ये गुण सम्यक्त्वरूपी वृक्षके फल हैं, ऐसा भी कहा जाय तो उचित ही है। अतएव व्यवहारसे ससारके साधारण मनुष्यो द्वारा भी यदि ये गुण अपना लिए जाय तो परस्पर एक दूसरेके लिए अत्यन्त प्रीतिकारक सिद्ध होगे।

विशेषार्थ—विश्वशान्तिकी यह महौषधि है। वर्तमान कालमे जो विभिन्न राष्ट्रोमे अशान्तिकी धारा बह रही है। उससे पद पद पर युद्धकी आशका बनी रहती है, जिससे सभी राष्ट्र एक दूसरेसे भयभीत रहते है। इस भीतिको दूर करनेके लिए ये महागुण परम अमृत रसायनके समान हैं। यदि इनमेसे एक 'सवेग' गुणको ही लोग अपना लें अर्थात् धर्म (कर्त्तव्य) से प्रीति और अधर्मसे (अकर्त्तव्य) से अरुचि करने लगे तो पारस्परिक भीति दूर हो जाय। सभी विश्वशान्तिके इच्छुक हैं, फिर भी शान्ति नही है। उसका कारण क्या है ? क्या विश्वके प्राणियोमे अशान्तिको कोई विश्वके बाहरके प्राणी उत्पन्न करते हैं ? उत्तर होगा नही। तब और क्या कारण है इस पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि एक राष्ट्रकी दूसरे राष्ट्रो पर जो अविश्वासकी छाया है वह उसे अशान्तिकी शका पद पद पर उत्पन्न करती है। अविश्वास निष्कारण नही है। अविश्वास साधार है। उसका आधार है 'लोभ'। प्रत्येक अपने राज्यकी परिधि बढानेकी फिकरमे है। दूसरे राष्ट्रो पर अपना शासन दण्ड चलाना चाहता है। वहाँकी सम्पत्तिका उपभोग अपने देशके लिए करना चाहता है। इतना ही नही

वहाँके लोगोके परिश्रमका उपयोग अपने देशवासियोके सुखके लिए करना चाहता है। प्रजातन्त्र राज्यकी प्रणाली यद्यपि देशकी प्रजाकी सुख सुविधाके लिए थी, राज्यके ऊपर कोई व्यक्ति अपना व्यक्तिगत शासन स्थापित न करे तथा व्यक्तिगत सुखके लिए वह प्रजाजनोके स्वार्थकी होली न खेले, इसलिए प्रजातन्त्रका प्रयोग किया गया था। पर आज प्रजातन्त्र इस शब्दका उपयोग उस प्रणालीके लिए किया जा रहा है जिसे सामूहिक एकदेशीय स्वार्थ कहना अधिक उपयुक्त होगा। एक देश अपना स्वार्थ दूसरे देशवासियोको कष्टमे डाल कर भी साधना चाहता है। राजतन्त्र पद्धतिमे एक व्यक्तिकी इच्छाकी पूर्तिके लिए प्रजाको कष्ट होता था पर उस कष्टकी सीमा एक व्यक्तिके स्वार्थपूर्तिके बाद समाप्तिको प्राप्त हो जाती थी। परन्तु इस प्रजातन्त्रके नाम पर चलनेवाले इस सामूहिक स्वार्थ और लिप्साकी पूर्तिका अन्त बहुत दूर है। उसकी समाप्ति एक व्यक्तिकी इच्छा पर नही बल्कि उस देशके जनसमूहकी इच्छा पर अवलम्बित है। यह स्वार्थका लम्बा सघर्ष है।

सरल शब्दोमे यह निष्कर्ष निकला कि जब तक एक देश अपने कर्त्तव्यको समझकर अपने स्वार्थ साधनकी सीमा अपने तक ही सीमित न रखेगा तब तक दूसरोसे शान्ति प्राप्तिकी अभिलाषा करना बिलकुल असगत है। यदि दूसरो को सुखी बनानेके लिए हमारा क्या कर्त्तव्य है इसका बोध सभी राष्ट्र करलें तो विश्व मे शान्ति हो सकती है। यही कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेक सवेगनामा गुण है।

निर्वेद गुण—व्यक्तिगत विषयाभिलाषा की न्यूनता को कहते हैं। व्यक्ति यदि अपनी विषयाभिलाषा न्यून करने लगे तो सामूहिक रूपसे भी राष्ट्रके व्यक्तिगत स्वार्थ, जिनके कारण एक दूसरे से सघर्ष होते हैं, कम हो जायेंगे। उनका कम हो जाना ही सघर्षका कम हो जाना है और सघर्षकी सम्भावनाओका दूर होना ही विश्वशान्ति है।

क्रोधादि कषायोकी शान्ति उपशमभाव है। आत्मदोषोका निरीक्षण कर अपने दोषोकी निन्दा करना ही निन्दा है। सम्पत्ति, बल और वैभवकी उन्मत्तताकी इच्छासे दूर रहना गर्हा है। प्राणिमात्र पर दया-प्रेम करना अनुकम्पा है। पूर्व महापुरुषोकी वाणी पर आस्था रखकर लोक-परलोक, पुण्य-पाप पर आस्था रखना व आत्माके अस्तित्व व नित्यत्व पर श्रद्धा रखना आस्तिक्य है। प्रत्येक बन्धुको वत्सलताकी दृष्टिसे देखने रूप वात्सल्य है। ये सभी गुण समुदाय रूपमे ही नही किन्तु पृथक् पृथक् एक एक भी विश्वशान्ति स्थापित करनेमे पूरी तरह समर्थ हैं। ७६।

इति सवेगाद्यष्टगुणनिरूपणम्।

प्रश्न —**सम्यक्त्वस्यातिचाराः के वद मे सिद्धये प्रभो।**

हे प्रभो। सम्यक्त्वस्य कानि दूषणानि तान्यपि कथय यत मे सम्यक्त्व निर्मल स्यात्—

हे भगवन्। सम्यक्त्वके भूषणोका वर्णन तो हो चुका अब उसके दूषणोका भी वर्णन कीजिए ताकि उनको दूरकर हम सम्यक्त्व निर्मल बना सकें—

(अनुष्टुप्)

शङ्का कांक्षा विचिकित्सा प्रशसा सस्तवस्तथा।
सद्दृष्टेरतिचारास्ते सम्यक्त्व दूषयन्ति नु ॥ ७७ ॥

शङ्केत्यादि —शका काक्षा विचिकित्सा कुदृष्टे प्रशसा तत्सस्तवश्च सद्दृष्टे एते पञ्चातिचारा सम्यक्त्व दूषयन्ति मलिनीकुर्वन्ति। ७७।

इति श्रीकुन्थुसागराचार्यविरचिते श्रावकधर्मप्रदीपे पण्डितजगन्मोहनलालसिद्धान्तशास्त्रिकृताया प्रभाख्याया व्याख्याया च द्वितीयोऽध्याय समाप्त ।

आस्तिक्य गुणके विरुद्ध आत्माके अस्तित्वपर तथा परम वीतराग अर्हंतपरमात्माके वचनोपर सन्देह करना शकातिचार है। इन्द्रियोके विषयोकी अभिलाषाकी ही जीवनमे प्रमुख स्थान देना काक्षा नामक दूसरा अतिचार है। धर्मात्मा श्रावक व साधु व्रती पुरुषोकी तथा सर्व साधारण रोगी ग्लान पुरुषोकी सेवा करनेमे घृणा करना विचिकित्सा नामा तृतीय अतिचार है। जो मिथ्यादृष्टि हैं, सद्धर्मसे द्वेष रखते हैं, पापसे प्रीति रखते है, विषयान्ध हैं और कपटभेषी है अर्थात् धर्मात्माका भेष रखकर दूसरोको ठगते है। इन सब कुलिंगियो और कुभेषियोकी प्रशसा करना यह प्रशसानामक चौथा अतिचार है तथा इन्हीकी स्तुति वन्दना करना सस्तव नामका पाचवां अतिचार है।

विशेषार्थ—वस्तुतत्त्वका वेत्ता सम्यग्दृष्टि जीव सदा अपनी दृष्टिके सामने जगत्का सच्चा चित्र रखता है। वह उस जगद्रहस्यको जो ध्रुवसत्य है, जिसपर उसे दृढतम श्रद्धा है, कभी विस्मृत नही करता। सोते-जागते, खाते-पीते व व्यापार-व्यवसाय करते हुए, यहा तक कि विषयोका भोग भोगते हुए भी वह अपनी स्थितिको और जगत्की स्थितिको एक क्षणके लिए भी नही भूलता। उसके हृदयमे ये विचार सदा जागृत रहते हैं कि मै सदा शाश्वत, विज्ञानस्वरूप, परम पवित्र और अनन्त गुणोका अखण्ड पिण्ड आत्मा हूँ, मै सदा अविनाशी हूँ, मेरे गुण रूपी धनका विनाश कभी नही हो सकता। मेरे गुण मेरे अपराधसे मलिन हो रहे हैं, अतएव मुझे उन्हे निर्मल बनाना है। अर्थात् मुझे विभाव छोडकर स्वभाव परिणति उत्पन्न करनी है।

पचेन्द्रियोके विषयोमे सलग्नता मेरा भोग नही है। मेरा भोग आत्मिक गुणोका भोग है जो अविनाशी है। ये इन्द्रियजनित भोग विनाशी हैं। इनका बोध इन्द्रियद्वारसे होता है और इन्द्रिया शरीरका अग हैं। शरीर आत्मस्वभावसे भिन्न जड पदार्थ है। जडकी सगतिसे आत्माका कल्याण नही हो सकता। शरीर मल-मूत्रकी योनि है। यह और इसकी उत्पत्तिका कारण दोनो अपवित्र हैं। अत उससे प्रीति करना भी आत्मघातक है और उससे घृणा करना भी वस्तुस्वभावसे आख मीच लेना है। जिस वस्तुका जो स्वभाव है उसे ठीक रूपमे समझ लेना ही आत्महित साधक है।

ससारके सभी प्राणी शरीरी हैं। पाप-पुण्यके उदयसे ही रोगित्व-निरोगित्व, दु ख-सुख और सपत्ति-विपत्ति होती हैं। प्राणीके दु ख दूर करनेमे प्रयत्न करना यह महान् सेवाधर्म है। घृणा इसमे अत्यन्त बाधक है। शरीर तो सचमुचमे अपवित्र है पर इससे मुझे घृणा क्यो हो, क्योकि मेरा आत्मा उससे अपवित्र नही बन सकता। आत्मा तो परम पवित्र है, फिर शरीर स्पर्शसे भय क्या ? उलटे विचारो से मै अपने महान् सेवा धर्म व वात्सल्य गुणसे पृथक् होता जाऊगा। मुझे किसी पदार्थसे घृणा न होनी चाहिए। हा वस्तुका स्वरूप अवश्य ही ठीक ठीक समझ लेना चाहिए और अपवित्रताको न अपनाते हुए पवित्र बननेका प्रयत्न करना चाहिए।

जो मिथ्यावेषी हैं, कपटी हैं व मायाचारीसे दूसरोको ठगते हैं वे धर्ममार्गके कण्टक हैं। उनकी प्रशसा या स्तुति करनेसे लोगोंमे उनके दुर्गुणोके प्रति प्रीति हो जायगी, अत कभी भी मिथ्या प्रशसा या मिथ्या गुण कीर्तन नही करना चाहिए। पूर्वोक्त सद्विचारोसे सम्यक्त्वीका सम्यक्त्व गुण निरतिचार रहता है और वह ज्ञान और चारित्रके मार्गमे बढनेको समर्थ होता है। ७७।

इस प्रकार आचार्य श्री कुन्थुसागर विरचित श्रावकधर्मप्रदीप व पण्डित जगन्मोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्री कृत प्रभा नामक व्याख्यामे द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

तृतीयोऽध्यायः

प्रश्न.—व्यसनानि कति सन्ति तच्चिह्नं कीदृशं वद ।
अथ व्यसनचिह्न ते ब्रवीमि सुखतः शृणु ॥

हे गुरुदेव । व्यसन कितने हैं ? उनका स्वरूप क्या है ? इस प्रश्नको ध्यानमे रखकर गुरु उत्तर देते है कि हे शिष्य व्यसनोका स्वरूप मैं कहता हूँ तुम सावधानीसे सुनो—

(अनुष्टुप)

द्यूतं मांसं सुरा वेश्या स्तेयमाखेटक तथा ।
परस्त्रीसङ्गमश्चैव सप्तैव व्यसनानि तु ॥ क्षेपकम् ॥

द्यूतमित्यादि·—तात्पर्यमेतत्–एतानि सप्तव्यसनानि–द्यूतक्रीडन मासभक्षण सुरापान वेश्यासङ्गम स्तेय नाम परद्रव्यापहरण आखेटक नाम पशूना पक्षिणा मारण मासार्थं कौतुकार्थं वा परवनितानामासेवन इति । धर्ममार्गात्पुरुषान् व्यस्यति भ्रशयति तद् व्यसन इति व्युत्पत्ते· । एकवार मासादिसेवन तु पाप पुन पुन पापकरण तदासक्तिश्च व्यसन इति व्याख्यानात् । सततमेव पापानामिच्छा वर्तते यस्य चित्ते तस्य मनसि धर्मो न दत्ते पदमपि । इत्येव सुनिश्चित यत् व्यसनानि प्राणिनो धर्ममार्गात् दूरीकुर्वन्ति तस्माद्धेयानि व्यसनानि स्वहितमिच्छता ।

व्यसन सात हैं—जुआ खेलना, मास खाना, मद्य पीना, वेश्यागमन करना, चोरी करना, शिकार करना और परस्त्री सेवन करना ।

विशेषार्थ—रुपया-पैसा, सोना-चाँदी, घर-मकान आदि द्रव्यकी या हारजीतकी बाजी लगाकर क्रीडा करना द्यूत क्रीडा है । माँसका खाना, मद्यका पीना, वेश्या सङ्गम करना, चोरी अर्थात् पराए द्रव्यका अपहरण करना, पशुपक्षी या मनुष्योका मास लोलुपतासे, कौतुकसे या अन्य विषयलिप्सासे खाना, दूसरोकी गृहीत पत्नी जो सस्वामिक हो या अस्वामिक हो उसका सेवन करना, ये सात व्यसन हैं।

किसी भी बुरे कामकी आदत पड जानेको व्यसन कहते हैं । जिसे किए बिना चित्तको चैन ही न पडे वह व्यसन है । उक्त कार्योको प्रमादवश या अन्य किसी कारणवश एकबार सेवन करना पाप है और उनको बार बार सेवन करना या उनकी आसक्तिका बना रहना व्यसन है । व्यसन शब्दका अर्थ ग्रन्थान्तरोमे यह किया गया है कि जो प्राणीको धर्ममार्गसे भ्रष्ट करे या धर्ममार्गमे जाने न दे अर्थात् उससे दूर रखे वह व्यसन है । जिसके हृदयमे पापका निवास स्थान है भला वहाँ धर्मका पैर कैसे जम सकता है । व्यसनी पुरुषका ससार व्यसनमय है । पापवासना उसके हृदयमे सदा जागृत रहती है । परस्त्री पर, चाहे वह सती हो या असती हो, स्त्री हो या माता हो या बहिन हो, परद्रव्य पर, चाहे वह किसीका हो भले ही वह देवद्रव्य हो, उसकी कुदृष्टि रहती है ।

व्यसनीका खाना-पीना, उठना-बैठना, भले पुरुषोकी सङ्गति व उनका उपदेश, देवस्थान व देवपूजा, शास्त्रश्रवण और धार्मिक उत्सव आदि कल्याणकारी एक भी कार्यमे चित्त नही लगता ।

सोते-जागते, खाते-पीते, देवध्यान-देवपूजन करते और शास्त्रश्रवण करते हुए भी उसका चित्त सदा अपने व्यसनमे रहता है। एकमात्र उसीका ध्यान रहता है, अतएव व्यसन स्वहितैषीके लिए सर्वथा छोडने योग्य है।

प्रथम द्यूतव्यसनका लक्षण

(अनुष्टुप्)

द्यूतमेव जनानां स्याच्छत्रुः सर्वापहारकः।
स्थानं दुष्कर्मणां नून मूढानां विपदां सखा ॥ ७८ ॥
ज्ञात्वेति च्छर्दिवद् द्यूतं त्यक्त्वा चात्यन्तदुःखदम्।
सन्तो निर्व्यसना सन्तु शुद्धचिद्रूपनायकाः ॥ ७९ ॥

द्यूतमित्यादि—भावस्त्वयम्, द्यूतमेव जनाना सर्वापहारक शत्रुरस्ति। यथा शत्रु सर्वाणि द्रव्याण्यपहरति तथा द्यूत लौकिकदृष्ट्या सर्वधनापहारक कीर्तेरपहारक स्वास्थ्यनाशक आजीविकाविघातकं अविश्वासोत्पादक चास्ति। पारमार्थिकदृष्ट्या तु अनेकपापाना जनक दयादाक्षिण्यादिसद्धर्माणामपहारकमस्ति। तद्वद् दुष्कर्मणामनेक-व्यसनाना स्थान तथा विपत्तीना सखा। एतज्ज्ञात्वा वान्तिवत् दुखद द्यूत दूरत एव परिहर्त्तव्यम्। शुद्धचैतन्यरूपे स्वरूपे स्थित्वा व्यसनैर्यथा मुक्ति स्यात् तथा वर्त्तितव्यम्। ७८। ७९।

जुआ मनुष्योका सर्वापहरण करनेवाला शत्रु है। शत्रु तो केवल बाह्य द्रव्य सुवर्ण-चादी और गृह आदिका अपहरण कर सकता है, परन्तु द्यूत द्रव्यका अपहरण तो करता ही है, साथ ही कीर्तिका भी अपहरण करता है, स्वास्थ्यका भी नाशक है, आजीविकाको भी नष्ट कर देता है और अविश्वासको उत्पन्न कर देता है। ऐसा जानकर छर्दिके समान द्यूतका त्याग कर शुद्ध चिद्रूपका स्वामी सज्जन पुरुष द्यूत व्यसनसे दूर रहे।

विशेषार्थ—मोक्षमार्गी युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदि पाँचो महापुरुष अपनी गार्हस्थिक अवस्थामे इसी एक द्यूतके कारण राज्य रहित हुए वन वन मारे मारे फिरे। राजा होकर भी पराई चाकरी करनी पडी। द्रौपदी जैसी पतिव्रता स्त्रीको जुएके दाव पर लगा बैठे। बुद्धिका दिवाला निकल गया। भरी सभामे अपनी वधू द्रौपदीका अपमान सहा। वह भी ऐसा अपमान जिसे एक नीचसे नीच व पापीसे पापी भी सहनेमे लज्जित होगा। स्त्रीके सर्वस्व सतीत्वके साथ जुएमे जीतनेवाले नीचोने खिलवाड किया। उसे सभामे नग्न करना चाहा किन्तु उसके सतीत्वके प्रभावसे देवोने उसकी लज्जा रखी। पर जीतने और हारनेवाले दोनो जुआडियोने अपनी निर्लज्जताकी पराकाष्ठा इस घटनामे दिखा दी। यह कथा पाण्डव पुराणमे प्रसिद्ध है।

कथाओमे राजा नलका दूसरा पौराणिक उदाहरण है। जिन्होने जुएमे राजपाट सब हार दिया और पत्नी सहित वन वन फिरे, चिडियोको मारकर पेट भरा तथा अनेक पाप किए। अपनी धोती जो एक मात्र लज्जाका शेष साधन थी वह चिडियोको फँसानेके लिए फेंक दी। पर चिडिया धोती लेकर उड गई और राजा नंगा रह गया। तब अपनी स्त्रीकी आधी साडी पहिनकर लज्जा ढाँकी। इतना होने पर भी वह कायर अपनी पत्नीको जगलमे छोडकर वन-वन मारा मारा फिरा। ऐसी दुर्दशा बडे-बडे राजाओकी हुई तो साधारण मनुष्योकी क्या गिनती है।

शास्त्रोमे पाण्डवोकी और लौकिक कथाओमे नलकी अपकीर्ति आज तक चली आ रही है और हजारो लाखो वर्षो तक बल्कि असख्य वर्षो तक चलेगी।

जुआ खेलनेवाले रात्रि दिनका भेद नही जानते। उन्हे अपने व्यसनके कारण यह पता ही नही चलता कि कब रात हो गई, कब प्रात काल हुआ। भोजन, पान, शयन, देवदर्शन स्वाध्याय और सज्जनसङ्गति आदि सत्कार्योंके लिए उन्हे यथोचित अवकाश ही नही मिलता। इसका यह फल होता है कि उनका शारीरिक स्वास्थ्य अनियमित आहार-विहार तथा दु सङ्गतिके कारण विकृत हो जाता है। वे अपनी आजीविकाके साधनोको खो बैठते हैं। यदि वे व्यापारी हैं तो जुएके कारण व्यापारको समय नही मिल पाता। वह नष्ट हो जाता है। यदि शिल्पकार हैं तो काम कौन करे ? समय कहाँ है व्यसनी को। कृषिकर्त्ताका कृषिका समय निकल जाता है। यदि समय पर खेती हो भी गई तो जब तक ये जुआ खेलते हैं तब तक खेती बिना देख रेखके चोरो और जगली जानवरो द्वारा चौपट हो जाती है। ऐसे व्यसनीको कोई भी मालिक नौकर नही रखता है। कोई कर्ज पैसा नही देता है। कोई उधार सौदा नही देता है। इस प्रकार आजीविका नष्ट हो जाती है। उसका विश्वास जनतासे एकदम उठ जाता है। कोई उसकी सगति नही करना चाहता। पास बैठाना नही चाहता। यदि पडोसमे चोरी हो जाय तो उस पर एक बार सन्देह जरूर चला जाता है। जुएमे हार जाना ही अधिक सम्भव होता है। जुआरी प्राय अन्तमे निर्धन ही हो जाते हैं।

निर्धनताका कारण स्पष्ट है। वह गणित शास्त्रसे प्रमाणित हो जाता है। कल्पना कीजिए कि ४ व्यक्ति पाँच सौ पाँच रुपया लेकर जुआ खेलने बैठे। इनमे एक व्यक्तिने प्रथम बार २००) जीत लिया, वह प्रसन्न हुआ और तत्काल २५) मिठाई खाने सिगरेट पीने आदि आमोद प्रमोदमे खर्च करा दिए। देखनेवाले अनेक व्यक्ति वहाँ रहते है जो प्रत्येक जुआरीके सम्बन्धी या जान पहिचानके होते हैं। वे उस प्रसन्नताके फलस्वरूप उससे पारितोषिक माँगते हैं। वह मुफ्त के बिना परिश्रम पाए हुए रुपयोमेसे २५)-५०) रुपया बाँट भी देता है। दूसरी बार दूसरा व्यक्ति २००) ३००) जीत जाता है। तो वह भी २५)-४०) आमोद प्रमोदमे खर्च कर देता है और लगनेवाले लोगोमे बाँट देता है। यह रुपया जो आमोद प्रमोदमे चला जाता है या लोग ले जाते हैं जुएकी मूल पूँजी जो २०००) थी उसमेसे घटता जाता है। १०-५ बार इसी प्रकार कभी कोई कभी कोई दाव लगाकर जीता और ५०) रुपया जुएके बाहर उक्त प्रकारसे खर्चमे चले गए। ४-६ घटे यदि जुवा चलता रहा तो २५-३० बार हारजीतका प्रसग सहज ही आ जाता है और प्रतिवार ५०) खर्चके हिसाबसे ३० बारमे १५००) खतम हो जाता हे। बाकी ५००) रह गया सो किसीके पास १००) होगे, किसीके पास २००) होगे, किसीके पास ३००) होगे तो कोई एक सर्व धनसे रहित हो गया होगा। यथार्थ दृष्टिसे सब लोग हारे। ऐसा होने पर भी ईर्ष्यावश वे यह समझते रहते हैं कि हम इससे अच्छे है हमारे पास तो इतना बचा। यह तो निर्धन हो गया। इस प्रकार ईर्ष्याजन्य परिणामोसे सन्तुष्ट होकर चले आते हैं।

इतना होनेपर भी वे शान्त नही बैठ सकते। पुन दुबारा घरसे रुपया लेकर, घरमे न हो तो जेवर गिरवी रखकर या बेचकर और यदि जेवर न हो तो जहाँसे उधार मिल सकता है वहाँसे उधार लेकर, घर-मकान गिरवी रखकर भी रुपया लाते है और एकके चार बनानेकी अभिलाषासे पुन जुआ खेलते है। परिणाम उसका भी पहिले जैसा ही होता है और अन्तमे वे फिर अपनी पूँजीको कमकर बैठते हैं या निर्धन हो जाते हैं। तब निर्धनताके

कारण चोरीकी आदत उन्हे डालनी पडती है, क्योकि इस प्रकार धनहीन, आजीविकाहीन और विश्वासहीन हुआ मनुष्य या तो भिक्षावृत्ति करनेके लिए या चोरी करनेके लिए मजबूर होता है। इसके सिवा उसके पास दूसरा कोई उपाय ही नही है। इस प्रकार जुएकी निर्धनताने चोरी व्यसनका उपहार उसे प्रदान किया या निर्लज्जता प्रदानकर भिक्षा मँगवाई। राजा नलने चिडियोका शिकारकर पेट भरना प्रारम्भ किया अर्थात् उसे जुएकी निर्धनताके फल स्वरूप आखेटक व्यसन लग गया।

दैवगत्या यदि कोई द्यूतक्रीडावाला अपनी पूँजी बचा ले और दूसरे की पूँजी भी जीत जाय। ५००) की जगह १५००) पैदा करले तो यह जीता हुआ द्रव्य उसे शान्तिसे बैठने न देगा। या तो वह १५००) के ३०००) बनाने की फिकरमे रहेगा और फिर भी जुआ खेलेगा और यदि खेलना कुछ समयको बन्द कर दिया तो बिना प्रयासके प्राप्त उस पर द्रव्यसे अन्य व्यसनोका शिकार बन जायगा। मद्यपान, वेश्यागृहनिवास, उसकी सगतिमे माससेवन, वेश्या न मिलनेपर परस्त्रीरमण आदि समस्त व्यसन स्वत एव उसे घेरे लेंगे और इन व्यसनोमे द्रव्यको नष्ट कर वह भी निर्धनताको प्राप्त होकर चोरी, भिक्षा और आखेटकसे जीविका निर्वाहके लिए बाध्य होगा।

इस प्रकार व्यसनोका लग जाना और उनसे हर प्रकारकी हानि उठाना एक द्यूतका फल है। इसे सातो ही व्यसनोका राजा कहा है। एक दन्तकथा प्रसिद्ध है कि एक साधु जगलमे चिडियाँ मार रहा था। उसे देखकर एक अन्य साधुने उसे रोका और कहा कि भाई साधु होकर शिकार करते हो ? साधु बोला कि सदा नही पर कभी कभी मास खानेकी आदत पड गई है। जब इसके बिना रहा नही जाता तब शिकार कर लेता हूँ। दूसरे साधुको आश्चर्य हुआ। उसने पूछा कि क्या भाई मास भी खाते हो ? तो बोला हाँ वेश्याकी सगतिमे यह आदत पडी है। दूसरे साधुने सोचा कि यह वेश्या भी सेवन करता है। उसने पूछा कि भाई तुम वेश्याके यहाँ भी जाते हो और तुमने उसकी सगतिमे साधुपना छोड मास खाना कैसे स्वीकार कर लिया। तब पहला साधु बोला कि भाई अपनी दशा क्या कहे ? वेश्याने मद्य पिलाया। वह बोली बिना इसे पिए भोगका आनन्द नही आता। सो मद्य पीकर जब मुझमे उन्मत्तता आई, भूख लगी और चित्त चैतन्य शून्य सा होने लगा तब जो उसने खिलाया सो खाया। होश आने पर ज्ञात हुआ जो इसने मास खिलाया है तबसे आदत पड गई है।

नवागत साधु यह सुनकर बहुत व्यथित हुआ, बोला कि भाई वेश्या सगतिसे तू शराब भी पीने लगा, मास भी खाने लगा और शिकार भी करने लगा। तुझे चार-चार व्यसन लग गए। भला यह तो बता कि साधु होकर पहिले वेश्याके यहाँ गया ही क्यो ? तो वह बोला कि भाई क्या कहूँ ? जब कामने सताया और जब वनमे अकेली दुकेली कोई स्त्री न मिली तो वेश्या के यहाँ जाना पडा। धन तो मेरे पास बहुत था, चोरीसे मिल जाता था। जब कोई महाजन जगलके रास्ते जाता तो उसे लूट लेता था। धनकी कमी न थी। इससे वेश्याके यहाँ चला गया। दूसरे साधु ने सोचा कि यह दुष्ट चार ही व्यसनका व्यसनी नही है। परस्त्री गमन भी करता है और चोरी भी करता है। उसने उस पर करुणा कर पूछा कि भाई तेरी यह दुर्दशा कैसे हुई। ये दोनो दुर्व्यसन भी तुझे कैसे लग गए ? तब प्रथम साधु बोला भाई क्या कहे ? सच्ची बात यह है कि सबसे प्रथम मैने जुआ खेलना प्रारम्भ किया था। उसमे पहिले तो बहुत धन मिला और उस धनने मुझे मदोन्मत्त किया। मैंने सोचा बिना स्त्रीके धनका क्या करू। फलस्वरूप मैने एक स्त्री रख ली। कुछ समय बाद मै जुए मे हार गया सो सब धन चला गया। निर्धन होते ही वह स्त्री भाग गई। मैं उन्मत्त हो धनके लिए डाका डालने लगा और उस डाकेमे जो धन

मिलता तो धन रख लेता और कोई स्त्री मिल जाती तो स्त्री रख लेता। इस तरह जुएने मुझे स्त्री रखने तथा डाका डालनेको बाध्य किया। अन्यायोपार्जित उस धनने मुझे वेश्या घर तक पहुँचाया और वहाँ जानेपर मेरी जो दुर्दशा हुई वह आपके सामने है। सभी व्यसन अब मेरे साथी हैं। मैं इनमे घुल मिल गया हूँ। साधुताकी जगह असाधुता आ गई है। केवल तन पर गेरुआ कपडा शेष है। सो ये भी लोगोके फँसानेका एक जालमात्र है, यथार्थमे साधुता नही है, साधुतावेश मात्र है।

इस कथासे यह सहज ही समझमे आ जाता है कि यह जुआ व्यसन सब व्यसनोका राजा है। यह सचमुच विपत्तियोका मित्र हैं। इसके वशीभूत मनुष्य अपनी सम्पूर्ण साधुताको तिलाञ्जलि देकर प्रत्येक प्रकारके दुर्गुणोको प्राप्त कर लेता है। जिस तरह अपने द्वारा भुक्तभोजन यदि वमनके द्वारा मुखसे गिर जाय तो उसे अत्यन्त घृणास्पद समझ कर लोग छोड देते है। उसमे सब प्रकारके मिष्टान्न, जो भी मैंने खाए थे मौजूद हैं ऐसा समझ कर कोई उसे पुन नही ग्रहण करता। इसी प्रकार वमनकी तरह जुएके द्रव्यको समझकर उसे घृणाकर जो द्यूतका त्याग करता है वह पवित्रात्मा सर्व व्यसनोसे बच जाता है और उसमे सब प्रकारके सद्गुण उत्पन्न होते हैं। वह अपने शुद्ध चैतन्य धनका धनी होकर अनन्त सुखका पात्र होता है और ससार बन्धनसे छूट जाता है। अतएव द्यूत सर्व प्रयत्नो द्वारा छोड देने योग्य है। ७८। ७९।

प्रश्न —**का मासभक्षणे हानिस्तद्बोधाय गुरो वद।**

हे गुरुदेव! मास भक्षण करनेमे क्या हानि है। इस विषयको समझाइए—

(अनुष्टुप्)

न मांसभक्षिणां चित्ते दयाधर्मो भवेत्किल।
हेयोपादेयबोधोऽपि न स्यात्सद्विश्वशान्तिदः॥ ८०॥
ज्ञात्वेति दु खदं निन्द्य त्यक्त्वा हि मांसभक्षणम्।
कुर्वन्त्वात्महित सन्तो धर्मज्ञा धर्मनायका॥ ८१॥

न मासभक्षिणामित्यादिः—भावार्थस्त्वयम्, ये परमास भक्षयन्ति तेपा चित्ते दयाधर्मो किल न भवति। मासस्योत्पत्तिस्तु प्राणिना शरीरत एव भवति। न तु मास वृक्षात् प्राप्यते न भूमितस्समुद्भवति न चाकाशात्पतति। मासार्थिना परशरीरघातस्तु अत्यावश्यकोऽस्ति अन्यथा मासप्राप्तिर्न स्यात्। दयावान्पुरुपस्तु परशरीरस्य रोममात्रमपि दु खीकर्त्तुमसमर्थो भवति, कथ तर्हि परशरीर घातयेत्स ? सर्वत्र जगति शान्तिप्रद सम्यग्ज्ञानमस्ति। सम्यग्ज्ञानत एव हेयस्य उपादेयस्य चार्थस्य विवेको भवति। हेये हेयतया उपादेये च उपादेयतया यद्विवेक स्यात् तेन विवेकेनैव विश्वेऽस्मिन् शान्तिर्भवितुमर्हति, नान्यथा। मासाशिनस्तु न स विवेक स्यात्। इत्येव सम्यगवबुध्य य निन्दनीय दु खप्रद तन्मासं न भक्षयति तस्यैवात्महित सदा स्यात्।

धर्मस्याधिष्ठातार सज्जना धर्मस्वरूपबोधकाश्च आत्महित कुर्वन्तु हेयोपादेयविवेकपूर्वक। मासभक्षण तु त्याज्यमेव। सदा विचारणीयमेतत् यत् मासभक्षणे हिंसामहापापस्य चरमसीमाऽस्ति। न केवल तत्प्राणिन एव-वधस्सजायते यस्य मास भुज्यते, अपि तु मासे तज्जातीना पञ्चेन्द्रियाणा जीवाना निगोतसज्ञकानामपि शरीरे तेपा-

मुत्पत्तिर्भवत्येव। पक्वमपि पचदपि अपचदपि अपक्वमपि मास निगोताना सदैव योनि। तद्भक्षणे तु तेषा नियता हिंसा सजायते।

न चान्नादिवत् प्राण्यङ्गत्वात् तद्भक्षणे का हानिरिति प्रश्न उपयुज्यते। त्रससज्ञकाना प्राणिना शरीर-स्थिताानामेव माससज्ञा चास्ति। तत्रैव निगोतानामुत्पत्तिस्सजायते न तु अन्नादिषु स्थावरसज्ञकेषु, तेषामेकेन्द्रियत्वात्। तस्य शरीरस्य स एव स्वामी। तस्यैवैकस्यैकेन्द्रियस्य तत्र हिंसा भवति नान्यस्य। कन्दादिषु अनन्तकायिकेषु साधारण-वनस्पतिषु तु अनन्तानामेकेन्द्रियाणा निगोदसज्ञकानामुत्पत्ति स्यात्। तद्भक्षणे तु तेषा मरण नियतमस्ति। तस्मात्कारणात् सप्रतिष्ठिताना वनस्पतीना भक्षण त्याज्यमेव दयावद्भि श्रावकै। पक्वावस्थायान्तु वनस्पतीना प्रासुकत्व स्यादेव। तदा तच्छरीर खलु निर्जीवमेव भवति। तद्भक्षणे न तदतिरिक्ताना प्राणिना वध स्यात्। न तत्र सतत मृतमासवत् जीवानामुत्पत्तिर्भवति। तस्मात् सिद्ध यन्नान्नादिभिस्समत्व स्यान्मासादीना कदाचित्। तन्मास परिहर्तव्यमेव स्वहितमिच्छता। ८०। ८१।

मास भक्षण करना यह दूसरा व्यसन है जो प्राणीको धर्म मार्गसे भ्रष्टकर अधर्मके मार्गमे ले जाता है। जो लोग मास भक्षण करते हैं वे दयावान् नही होते। दया और हिंसा दोनोमे परस्पर विरोध है। जैसे प्रकाश और अधकार एक साथ एक स्थान पर नही रह सकते, इसी प्रकार एक प्राणीमे दया और हिसा दोनो एक साथ निवास नही कर सकते। मासभक्षण निश्चित हिंसा महापापका रूप है अथवा उसकी चरम सीमा है।

प्राणिवधके विना मासकी उत्पत्ति नही होती। मास वृक्षोमे नही फलता, भूमिमे उत्पन्न नही होता, आकाशसे बरसता भी नही है, उसकी प्राप्ति प्राणी हिसासे ही होती है। ऐसी स्थितिमे दयावान् पुरुष भला किसी प्राणीकी हिंसा मासभक्षण के लिए कैसे करेगा? क्या कर्त्तव्य है। क्या नही। क्या कार्य हेय है, क्या उपादेय है, इस प्रकार विवेक जिसके हृदयमे जागृत है वह दयावान् किसी भी प्राणीके एक रोम मात्र को भी दुखी नही होने देता। पर शरीरका घात करना तो उसके लिए बहुत बडा पातक है।

मासकी उत्पत्तिमे केवल उस प्राणीका ही बध नही है जिसका वह शरीर है बल्कि उसके मासमे उसीकी जातिके अनन्त (निगोत[1]) सख्यक प्राणियोकी सतत उत्पत्ति होती है और मासभक्षणमे उनका विनाश सुनिश्चित है। इस तरह माँस सेवी न केवल एक पचेन्द्रिय का घातक है किन्तु उन असख्य पचेन्द्रियोका वह घातक हो जाता है जिन अनन्तानन्त निकोत जीवोके वहाँ अधिष्ठान हैं और जो उस-मासमे सतत उत्पन्न होते रहते हैं 'इन जीवोकी उत्पत्ति स्वय मरे हुए प्राणिके मासमे भी होती है और मारे गए प्राणीके मासमे भी होती है। तथा मासकी पकी हुई, पकती हुई, तथा कच्ची आदि सम्पूर्ण अवस्थाओमे भी होती है। अतएव मासभक्षणमे उनकी महान् हिंसा अवश्य होती है।

त्रसकायिक इन सब प्राणियोके शरीरमे तज्जातीय असख्य प्राणियोकी तथा अनन्तानन्त निकोत जीवोकी सदा उत्पत्ति होती है और सप्रतिष्ठित वनस्पतिमे वनस्पति जातीय अनन्त निगोद प्राणियोकी

१—हमारे पूज्य पिताजी निगोद और निगोत या निकोत जीवोमें बडा भेद है ऐसा कहते थे। इन्हें एकार्थ नही मानते थे। वे इनकी इस प्रकार व्याख्या करते थे कि साधारण वनस्पतिको निगोद कहते हैं। और निगोत या निकोत सज्ञा उन असख्य जीवोकी है जो त्रस है और जो त्रस जीवोके रक्त मासादि सज्ञा प्राप्त शरीरमें सतत होते रहते हैं। ये मृत शरीरमें भी होते है पर निगोद मृत एकेन्द्रिय शरीरमें नही होते केवल सजीवावस्था में होते हैं। सम्भवत उन्हें यह बात गुरुवर्य्य प० गोपालदासजी से ज्ञात हुई थी।

उत्पत्ति होती है। अत मासके समान सप्रतिष्ठित वनस्पति भी दयावान् पुरुषके लिए हेय है, केवल अप्रतिष्ठित वनस्पतियाँ ऐसी हैं जिनके भक्षणमे केवल उस एक ही एकेन्द्रियका घात होता है। कोई वनस्पति शरीर जीव द्वारा परित्यक्त हो जाने पर निर्जीव हो जाता है। उस मृत शरीरमे निगोद जीवोकी उत्पत्ति नही होती। इस स्थिति को देखकर कोई मनुष्य कुतर्क द्वारा यह सिद्ध करना चाहे कि अन्नादिवत् मृत-प्राणीके शरीरका मास भी है तब अन्नादिकी तरह उसके भक्षणमे कोई दोष नही होना चाहिए। अथवा मासकी तरह अन्नादि भी न खाना चाहिए तो ये दोनो उक्तियाँ युक्तिशून्य हैं, सत्यके विरुद्ध हैं क्योकि एकेन्द्रिय प्राणीके मृत शरीरमे निगोदिया जीवोकी उत्पत्ति नही होती।

विश्वमे शान्ति प्रदाता हेयको हेय और उपादेयको उपादेय बतानेवाला एकमात्र सम्यग्ज्ञान ही है। उक्त प्रकारका विवेक मासभक्षीको उत्पन्न नही होता। अत वह विश्वके लिए सदा खतरा बना रहता है। तब विश्वशान्ति कैसे हो। विश्वशान्तिके इच्छुक सम्पूर्ण मानव यदि शान्तिके मूल इस जीवदया रूप महामत्रको जपकर मासभक्षणका परित्याग कर दें तो विश्वशान्ति होना अनिवार्य है। विश्वका सघर्ष विश्वके प्राणियोकी कल्याणकी भावनाके विना कैसे टाला जा सकता है। और जो प्राणियोके मास खानेसे भी परहेज नही करता वह विश्वके उन प्राणियोकी कल्याण कामना कैसे कर सकता है। दोनो बातें परस्पर विरुद्ध हैं।

धर्मज्ञ और धर्मके नायक पुरुष जो आत्महित और विश्वका हित चाहते हैं उनका कर्त्तव्य है कि अपने भीतर हेयोपादेयका विचार उत्पन्न करे और निन्दनीय दु खदायी इस मास सेवनके व्यसनका त्याग कर अपना और पराया हित करनेके कार्योमे सतत सावधान रहे। ८०। ८१।

मद्यपान व्यसनके दोष

प्रश्न —**मद्यपानाद् भवेत् किं मे वदात्मशान्तये प्रभो।**

हे प्रभो! मद्यपानसे क्या हानि होगी यह कृपा कर समझाइए—

(अनुष्टुप्)

चातुर्यं प्रवरा बुद्धिर्लज्जापि मद्यपायिनाम्।
कुलजातिपवित्रत्व नश्यति धर्मभावना ॥८२॥
स्वैराचारा स्पृहा दुष्टा वर्धन्ते भवदुःखदाः।
त्यक्त्वेति मद्यपानादि पिबन्तु स्वात्मनो रसम् ॥८३॥ युग्मम् ॥

चातुर्यमित्यादि—तात्पर्यमेतत्—मोहश्चित्तभ्रमञ्जनयति तन्मद्यम्। मद्यपायिना चित्तवृत्तिरेव दूषिता भवति। स्मृतिश्च लुप्यते। विस्मरणजनकत्वमेव मद्यस्य सौष्ठव इति कथयन्ति मद्यपा। यत्र स्वानुभूतकार्यस्यैव विस्मरणत्व गुणस्तत्र प्राणिनि कुत स्याच्चातुर्यम्। प्रवरा श्रेष्ठतमा आत्महितैषिणी हेयोपादेयविचारिणी निर्मला बुद्धिस्तत्र कथ तिष्ठेत्? सद्बुद्धेरुत्पत्तिस्तु दूरमास्ताम् सर्वसाधारणप्राणिषु पशुपक्षिषु कीटपतगेष्वपि? भोजन-पान-शयन-भोगादीना व्यावहारिकदृष्टया यो विवेक स्यात् न सोऽपि मद्यपे दृश्यते। विवेकस्याभावे तस्य निर्लज्ज-त्वमपि सजायते। विवेकशालिन एव लज्जा स्यात्। अविवेके कुतो लज्जा। निर्लज्जस्तु स वेश्यादिगमन करोति। अभक्ष्य भक्षयति। अमेध्यमपि सेवते। स्वमातर्यपि विषयसेवने प्रयतते। स्वायोग्यास्वपि वनितासु सन्तानोत्पत्ति करोति। एव स्वोत्कृष्टा जाति कुल च मलिनीकृत्य स्वैराचारी भवति। तस्य धर्मपालने भावना न

कदाचित् स्यात् । दुखप्रदायिन्य हिंसापरिपूर्णा कुत्सिता इच्छास्तु प्रवर्धन्ते । एव मद्यस्य दोषान् परिज्ञाय तत् परित्यज्य ये चैतन्यरसपरिपूर्णानन्दस्वरूपस्य स्वात्मनो रसमेव पिबन्ति ते मद्यव्यसनविरक्ता सन्त· स्वात्मसुख अनुभवन्ति । ८२ । ८३ ।

मद्यपान यह तीसरा व्यसन है । यह ऐसा कुव्यसन है जो आत्माकी बुद्धि पर सीधा कुठाराघात करता है । जैसे मस्तक विकृत हो जानेसे बडे बुद्धिमान् चतुर तत्त्वज्ञ पण्डितकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है इसी प्रकार मद्यपानसे मनुष्यका चित्त विकृत हो जाता है और उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्यका बोध शेष नही रहता । मद्यपायी लोग उत्तम मद्य उसे ही मानते है जो सुध-बुध भुला दे । जो मद्यप थोडा भी होशमे रहता है मद्यप लोग उसके मद्यको हलके दर्जेका मानते हैं । जिस मद्यकी उत्कृष्टता ही अज्ञान, विस्मरण या विवेकाभावका प्रतीक है उसके सेवन करनेवाले मनुष्यमे बुद्धि चातुर्य—विवेकशालिनी बुद्धिके सद्भावकी आशा करना स्वय विकृत मस्तकका कार्य है । जैसे बालूसे तेल नही निकाला जा सकता वैसे ही मद्यपायी विवेकी नही हो सकता ।

मद्ययायीको जब नशा उतरने पर होश आता है और उस समय उसे व्यावहारिक दृष्टिसे कुछ बोध होने लगता है तब ही वह उस किञ्चिन्मात्र बुद्धिका नाश करनेके लिए पुन मद्यपान कर लेता है । होशमे रहना उसे इष्ट ही नही, उसे तो अनिष्ट ही इष्ट है । जिसमे आत्मविस्मृति ही गुण है वहाँ चातुर्य और श्रेष्ठ बुद्धिकी कल्पना या आशा करना मूर्खता है । सर्व साधारण पशु, पक्षी व कीट पतगादि मे भी खाने, पीने, सोने व विषय भोग करनेका जो ज्ञान होता है उतना भी ज्ञान मद्यपायीको नही रह जाता । ऐसी स्थितिमे मानवयोग्य बुद्धिकी उसमे आशा कैसे की जा सकती है ।

विवेकके अभावमे लज्जा भी चली जाती है । अविवेकी लज्जित क्यो होगा ? कोई बुरा काम करनेवाले व्यक्तिको उसका विवेक जागृत होने पर ही लज्जाका अनुभव होता है, पर जिसे विवेक खोनेके लिये ही मद्य पीना है उसे अपने दोष पर कभी लज्जा आयगी यह सोचा ही नही जा सकता । निर्लज्ज मनुष्य वेश्या सेवन, परधनापहरण, अभक्ष्य भक्षण, अपवित्र वस्तु सेवन, यहाँ तक कि स्वमातासे भी विषय सेवन जैसे निन्द्य कर्मोको करनेमे आगा पीछा नही देखता । व्यभिचारिणी स्त्रियोकी सगति कर उनमे ही सन्तान उत्पन्न करता है और इस तरह अपनी जाति और कुलको कलकित कर उसे अपवित्र बनाता है । आचार नामक वस्तु उसके लिए कुछ है ही नही । वह स्वैराचारी हो जाता है ।

स्वैराचारी मनुष्यकी धर्मभावना नष्ट हो जाती है । क्रूर और हिंसक भावनाए जागृत हो जाती है । उसकी मानसिक इच्छाएँ सदा दूषित रहती है । इच्छा न रहने पर भी वह अकृत्यको करता है अखेव्यको सेवन करता है । अगम्यमे गमन करता है । वह अपनी सदिच्छाओको पूरा करनेके लिए स्वय असमर्थ है । वह अपने आपमे पराधीनताका अनुभव करता है । दुखी होता है और उस पराधीनतासे छूटनेकी बार बार इच्छा करता हुआ भी उससे अपनेको छुडा नही पाता । जैसे पानीमे बहने वाले व्यक्तिको गोह पकड़ ले तो उसे उससे पिण्ड छुडाना असम्भव सा जान पडता है । ऐसे ही नशेमे बहनेवाले इस मद्यपको भी कही बचनेका ठिकाना नही मालूम होता । वह दिन दिन घुलता है । परेशान होता है । इस दुखसे छूटना चाहता है पर अपनी असावधानी देख फिर आत्मविस्मृतिके लिए मद्य ही पी लेता है । और इस दुर्दशासे अन्तमे मरणको प्राप्त हो दुर्गतिका पात्र बनता है । ऐसा जानकर इस व्यसनका परिहार कर और स्वात्मानन्द रसका पान कर सुखी बनना चाहिए । ८२ । ८३ ।

प्रश्न'—खेटक्रीडाफलं लोके किमस्तीति गुरो वद।

हे गुरो। खेटक्रीडा अर्थात् शिकार व्यसनका क्या फल है कृपाकर कहिए —

(अनुष्टुप्)

खेटक्रीडादिलुब्धानां क्रूरता मूढताऽगति ।
वर्द्धते पशुता दुष्टा सन्मार्गनाशिनी स्पृहा ॥ ८४ ॥
खेटक्रीडां भयाक्रान्तां ज्ञात्वेति दुःखदां सदा ।
त्यक्त्वा स्वात्मपदे नित्यं रमन्तां स्वात्मशोधकाः ॥ ८५ ॥ युग्मम् ॥

खेटक्रीडेत्यादिः—तात्पर्यमेतत्, आखेटक नाम व्यसनितया कौतुकार्थं वने वने गत्वा पशूना पक्षिणा वा वध । एप व्यसनी खलु माससेवनादिप्रयोजनत हरिणादीन् पशून् पक्षिणश्च खड्गादिना वाणादिना अन्यायुधेन च मारयति । स्वशौर्यप्रकाशनार्थ सिहादिक्रूरजन्तूनामपि वध करोति तथा लोके कीर्तिसपादनार्थं च स एतान् विनाशयति । एतदतिरिक्त केवल कौतुकार्थं परदु खदायिनी दुरिच्छा पूरयितुमपि परप्राणानपहरति । अस्मात्कुकृत्यतस्तु तस्य मनसि सन्मार्गलोपिनी असन्मार्गप्रवर्द्धिनी इच्छा वर्द्धते । पशूना सम्पर्कात् पशुवद्दुष्टकार्यकरणात् तद्वदविवेकित्वेन च दुष्टा पशुता तस्य आयाति । क्रूरता वर्द्धते । कपायाणामतिमात्रया मूढता प्रसरति । अगतिश्च भवति स तद्विना । एतत्फलमपि महद्दु खदमस्ति । अस्मिन्नेव जन्मनि स वनजन्तूनामाहारो भवति । मृत्वा च नरके पतति । अथवा तिर्यग्गतौ द्वीन्द्रियादिषु कीटयोनिषु गत्वा सोऽन्यैर्भक्ष्यते । इत्यनेन प्रकारेण अनेकानेकदु खदा भयाक्रान्ता एना वधक्रीडा ज्ञात्वा त्यजेयुरेतद्व्यसनम् । तथा स्वात्मशोधनतत्परास्सन्त नित्य स्वात्मपद एव रमन्ताम् । ८४ । ८५ ।

मासादि सेवन करनेका व्यसन जिन्हे पड गया है वे शिकार खेलनेकी आदत बना लेते हैं। कोई अपने शौर्य प्रकाशनकी इच्छासे, कोई अपनी हिंसक समाजमे कीर्ति सम्पादनकी इच्छासे और कोई केवल अपना शौक पूरा करनेके इरादेसे अपनी कुत्सित इच्छाओको पूरा करनेके इरादेसे दूसरे प्राणियोका वध करते हैं। इस कुकृत्यको करते हुए उनमे दयाके स्थानमे कौतूहल जागृत होता है। क्रूरता जागती है। एक तडपते हुए प्राणीको देखकर सज्जनको जहाँ करुणा उत्पन्न होती है वहाँ व्यसनीको आनन्द आता है। यह आसुरी आनन्द ही क्रूरता है। यही सन्मार्गसे भ्रष्ट करानेवाली महा मूढता है। हिंसक जन्तुओकी तरह यह पशुता उसको दिन दिन वढती जाती है। प्रकारान्तरसे वह कुछ समयमे नरतनधारी होने पर भी अपने परिणामोकी जाति द्वारा पशुसे भी भयकर हिंसक और अविवेकी बन जाता है। इस कुकृत्यका फल परलोकमे नरकादि गतिकी प्राप्ति है। ऐसे कुमानुषका मरण इस लोकमे भी बहुधा वन जन्तुओ द्वारा ही होता हैं। यदि वह तिर्यंगतिमे भी उत्पन्न हुआ तो स्वय निर्बल होता है और दूसरे सबल प्राणियोका भोग्य बनता है जिनको उसने पूर्वजन्ममे सताया था। द्वीन्द्रियादि जन्ममे कीटादि होकर भी वह पक्षियोका आहार बनता है। इस प्रकार महान् भय और दुखको देनेवाले इस कुव्यसनका त्यागकर आत्मशोधकोको स्वात्मामे ही रमण करना चाहिए। ८४ । ८५ ।

प्रश्न —वेश्यासङ्गफलं किं मे वदास्ति सिद्धये गुरो।

हे गुरुदेव। वेश्यासङ्गका क्या फल है वह मेरे आत्महितकी दृष्टिसे कहिए—

(वसन्ततिलका)

वेश्यारतस्य शुचिता सुखदा न शान्तिः ।
बुद्धेर्बल सुजनता नरताऽपि नश्येत् ।।
ज्ञात्वेति धर्मरसिकैर्न हि तत्प्रसङ्गः ।
कार्यो यत खलु भवेत् विमलः किलात्मा ।। ८६ ।।

वेश्येत्यादि :—कामातुरो पुरुष स्त्री च परस्त्री परपुरुष च सेवते । या तु व्यभिचारिणी स्त्री अभर्तृका अपि पुरीषालयवत् नगरनिवासिभिर्विटपुरुषै सेव्यते तथा यस्या जीवनमपि अनेनैव दुष्कर्मणा सपद्यते सा वेश्या-शब्देन लोके प्रसिद्धाऽस्ति । वेश्यारतस्य शुचिता नश्यत्येव । सुखदायिनी शान्तिस्तु तत्र पद न धत्ते । तद्व्यसनेन नरस्य बुद्धेर्बलमपि नश्यति । तस्य मानवताऽपि लुप्यते पशुता चायाति । इति ज्ञात्वा धर्मरसास्वादकै कदापि तत्प्रसङ्ग न कार्य । अत तत्परित्यागेन आत्मा विमल पापविरहितो भवेत् । ८६ ।

व्यभिचारिणी स्त्रियाँ जो व्यभिचार द्वारा ही अपना उदर निर्वाह करती हैं, जो बिना पतिकी होते हुए नगरके अनेक विटपुरुषों द्वारा नगरपालिकाके पुरीषालयो की भाँति सेवित होती हैं वे वेश्या शब्दके द्वारा व्यवहृत होती हैं। वेश्याव्यसनी मनुष्य बहुत दु खी होता है। सबसे प्रथम तो वेश्या अपने ग्राहकसे किञ्चिन्मात्र स्नेह न होते हुए भी अत्यन्त स्नेहका प्रदर्शन करती है जिससे वह व्यसनी जालमे मछलीकी तरह उसके जालमे फस जाता है। वह उस जालसे अपनेको फिर मुक्त नही कर पाता। वह अपना सर्वस्व धन, धर्म, वैभव, ज्ञान, विवेक, कीर्ति, दया, सद्व्यवहार और नागरिकता उस कुटिलाके चरणोमे चढा देता है।

चारुदत्तकी कथा तो शास्त्रोमे प्रसिद्ध है, परन्तु वेश्याव्यसनीकी बरबादीके अनेक लौकिक उदाहरण प्रत्यक्ष भी देखे जाते हैं। वेश्या अपने ग्राहकको मद्यपानके व्यसनमे फँसाए बिना नही रहती। मद्यपानसे उसे यह लाभ होता है कि मद्यप उसके नशेमे अपना होशहवाश खो बैठता है। चित्तभ्रम होनेसे कभी अपने भलेकी बात सोच ही नही पाता। यदि वह मद्यपान न करे तो अधिक सभव है कि वह कभी अपनी बरबादी, अपकीर्ति और धनकी लूट आदि हानियोको देखकर सतर्क हो जाय और वेश्या की सगति छोड दे। इस भयसे वेश्या उसे शराब पीनेकी बुरी आदत जरूर डाल देती है। जब वह मनुष्य शराबकी बेहोशीमे अनवरत व्यभिचार करते करते शरीरसे भी बेकाम हो जाता है, निर्धन हो जाता है तथा समाज, सज्जन गोष्ठी, परिवार और मित्र आदि सबसे वञ्चित हो दर-दरकी भीख माँगने योग्य हो जाता है तब वह वेश्या उसे घरसे इस प्रकार निकाल देती है जैसे किल्ली मृत पशुको रक्त विहीन देखकर छोड देती है।

घरके लोग हिस्सा बाँट कर पहिलेसे ही उसे अलग कर देते हैं ताकि वह अपने हिस्सेका ही धन बरबाद करे सब घरका धन व आजीविका नष्ट न कर सके। वेश्या द्वारा परित्यक्त निर्धन व्यक्तिको कोई कुटुबी आश्रय देनेको तैयार नही होता। इतना ही नही, उस व्यभिचारी हीनाचारी मद्यपायीको समाजका भी कोई व्यक्ति पास बैठानेको तैयार नही होता। उससे लोग ऐसे बचते हैं जैसे छूतकी बीमारीसे बचा जाता है। कोई धनी उससे लेन-देन व्यापारका व्यवहार नही करना चाहता, क्योकि वह जानता है कि इसके पास पैसा तो है ही नही साथ ही दुर्गुणी होनेसे यह विश्वासका पात्र भी नही रहा। व्यसनी होनेसे यह अधिक सभव है जो यह हमारे द्वारा प्रदत्त धनका उपयोग अपनी आजीविकार्थ न करके मद्यपानमे ही करे या फिर किसी वेश्याको दे दे।

आजीविकाके अभावमे या तो वह लज्जाविहीन हो दर-दर भिक्षाटन करता है या फिर चोरी या द्यूत द्वारा अपना कष्ट दूर करनेका प्रयत्न करता है। वेश्या व्यसनी यदि चोरी या द्यूत क्रीडा द्वारा धनोपार्जन कर भी ले तो वह उसे वेश्याको ही देगा या मद्यपान करेगा। वेश्याओके पास ऐसे ही अनेक चोर उचक्के, डाकू, शराबी और मासभक्षी पुरुष आते जाते रहते हैं जो उसकी दु सगसिको छोडनेमे अपनेको असमर्थ पाते हैं।

वेश्या, कचन और मद्य ये तीन यदि एक एक भी हो तो मनुष्यको सर्वथा अविवेकी, निर्दय, निर्लज्ज और पराधीन बना देते हैं। कदाचित् तीनोका योग हो जाय तब तो विनाशके लिए परम औषधि, जिसे महाविष भी कहा जा सकता है, तैयार हो गई ऐसा मान लेना चाहिए। जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, सुख और शान्तिका अभिलाषी है उसे परिवार चाहिए, समाज चाहिए और सत्सगति चाहिए। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अकेला नही रहना चाहता। वह साधु भी हो जाय तो भी उसे वही साधु समाज अपने सुख शान्तिके लिए चाहिए। फिर ससारी गृहस्थकी तो बात ही क्या है? वह तो सबसे अलग अकेला रह ही नही सकता। पर यह वेश्याव्यसन ऐसा है जो यह उस प्राणीको ससारमे इस जीवित्त अवस्थामे ही सबसे विमुक्त कराकर अकेला कर देता है। मनुष्य परिवार मित्र व समाजसे परित्यक्त हो बहुत त्रास पाता है और अन्तमे चलते चलते ऐसे मनुष्योके सपर्कमे पहुँच जाता है जो ऐसे ही त्रस्त हो सबसे विमुक्त हैं और अनेक पापो द्वारा अपना जीवन यापन करते हैं। ऐसी सगति ही सर्वनाशकी निशानी है। आत्मकल्याणकी कामना करनेवाले मनुष्योको इस विनाशक व्यसनसे सदा बचना चाहिए, और जिन कार्योंसे अपना हित हो उनमे सावधान रहना चाहिए। व्यसनी मनुष्यका आत्मा दुर्गुणोका पात्र बन जाता है अत अपने आत्माकी पवित्रताकी रक्षाके हेतु इस महा-व्यसनका दूरसे ही परित्याग करना चाहिए। ८६।

प्रश्न'—**स्तेयफलं गुरो किं स्यात् वदास्ति शान्तये मुदा।**

हे गुरुदेव! चोरी करनेका क्या फल है कृपाकर शान्ति प्राप्तिके लिए मुझसे कहे—

(अनुष्टुप्)

स्ववित्तमपि मे नास्ति पुण्यलब्धं कथं परम्।
ज्ञात्वेति तत्त्वत स्तेय न कुर्वन्त्यात्मवेदिनः॥ ८०॥
स्वपरज्ञानशून्या हि स्तेय कुर्वन्ति पापिनः।
ततः स्वानन्दतृप्त' सन् वसतु स्वात्ममन्दिरे॥ ८८॥

स्ववित्तमित्यादि :—यल्लोके स्ववित्तमित्युच्यते तदपि यथार्थत पुण्याल्लब्धमस्ति, तथापि तत्परमेव। स्वात्मस्वभावबहिर्भूत न किञ्चन अपि मम। सपत्ति विपत्तिश्च पुण्यपापयो फलम्। तत्तत्सामग्री कर्मसयोगजा। कर्म एव आत्मन शत्रु। तेनैव भ्रमति जीव। इत्यात्मतत्त्ववेदिन पुरुषा स्वोर्याजितमपि पुण्यलब्ध धन परित्यज्य धर्मसेवामङ्गीकुर्वन्ति कथ तै परधनापहरणरूप स्तेय स्यात्। स्वपरविवेकरहिता खलु पुमास पापिन स्तेय कुर्वन्ति तत स्तेयादिक विहाय स्वात्मानन्दभोगेपु तृप्त सन् स्वात्मरूपे परमविश्रामस्थले मन्दिरे वसतु। ८७। ८८।

लोकमे जो धन माना जाता है वह भी पुण्य कर्मोदयसे प्राप्त होता है। विना पुण्यके सातोत्पादक सामग्रीका सयोग प्राप्त नही होता। धन यदि लौकिक सुखको उत्पन्न करता है तो पुण्यका फल है। यदि वह धन असाता और आकुलता प्राप्त कराता है तो पापका फल है। एकान्त नही है जो यह धन-सपत्ति

राज्य, परिवार, पुत्र, कलत्र सब पुण्य के फल हैं। यदि इनसे ससारी प्राणी साताका अनुभव करे तो ही ये पुण्य सामग्री है, अन्यथा असाता की उत्पादक हो तो ये सब पापोदयकी सामग्री है। और इनसे विलग होना ही पुण्यका उदय है। सर्व साधारण मनुष्य धनादिसे अपनेको सुखी अनुभव करता है इस दृष्टिको लक्ष्यमे रखकर ही श्री आचार्य महाराजने इसे पुण्यसे प्राप्त होनेवाली सामग्री लिखा है। जगलमे जब डाकू शस्त्र लेकर धन लूटने आते हैं उस समय यदि कोई धनी सामने आ जाता है तो वह शस्त्राघातसे पीडित किया जाता है पर साथमे जो निर्धन है वह छोड दिया जाता है। ऐसे अवसर पर धन विपत्ति लानेवाला होनेसे पापोदयकी निशानी हुई और निर्धनता पुण्यकी सामग्री हुई। नगरमे आग लग जाय तो धनीका धन महान् दु खोत्पादक होनेसे पापकी सामग्री है और निर्धनता सुखोत्पादक होनेसे पुण्य की सामग्री है। मोक्षमार्ग साधनके लिए बाधक अनेक विकल्प जालोमे फँसानेवाली अनिष्ट कारक विभव सामग्री पापरूप है और शीघ्र ही गार्हस्थिक जालसे विमुक्त करा देनेवाली इष्ट कारक निर्धनता पुण्य रूप है।

साराश यह है कि कोई भी सामग्री एकान्त रूपसे पुण्य या पाप रूप नही है। जो ससारी प्राणीको इष्टकारक सुखसाधन हो जाय वह सब पुण्यका फल है और जो भी सामग्री अनिष्टकारक दु ख साधन रूप हो वह पाप का फल है। पुण्यसे प्राप्त सामग्रीको भी सम्यग्दृष्टि अपनी वस्तु नही मानता। वह जानता है कि यह सब स्वात्म स्वरूप व्यतिरिक्त पर पदार्थ हैं। मेरा तो केवल आत्मा है। दर्शन, ज्ञान, और चारित्रात्मक रत्नत्रयस्वरूप धर्म ही मेरा वैभव है। ऐसे विवेकी मनुष्यके द्वारा परधनापहरण रूप निन्द्य स्तेयकर्म कैसे हो सकता है।

जिन मिथ्यामतियोको स्वपरका विवेक नही जागृत हुआ और जिन्होने अभी तक आत्मतत्त्वको ही नही जाना वे अपने मनुष्यके जन्मको ही अपना जन्म मानते हैं, शरीरको ही अपना स्वरूप समझते हैं और कुटुम्ब परिजनको अपना स्नेहभाजन जानते हैं। उन्हे हितैषी समझकर उनसे मोह करते हैं। उनके सयोगमे सुखी और वियोगमे दुखी होते हैं। धन, सपत्ति, मकान और राजविभव आदि जो जो सामग्री उन्हे उनके कर्मोदयसे प्राप्त है उस सबमे राग द्वेषमय प्रवृत्ति करते हैं। यह अज्ञान भाव जिसके हृदयमे जमा है वे अविवेकी ही धनादिको सम्पूर्ण सुखका साधन मान उसमे मूर्च्छित होते हैं। वे उन पर पदार्थोमे ऐसे तन्मय है जो उनके लाभमे अपना परम लाभ और उनकी हानिमे अपनी परम हानि समझकर महान् दु खी होते हैं। ऐसे ही मोही जीव उसकी प्राप्तिके लिए परधनापहरणरूप स्तेय पापको अगीकार कर लेते हैं। एक बार इस पापको करनेवाला उसे बार बार करता है। चोरी उसकी आदतमे आ जाती है। बडे से बडा भी वैभवशाली यदि इस व्यसनका शिकार हुआ तो वह सदा परधनपर गृद्ध्रकी तरह दृष्टि रखता है। छटाक भर भी सौदा बेचेगा तो ४॥ तोला देगा, सेर भर देगा तो १५॥ छटाक तौलकर देगा। छटाक भर लेगा तो ५॥ तोला तौल लेगा, और सेर भर लेगा तो १६॥ छटाक तौल लेगा। उस आधे तोला सामानको, चाहे वह कौडी कीमतका हो, पर उसे बिना लिए नही रह सकता। यह इस व्यसन की महिमा है। लाखो रुपयोका व्यवसाय करनेवाले धनी मानी इज्जतदार व्यक्ति भी एक पैसे की भाजी खरीदनेमे तौलसे ज्यादा चार पत्ते भाजी चोरीसे उठाकर अपने पल्लेमे रखते हुए देखे जाते हैं। वे भले ही दस बीस हजार रुपया दान दे देते हैं, खर्च करते हैं, किन्तु चोरीका व्यसन (बुरी लत) होनेसे वे भाजी के चार पत्तो की चोरी छोडनेमे अपनेको असमर्थ पाते हैं।

आत्मस्वरूपके बोधसे विमुख व स्व-परका भेद न जानने वाले मिथ्यादृष्टियोकी ऐसी ही दशा है। वे बिना चोरीके जीवन निर्वाह नही करते। किन्तु स्व-परविवेकी सम्यग्दृष्टि पुरुष सदा देन-लेन व व्यापार-व्यवहारमे यह चिन्ता रखता है कि मेरे पास अन्यायसे कोई पर वस्तु न आ जाय, किसीकी एक कौडी भी मेरे पास न रह जाय। वह विवेकी कभी स्तेयको स्वप्नमे भी पास नही आने देता। वह स्वात्मानन्दके भोगमे तृप्त होकर ही जीवन यापन करता है। यही कारण है कि वह शीघ्र ही भवभ्रमण-का विच्छेद कर शाश्वत मुक्ति सुखका पात्र हो जाता है। ८७। ८८।

प्रश्न —**परस्त्रीसेवनस्यास्ति किं फलं मे गुरो वद।**

हे गुरुदेव! परस्त्रीसेवनका क्या फल है कृपाकर मुझसे कहे—

(इन्द्रवज्रा)

रक्तोऽस्ति यः कोऽपि किलान्यनार्यां तस्यापमानोऽपि पदे पदे स्यात्।
दुःखप्रदा वैरविरोधवृद्धिः ज्ञात्वेति कार्यो न च तत्प्रसङ्गः॥ ८९॥

रक्तोऽस्तीत्यादि.—य खलु नरकीटक परस्त्रीपु रमते तस्य पदे पदेऽपकीर्ति स्यात्। स लोके अपमान-पदमाप्नोति उपानद्भिश्च निहन्यते। स खलु पापी स्वय चारित्रहीनो भवति पराश्चापि पापपङ्के निपातयति। परस्त्री-सङ्गमात् वैरञ्च भवति। तस्यानादिपरम्परया प्रवाहरूपेण समायात कुलपावित्र्य नश्यति। अनाचारपरम्पराया प्रवर्त्तको भूत्वा स नरके निपतति। आचारविरहितास्तु ये जनास्तेषा भाविनी कुलसन्ततिश्च धर्ममार्गपराङ्मुखी भूत्वा ससाराटव्यामेव भ्रमति चिरकालमिति ज्ञात्वा कदापि तत्प्रसग न कार्य। स्वस्त्रीपु सतुष्य कुलाचारपावित्र्य रक्षणीयम्॥ ८९॥

जो मनुष्य परस्त्रीमे रमण करता है या जो स्त्री पर पुरुषकी इच्छा करती है उनका पतन अवश्य-भावी है। लोकमे ये अपकीर्तिके भाजन बनते है। पद-पद पर उनका अपमान होता है। अनाचारकी वृद्धि होती है। कुल और आचारकी पवित्रता नष्ट होती है। यह पापी स्वय तो गिरता ही है साथ ही परस्त्रियोको तथा अपनी सतान परम्पराको भी पापपकमे गिरा जाता है। व्यभिचारी माता पिताकी सन्तान हजारो वर्ष तक उनके नामका स्मरण कर रोती है तथा उनके उस दुष्कृतपर थूकती है। वह इस जन्ममे सर्वथा निरपराध और सदाचारिणी होते हुए भी पूर्व जन्मके पापोदयसे ऐसे हीन पुरुषोकी सन्तान हो कर पदपद पर दु खी और अपमानित होती है। उस अनर्थपरम्पराके उत्पादक होनेसे वह व्यक्ति अवश्य नरकका पात्र होता है।

जैसे हिंसा आदि अन्य पापोका सबन्ध उस व्यक्तिको ही हानि पहुँचानेवाला होता है वैसे व्यभिचार केवल उस व्यक्तिको ही हानि पहुँचानेवाला नही है। बल्कि उसकी सन्तान परम्पराको भी उससे हानि उठानी पडती है। कुलका पावित्र्य सतानकी पवित्रतासे है और सतानकी पवित्रता माता-पिता के सदाचार पर है। असदाचारी माता-पिता अपने भावी कुलकी अवनति और अपवित्रताके हेतु होते हैं।

व्यभिचारसे परस्पर वैर भी बढता है और विरोध भी होता है। सामाजिक पवित्रता और आत्मशान्ति नष्ट होती है। वेश्याव्यसनीकी अपेक्षा यह परस्त्रीव्यसनी घोर पापी है। इसका कारण है कि यद्यपि वेश्याव्यसनीका पतन पर स्त्री व्यसनीकी अपेक्षा अत्यधिक होता है तथापि उसका पतन

उसके आत्मातक ही सीमित है। वह समाजको गदा नही करता। व्यक्तिगत हानि कर स्वयको जरूर मिटा लेता है, किन्तु परस्त्री गमन करने वाला समाजका कोढ है जो उसे भी मिटा करके रहता है।

साराश यह है कि वेश्याव्यसनी अपना व्यक्तिगत पूर्ण विनाश करता है और परस्त्री व्यसन वाला अपना विनाश तो करता ही है साथ ही अपने कुलपर कलक लगाता है। अपनी सतानको व्यभिचार जात सतान बनाता है। समाजमे अनाचार फैलानेका हेतु बनता है। अत. वह अत्यधिक पातकका भाजन होता है। उक्त व्यसनका परिपूर्ण स्वरूप विचार कर विवेकी पुरुषोको इससे सदा ही दूर रहना चाहिए। ८९।

उपसंहार

(उपजाति)

प्रोक्त व्यथाद भवदं सदैवाविश्वासपात्रं व्यसनस्वरूपम्।
त्याज्यानि बुद्ध्वा व्यसनानि सप्त यतो भवेत्ते हृदये प्रशान्तिः ॥ ९० ॥

प्रोक्तमित्यादि :—इत्येवप्रकारेण अनेकदु खोत्पादक सप्तव्यसनस्वरूप नातिविस्तरेणात्र निरूपितम्। एतानि व्यसनानि अविश्वासस्य परमस्थानानि सन्ति। न कोऽपि प्रत्येति व्यसनिन तस्मात्तत् स्वरूप विचार्य व्यसनाना परित्याग एव कर्त्तव्य। व्यसनपरित्यागादेव ते हृदये शान्तिर्भविष्यतीति आचार्याणामुपदेशोऽस्ति। ९०।

उक्त प्रकारसे सप्त व्यसनोंके स्वरूपका सक्षेपमे कथन किया। व्यसन कोई भी हो मनुष्यको कल्याणमार्गसे दूर फेंक देता है। लौकिक व्यवहारकी दृष्टिसे भी व्यसनी मनुष्य समाजका सदस्य बनने योग्य नही होता। वह स्वय पतनशील होता है और उसकी दुःसगति भी दूसरोको पतनशील बनाती है। ऐसा विचार करके ही समाज व्यसनी मनुष्योको जातिसे बहिर्मुख कर उसके साथ अपना खान-पान व लौकिक-धार्मिक व्यवहार आदि छोड देती है। यह परम्परा आज भी चालू है।

आजकल सुधारकी दृष्टिसे जाति बहिष्कार तथा धार्मिक स्थानोका बहिष्कार अनुचित माना जाता है। कहा जाता है कि इससे व्यक्तिकी बहुत बडी हानि होती है। वह उठ नही सकता, उसका उत्थान नही हो सकता। यद्यपि उक्त तर्क सगत है, तदनुसार व्यक्तिके उत्थानके लिये नियमोमे परिवर्तन करना आवश्यक है। तथापि यह ध्यान सदा रखना चाहिए कि व्यक्तिको ध्यानमे रखकर समाजके चरित्रकी चिन्ता न करना भी बहुत बडी हानि है। समाज व बहुमत व्यक्तिको अपनानेके लिए प्रस्तुत है पर व्यक्तिके लाभके लिए, वह भी केवल समाजमे समान हक प्राप्त हो जाय इतने मात्रके लिए, समाजकी पवित्रताका बलिदान करना लाभप्रद नही है। इस प्रकार स्वयके लिये व समाजके लिए, अनेक व्यथाओके पैदा करनेवाले व्यसनोका सब प्रकारसे त्याग करना ही श्रेष्ठतम कल्याणका मार्ग है। ९०।

इति व्यसनसप्तकनिरूपणम्।

—पॉच पापोंका स्वरूप वर्णन—

प्रश्न.—**पञ्चपापस्वरूपं मे विद्यते कीदृशं वद।**

पाच पाप कौन है और उनका स्वरूप क्या है, कृपया कहिए—

(९१ इन्द्रवज्रा, ९२ उपजाति)

लोभाभिमानात्परपीडनं स्याद्धिंसैव दुष्टाऽखिलविश्वहन्त्री ।
दुःखस्य मूलं किल सर्वजन्तोर्हिंसा न कस्यापि कदापि कार्या ॥ ९१ ॥
पूर्वोक्तहिंसा किल सर्वतः स्यात् त्याज्या मुनीनां गृहिणां च देशात् ।
भव्यैरहिंसा हि यथोक्तरीत्या निजात्मशान्त्यै सुखदा सुपाल्या ॥ ९२ ॥

लोभाभिमानादित्यादि —'परप्राणपीडनं हिंसा' हिंसायाः स्वरूपं विश्रुतम् । सा च सांसारिकस्वार्थसिद्धयर्थं लोभावेशात् क्रियते जनैः पंचेन्द्रियाणां विषयसंप्राप्तये प्रयतमानस्य कस्यचित् कार्ये यदि कश्चिद्बाधकः स्यात् तदा स लोभात् बाधकस्य प्राणिनो वधं करोति पीडयति वा । मानी वा कश्चित् स्वस्याहंकारसंरक्षणार्थं च परान् पीडयति । तद्विषयक्रोधाद्यावेशादपि प्राणिना महती हिंसा भवति इति दृश्यते पदे पदे । सा हिंसा दुःखस्य मूलमस्ति सर्वप्राणिनाम् । यदि जगति हिंसायाः औचित्यं स्वीकृतं स्यात् तदा सा अखिलमपि विश्वं स्वरूपेण व्याप्नोति । अतएव अखिलविश्वहन्त्री सा हिंसा कस्यापि प्राणिनः न कदापि कार्या । अहिंसायाः परिपालनं द्विविधं भवति-सर्वतो हिंसापरित्यागरूपं मुनीनां व्रतम् । एकदेशहिंसापरित्यागरूपं तु गृहिणाम् । आत्महितैषिभिर्भव्यैः यथोक्तरीत्या स्वस्वपदानुसारेण पालनीयं तद्व्रतम्, यतो निजात्मनि सुखदायिनी शान्तिः सदा स्यात् । ९१ । ९२ ।

राग और द्वेष दोनो हिंसाके पर्यायवाची नाम हैं । लोभके कारण सासारिक स्वार्थके लिए अर्थात् पचेन्द्रियोके विषयोकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करनेवाले किसी व्यक्तिके मार्गमे यदि कोई बाधक सिद्ध होता हो तो वह उसे विषय लोभके कारण मार देता है, पीडित करता है या अनेक प्रकारसे त्रास देता है। तथा अनेक मानी पुरुष अपने अहकारके वश होकर हिंसा करते हुए देखे जाते है और क्रोधादि कषायोके कारण तो पद-पदमे हिंसा होती है यह स्पष्ट ही है।

हिंसा दुःखका मूल है। यदि हिंसा उचित मान ली जाय तो वनमे लगी हुई अग्निकी कणिकाकी तरह वह सम्पूर्ण जगत्का विनाश करनेमे समर्थ है। वह सम्पूर्ण विश्वके लिए प्रलयकालका दृश्य दिखा सकती है अतः उसका औचित्य बिलकुल नही किया जा सकता।

अहिंसाका पालन दो प्रकारसे होता है—सम्पूर्ण हिंसाका त्याग और अल्प हिंसाका त्याग। हिंसाका जो सम्पूर्ण त्याग कर सकते हैं वे साधु या मुनि हैं और जो केवल त्रस जीवोकी सकल्पी हिंसाका त्याग कर सकते है वे गृहस्थ हैं। अपनी अपनी शक्तिके अनुसार और पदके अनुसार प्रत्येक आत्म-हितैषीको अहिंसाका पालन करना चाहिए जिससे ससारमे सुख और शान्तिकी वृद्धि हो।९१।९२।

प्रश्न —**हिंसायाः कति भेदाः के सन्ति मे भो गुरो ! वद ।**
सर्वेषां सुखसिद्धयर्थं कथ्यन्ते क्रमतोऽद्य भो ।

हिंसाके कितने भेद हैं ? हे गुरो ! कृपा कर कहे। इस प्रश्नके उत्तरमे श्री गुरु कहते हैं—हे भव्य ! सबके सुख पूर्वक ज्ञानके लिए मै क्रमशः कहता हूँ सुनो—

(उपजाति.)

कृष्यादिवृत्तौ विहिता प्रवृत्तिरुद्योगिहिंसा कथितात्महन्त्री ।
आरम्भिहिंसाऽखिलपञ्चसूनकार्ये प्रवृत्तिर्गृहिणां व्यथादा ॥ ९३ ॥

स्वर्मोक्षमार्गादिकरक्षणार्थं नरत्वधर्मादिकशिक्षणार्थं ।
जगद्धितार्थं क्रियतेगृहस्थैर्विरोधिहिंसा कथिता मुनीन्द्रैः ॥ ९४ ॥
रागादिभावादथवा प्रमादाच्चित्ताक्षतृप्त्यै क्रियते जनैर्या ।
त्रसादिहिंसाखिलदुःखदात्री संकल्पिहिंसा भवबन्धिनी सा ॥ ९५ ॥
आदौ प्रणीता त्रिविधाऽपि हिंसाऽत्याज्याभवेन्मध्यमश्रावकैर्हि ।
रोगादिशान्त्यै कटुकौषधीव सकल्पिहिंसा न कदापि कार्या ॥ ९६ ॥

कृष्यादीत्यादि:—तात्पर्यमेतत् चतुर्विधा हिंसा भवति—( ) उद्योगिहिंसा (२) आरम्भिहिंसा (३) विरोधिहिंसा (४) सङ्कल्पिहिंसा च। स्वरूपञ्चासाम्—कृष्यादिना सेवया शिल्पेन वाणिज्येन लेखनादिकलया प्रजा-सरक्षार्थं शस्त्रेण वा स्वाजीविकासम्पादन उद्योग स्यात। उद्योगकरणे तु हिंसा भवत्येव। सा हिंसा गृहस्थधर्मा-राधकै परिहर्तुमशक्या भवति सा **उद्योगिहिंसेति**। द्वितीया हिंसा किल गृहस्थारम्भेषु कार्येषु भवति। भोजनार्थं अग्निप्रज्वालने जलादीना सग्रहे वनस्पतिच्छेदने गृहसम्प्रमार्जने अन्नादिशोधने वस्त्रप्रक्षालने स्नानादिकर्मणि रोगादीनामुपचारे वालाना परिपालने देवादिसत्कृतौ दानादिकार्ये दीनानामुद्धरणे गृहनिर्माणादिषु अवश्यभाविषु गार्हस्थिककार्येषु जीवसरक्षणोद्योगेऽपि हिंसा सञ्जायते सा **आरम्भिहिंसेति**। तृतीया तु विरोधिहिंसा कथ्यते, तत्स्वरूपञ्चैतत्—स्वर्मोक्षप्रदायकेषु धर्मकार्येषु विघ्नकारकाणामेव रक्षा यदि धर्म स्यात्तदा धर्मस्यैव लोपः स्यात्। अतस्तद्रक्षणार्थं दुर्जनाना मानवधर्मशिक्षणार्थं तथा जगद्धिताय शान्तिवर्धनार्थं या हिंसा भवति सा मुनीन्द्रै **विरोधि-हिंसा** कथिता। चतुर्थी हिंसा तु सर्वथा सर्वप्रयत्नेन परिहार्या। सा च स्यात् **सङ्कल्पिहिंसा**। तत्स्वरूप यथा—चित्ताक्षतृप्त्यै मनोरञ्जनाय रागादिभावादथवा प्रमादात् मासादिना रसनादीन्द्रियपरितृप्त्यर्थं च जनैर्या त्रसादिहिंसा क्रियते सा **संकल्पिहिंसा** कथ्यते। सा हिंसा ससारदु खपरम्पराया हेतु। एपा कदापि न कार्या श्रावकैरपि किं पुनरन्यै। एतदतिरिक्तास्तिस्र रोगादिसम्पन्ने कटुकौषकधीप्रयोगवत् त्याज्या अप्यपरिहार्या सन्ति।९३।९४।९५।९६।

हिंसा चार प्रकारसे विभाजित की गई है—उद्योगी, आरम्भी, विरोधी और सङ्कल्पी। इन चारो का क्रमश स्वरूप कहते हैं—१ उद्योगीहिंसा—खेती, सेवा, शिल्प कार्य, व्यापार और लेखनादि कलाके करनेमे तथा धर्म, देश व प्रजाके सरक्षणार्थ शस्त्र ग्रहण आदिके द्वारा अपनी आजीविका करनेमे जो हिंसा होती है वह सब उद्योगी हिंसा है। गृहस्थ इसे त्यागनेमे असमर्थ रहते है, क्योकि गृहस्थोंके लिए आजीविका मुख्य प्रश्न है। गृहस्थका धर्म सृष्टिका पालन, सरक्षण और धर्मात्माओकी सेवा करना है। यदि गृहस्थ निरुद्योगी हो जाय तो उक्त सभी कार्य नही हो सकते। गृहसम्बन्धी उद्यम न करने-वाला व्यक्ति या तो साधु हो सकता है, या दर-दरका भिखारी। साराश यह है कि इस हिंसाका त्याग गृहस्थ नही कर सकता। २ आरम्भी हिंसा—गृहस्थीके कार्योमे जैसे रसोई बनाना, पानी भरना, घर बनाना, घरकी स्वच्छता, वस्त्रोकी स्वच्छता, शरीरकी स्वच्छता, साग सब्जी बनाना, जमीन खोदना, रोगीकी परिचर्या करना, देवपूजा, गुरुका सम्मान आहारादि दान, पशुपालन, गरीबोकी रक्षा और बच्चोका परिपालन इत्यादि कार्योंमे भी हिंसा होती है, किन्तु यह हिंसा गृहस्थके लिए अपरिहार्य है। वह उसका परित्याग करनेमे असमर्थ है। यद्यपि व्यापार और आरभके कार्य गृहस्थ दयावान् होकर जीवोकी हिंसाका बचाव करते हुए देखभाल कर ही करेगा, क्योकि ऐसा करना उसका कर्त्तव्य है तो भी कुछ ऐसे जीव हैं जिनकी हिंसा बचाते बचाते भी हो जाती है।

गृहस्थका यह साधारण कर्त्तव्य है कि प्रत्येक कार्य करते समय जीव दयाका ध्यान रखे। मार्गमे चले तो मार्गको देखता हुआ चले और यह ध्यान रखे कि किसी जीवधारी पर मेरा पैर न पड जाय। किसी वस्तुको उठावे या रखे तब भी यह ध्यान रखे कि इनके नीचे कोई जन्तु न आ जाय। सोना बैठना, मल-मूत्रका त्याग करना, थूकना, वस्त्र प्रक्षालन और शरीर प्रक्षालन आदि जितने गार्हस्थिक आरंभके कार्य बताए है उन सबमे वह जीव रक्षाका सतत ध्यान रखता है।

आजीविकाके साधनभूत उद्योग-धंधोमे भी वह यह ध्यान रखता है तथा ऐसे धधोको छोडकर वह अल्प सावद्यवाले धधोको तलाश कर उन्हे स्वीकार करता है। भले ही उनमे आर्थिक लाभ न्यून हो पर वह अपनी लोभ वृत्तिको कमकर सन्तोषवृत्तिको स्वीकार करके अपना कर्त्तव्य परम धर्म 'जीवदया' का पालन करता है।

असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य इन षट् कर्मो द्वारा आजीविका करनेका उपदेश भगवान् श्री ऋषभ देवने युगके प्रारभमे दिया था और जिन जिन लोगोकी जैसे कर्मोके करनेमे प्रवृत्ति थी उनका वैसे ही क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णोमे विभाग किया था। जिन लोगोने इन षट् कर्मोको छोडकर पापोपहृत वृत्तिया स्वीकार कर ली। जैसे मछली मारना, पशु पक्षियोका घात कर मास बेचना, मास खाना, मद्य बनाना, मद्य बेचना और उसका पान करना आदिके विषयमे भगवान् मौन रहे और उनको शूद्रोकी सबसे निम्न श्रेणीमे सम्मिलित किया और इनका 'अकारु' नाम रखा। इनको किसी भी धार्मिक या सामाजिक व्यवहारके योग्य उन्होने नही माना। इन सबका उल्लेख श्री आदिपुराणमे हैं। साराश यह निकला कि प्रत्यक्ष हिंसा स्वरूप कार्योसे या असदाचारके कार्योसे आजीविका करना अत्यन्त निन्द्य है। वह ऐसे उद्योगमे या आरभमे सम्मिलित नही है जिसे श्रावक स्वीकार कर सके। जिन कार्योमे वह अपने प्रिय धर्म 'जीवदया' का पालन कर सकता है, उन कार्योको ही आजीविकाके लिए स्वीकार करता है और उनमे जो हिंसा बचाव करते हुए भी हो जाती है उसे वह त्याग नही सकता किन्तु इसके लिए वह दु खी होता है और उसका प्रतिक्रमण द्वारा पाप विशोधन करता है। ३ तीसरी हिंसा विरोधी हिंसा है। यह हिंसा भी गृहस्थ द्वारा अपरिहार्य है। पूर्वोक्त दोनो हिंसाओकी तरह इसे भी गृहस्थ त्यागनेमे असमर्थ है। जिस तरह उद्योग और आरभमे जीवदयाका ध्यान रखते हुए भी हिंसा हो जाती है, ऐसे ही धर्म पालनके कार्यमे, गृहस्थीके परिपालनमे, वालबच्चोके सरक्षणमे और गार्हस्थिक कार्योके लिए सञ्चित द्रव्योके रक्षणमे हिंसा हो जाती है, क्योकि किसीको भी सताने या कष्ट देने की इच्छा न रखते हुए भी क्वचित् कोई दुष्ट विघ्न उपस्थित कर देवे तो उससे बचना और विघ्नको दूर करना उसका कर्त्तव्य है। ऐसा करते हुए सभव है विरोधीको पीडा हो जाय, उसका अगभग हो जाय या बाधा उपस्थित हो जाय तो गृहस्थ इसके लिए भी लाचार है। ऐसी हिंसा विरोधी हिंसा है।

विरोधीहिंसा यद्यपि बहुत बडी हिंसा है तथापि वह गृहस्थके लिए अपरिहार्य है। सर्व साधारण प्रजाजन यद्यपि अपने ऊपर आनेवाली विपत्तिको दूर करनेके लिए राज्याश्रय ग्रहण करता है और न्यायालयमे उस अपराधीके लिए कारागृहमे बन्द कराने या अन्य प्रकारका दण्ड दिलानेका प्रयत्न करता है तभी उक्त प्रकारसे वह निर्विघ्न होकर अपना धर्म पालन कर सकता है। ऐसा होनेपर भी जो सर्व साधारण प्रजाजनोंके सरक्षक हैं, राजा हैं, या राज्याधिकारी हैं और सैनिक हैं, उनका कर्त्तव्य है कि वे प्रजाका सरक्षण करें। शिष्ट अर्थात् सज्जनकी सहायता और दुष्ट अर्थात् दुर्जनको दण्ड इन दोनो

कार्योंके विना कभी राज्य सञ्चालन नही हो सकता। राजाका यही एक प्रधान कर्त्तव्य है। दुष्ट लोग प्रजामे अशान्ति उत्पन्न करें, उनको खेती नष्ट करें, उनके पशु चुरा लें, उनका द्रव्य (धन) चुरा लें, उनकी स्त्री बच्चोका अपहरण करें, उनके धर्मस्थान ध्वस करें, धर्मात्माको सतावें, अहिंसको पर अत्याचार करें, सदाचारी शान्त प्रजाको उद्विग्न करें तो राजाका और राज्याधिकारियोका कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उन दुष्ट आततायी लुटेरोका तथा ऐसा अन्याय करनेवाले दूसरे राष्ट्रो का सामना करें और उन्हे हर प्रकार से रोकें ताकि वे उक्त उपद्रव कर अशान्ति न पैदा कर सकें। इस रोक थाममे अनेक उपाय काममे लाए जाते हैं पर उनमे जब सफलता नही मिलती और दुष्ट अपने मार्ग पर बढते जाते हैं तब उनके रोध करनेमे उनकी हिंसा भी हो जाती है। यह हिंसा विरोधी हिंसा है। इसका परित्याग भी गृहस्थ कभी नही कर सकता। यह हिंसा सङ्कल्पी हिंसा कदापि नही है। सङ्कल्पी हिंसामे निरपराध जीवोका घात होता है जब कि विरोधी हिंसावाला एक चीटीको भी सकल्प पूर्वक नही मारता। जो निरपराध एक चीटीको भी नही मारता वह निरपराध अन्य प्राणियोको क्यो सतायगा? पर सापराधको वह दण्ड देता है और शान्त धर्मात्माओकी रक्षा करता है। ऐसा करने मे यदि सापराधकी मृत्यु भी हो जाय तो वह उसके लिए लाचार है।

विरोधी हिंसावाले जीवका लक्ष्य हिंसा नही है। बल्कि अन्य आतताइयो द्वारा फैलाई जानेवाली महान् हिंसाका प्रतिरोध उसका लक्ष्य है। यदि गृहस्थ विरोधी हिंसा से परहेज करे तो वह शान्तिसे धर्मका परिपालन नही कर सकता। जिन दुष्टोको धर्म-कर्मका, न्यायान्यायका और कर्त्तव्याकर्त्तव्यका कुछ भी विचार नही है, दूसरोको सताकर उनका स्वत्वापहरण ही जिनका एकमात्र उद्देश्य है और जो दूसरोका घात करके भी अपनी विषयवासनाओ और जघन्य स्वार्थोको सिद्ध करना चाहते है वे न्यायवान् शान्त और धार्मिक प्रजाको पनपने नही दे सकते। उनकी प्रमुखता मे सर्वत्र अशान्ति, कलह, लूट, फूट, मारपीट, अन्याय, असदाचार तथा हिंसाका ही प्रसार होगा और सर्वप्रजाजन दु खी होगे। इस महान् उपसर्गको दूर करनेके लिए, सुखशान्तिकी वृद्धि के लिए, धर्ममार्गको अक्षुण्ण रखनेके लिए, अहिंसकोको प्रोत्साहित करनेके लिए और सदाचारीकी वृद्धिके लिए दुष्टोका निग्रह करना गृहस्थका धर्म हो जाता है। उत्तम उद्देश्यकी पूर्तिका साधन होनेसे विरोधी-हिंसा गृहस्थ के लिये कर्त्तव्य हो जाती है।

यदि गृहस्थ अपने पदानुकूल उक्त कर्तव्यको पूरा न कर सके तो उसे समस्त विषय वासनाओका परित्याग कर देना चाहिए। उसे न स्त्रीपरिग्रहका अधिकार है और न सतानोत्पत्तिका अधिकार है। उसे समस्त आरभ उद्योग छोडकर वीतराग हो साधुपना स्वीकार कर लेना चाहिए। यदि वह अपनी वासनाओका त्याग नही कर सकता और दुष्टके निग्रहमे भी हाथ नही बटाता तो वह स्वय अशान्तिका मूल है। उसे कोई भी लौकिक या पारलौकिक सिद्धि नही हो सकती। वह राष्ट्रके लिए भार है। प्रजाकी अशान्तिका कारण है। देशकी पराधीनता और भ्रष्टताका बीज है। वह स्वय भ्रष्टाचारी है और भ्रष्टाचार का पोषक है। ऐसे लोग समय पडने पर शिष्टका साथ न देकर दुष्टके ही साथी बन जाते हैं, अत ऐसे लोगोको भी सन्मार्ग पर लगानेका प्रयत्न करना राज्यका व राज्याधिकारीका कर्त्तव्य हो जाता है। उक्त कार्योमे हिंसा होना अनिवार्य है और वह ही विरोधी हिंसा है जिसका त्यागी गृहस्थ नही हो सकता।

गृहस्थ चौथी सङ्कल्पी हिंसाका अवश्य त्यागी होता है। मारनेकी इच्छासे ही किसी भी प्राणीको मारना सङ्कल्पी हिंसा है। इस सङ्कल्पी हिंसाकी सीमा वहुत बड़ी है। सङ्कल्पी हिंसासे जीविका करना

उद्योग या आरभ नही है। पूर्वोक्त सभी कार्योंमे हिंसा हो जाना एक बात है जो गृहस्थके लिए क्षम्य है, हिंसाके द्वारा उक्त कार्योंको साधना बिलकुल दूसरी बात है जो गृहस्थधर्ममें अक्षम्य है। इसका खुलासा यह है कि मछली मारनेका व्यवसाय, मद्य बनाने व बेचनेका व्यवसाय, मास बेचना, हड्डी व चमडेका व्यवसाय, अडे बेचना, मेढक और केचुओका अनार बनाकर बेचना, वेश्यावृत्ति द्वारा धन पैदा करना, या अन्य प्रकारकी व्यभिचार प्रवृत्ति द्वारा धन पैदा करना, डाका डालनेका व्यवसाय, धोखा, विश्वासघात दूसरोको जाल मे फसाकर धनोपार्जन करना ये सब पापोपहृत वृत्तियाँ हैं जो त्रस जीवोंकी सकल्पी हिंसा है, या उनके कारण हैं, अथवा उसके अर्थ हैं। अत' सर्वथा परित्याज्य हैं।

अपनी विषयवासनाओकी पूर्तिके लिए दूसरोको सताना, न्यायमार्गका उल्लघन कर द्रव्य कमाना, ये सब सकल्पी हिंसाके रूपान्तर हैं। जब कि दूसरोकी रक्षाके लिए, शान्तिके बढानेके लिए, धर्मात्माओकी रक्षाके लिए और अहिंसा और सत्यको जीवित रखने के लिए हिंसाका हो जाना अपरित्याज्य है, कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्यकी पूर्तिमे जो हिंसा हो जाती है वह गृहस्थधर्मके प्रतिकूल नही है, किन्तु त्रस जीवोकी सकल्पी हिंसा गृहस्थधर्मके लिए सर्वथा प्रतिकूल है।

सकल्पी हिंसा वह है जो हिंसा की जाती है, तथा विरोधी, उद्योगी और आरभी हिंसा वह है जो हिंसा उक्त कार्योंमे गृहस्थसे हो जाती है, की नही जाती। जो की जाती है उसका त्याग शक्य है और जो हो जाती है उसका त्याग शक्य नही है। उसके भी त्यागकी इच्छा रखनेवाले महापुरुषको गृहस्थ पदका त्याग करना होगा। और अपनी विषय वासनाओका परित्याग करना होगा। तब वह गृहस्थ मार्गसे दूर महापुरुष होगा और जगत्का उद्धारक होगा। ऐसे ही महापुरुषोने गृहस्थोके लिए, जो सम्पूर्ण हिंसाका त्याग नही कर सकते, उक्त प्रकारसे धर्मका और कर्तव्यका निर्देश किया है।

जैसे रोगी कडवी औषधि पीना नही चाहता पर उसे रोगसे बचनेके लिए पीना पडती है, वैसे ही गृहस्थ आदिमे वर्णित तीनो हिंसाओसे बचना चाहता है पर वह अपने पदस्थयोग्य निर्वाहके लिए उनसे बच नही पाता, फिर भी सतत बचनेके प्रयत्नमे रहता है और यथाशक्ति सोचसमझकर और देख सुनकर ही प्रत्येक कार्य करता है। ९३। ९४। ९५। ९६।

(उपजाति·)

समस्तविश्वस्य विबोधनार्थं हिंसाप्रभेदाः कथिताः क्रमेण।
पूर्वोक्तभेदान् स्वपदानुसारं ज्ञात्वेति भक्त्या परिपालयन्तु॥ ९७॥

समस्तेत्यादिः—इत्येवमुक्तप्रकारेण हिंसाप्रभेदा हिंसाया भेदा श्रीमदाचार्येण समस्तविश्वस्य विबोधनार्थं विश्वकल्याणकामनया क्रमेण कथिता वर्णिता। पूर्वोक्तभेदान् तेषा हिंसाभेदाना स्वरूप ज्ञात्वा स्पष्टतया परिज्ञाय अहिंसाव्रत स्वपदानुसार स्वस्वपदानुसारेण भक्त्या परिपालयन्तु निरतिचारं यथा स्यात् तथा स्वपरकल्याण-मिति। ९७।

पूर्वोक्त श्लोको द्वारा हिंसाका विस्तृत स्वरूप तथा उसके भेद प्रभेदोका प्रतिपादन श्रीमदाचार्य कुन्थुसागर महाराजने श्रीभगवान् महावीर स्वामी द्वारा सदुपदिष्ट और आगम परम्परा द्वारा प्राप्त सक्षेपमे किया है। इन हिंसा भेदोका स्वरूप समझ करके अहिंसा व्रतका परिपालन अपने अपने पदानुसार साधु, ऐलक, क्षुल्लक, प्रतिमाधारी व साधारण गृहस्थ श्रावकोको करना चाहिए। निरतिचार, निर्दोष व्रतका परिपालन स्वपर कल्याणकारक है। ९७।

प्रश्न :—सत्यव्रतस्वरूपं मे विद्यते किं गुरो वद ।

हे गुरुदेव ! अहिंसाव्रतके परिपालनके लिए हिंसाका स्वरूप और उसके भेदोका स्वरूप समझ लिया । अब सत्यव्रतके स्वरूपका प्रतिपादन कीजिए—

(वसन्ततिलका)

सत्यं मित हितकर सुखदं सुवाच्य ।
श्रीदं वचः प्रियकर मयसानमुक्तम् ॥
वाच्यं न वैरजनकं हि मिथो व्यथादं ।
भ्रान्तिप्रदं विपदि वाऽपि तदेव सत्यम् ॥ ९८ ॥

सत्यमित्यादिः—अहिंसाव्रतपालकस्य वचनमपि परहितकारक सत्य भवितव्यम् । किं तत्सत्यमिति प्रश्ने सत्याह—यत् वचन सर्वजीवाना सुखद भवति कल्याणकारक भवति, यच्च श्रवणे सति प्रियकर स्यात् तत्सत्यम् । यच्च मदमात्सर्यविश्वासघातादिदोपपरिमुक्त तत्स्यात्सत्यम् । यच्छ्रोतु हितकर स्यात् तत्सत्यमस्ति । यत्किल भ्रान्तिरहित निर्भ्रान्तिरूपेण तत्त्वस्वरूपप्रतिपादक वचनमस्ति तत्सत्यमिति । यच्छ्रुत्वा श्रोतॄणा परस्पर वैर कलहो वा न स्यात तत्सत्यमिति । यन्न स्यात् कस्मैचिदपि व्यथाकारक तत्स्यात्सत्यमिति । सत्याभिलाषिणा परिमितमेव वाच्यम्, अतिमौखर्येण वक्तव्ये तद्वचनमसत्य भवति । यदि परिमित हितकर वचनमपि कस्यचित् अहितकर स्यात् विपदे वा स्यात् तर्हि तस्य हिताय विपन्निवारणार्थं तद्विपरीतमपि वचन सत्यमेव इति सत्यस्वरूप परिज्ञाय तदेव सुवाच्यम् ।९८।

अहिंसा व्रतको परिपालन करनेवाला जिस प्रकार अपने मनको पवित्र रखकर अपने कर्तव्यको पालन करनेके लिए निर्दोष कार्योको ही करता है वैसे ही उसे सत्यभाषी भी होना चाहिए । सत्य क्या है ? यह एक बडा प्रश्न है । इसकी अनेक व्याख्याएँ की जाती है । दर्शन शास्त्रकी दृष्टिसे तो जैसाका तैसा कहना सत्य है । पर यह सत्य व्यवहारके लिए सर्वथा अनुकूल नही पडता । क्वचित् कदाचित् वह निन्द्य और कलह कारक हो जाता है । जैसे, किसी एक आखवाले मनुष्यको काना, एक खराब पैरवालेको लगडा, झगडा करनेवालेको झगडालु, और असद् व्यवहार करनेवालेको बदमाश इत्यादि शब्दोका प्रयोग दार्शनिक दृष्टिसे ज्योका त्यो वर्णन है अत सत्य है, तथापि श्रोताको दु खदायक व्यथा उत्पन्न करनेवाला होनेसे वह कथन कलह या वैर करा देता है । लोकमे भी ऐसा माना जाता है कि यह व्यक्ति जो ऐसा बोलता है बडा मूर्ख और उद्धत है । उसे बोलनेकी भी सभ्यता नही है ।

धार्मिक दृष्टिसे ज्योका त्यो बोलना भी सत्य है और कही पर वह सत्य नही भी है । सत्यकी व्याख्या धर्मशास्त्रमे इस प्रकार की है । जो वचन जीवोको सुननेपर सुखदायक हो वह सत्य है । जो परिणाम मे कल्याण कारक अर्थात् हितकर हो वह सत्य है । जो श्रोताको श्रवण करने पर प्रिय हो अप्रिय न हो वह सत्य है । जो वचन विनयपूर्वक दूसरेके सम्मान की रक्षा करनेवाला हो वह सत्य है । जो वचन अपने अहकारका पूरक न हो वह सत्य है । जो वचन सुननेवालोमे वैर या कलहको पैदा न करे वह सत्य है । जिस वचन से श्रोताओके हृदयको खेद न हो वह सत्य है । जिस वचनसे श्रोता भ्रममे न पड जाय वह सत्य है । जो वचन निरर्थक अति प्रलापसे रहित परिमित शब्दोमे हो वह सत्य है । जो वचन किसीको पापमे प्रवृत्त न कराकर धर्म मार्गमे लगावे वह सत्य है । जो वचन आगम परम्पराके अनुकूल हो वह सत्य है । जो वचन हिंसाकारक या हिंसोत्पादक न हो वह सत्य है । जो वचन किसीको मिथ्यामार्ग या कुमार्गमे न ले जाय वह सत्य है । जो वचन श्रोताको सद्धर्ममे स्थापित करे वह सत्य है ।

उक्त प्रकारसे सत्यके अनेक रूप बताए गए हैं। इतना होनेपर भी जिस वचनसे किसीको विपत्ति आ जाय, अकल्याणकारक हो, भ्राति दायक हो और कलह उत्पन्न करा दे तो वह ज्यो का त्यो होकर भी सत्य वचन न होकर अप्रशस्त और निन्द्य वचन है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है। अत सत्यासत्यका स्वरूप जानकर असत् वचनका प्रयोग नही करना चाहिए। ९८।

प्रश्न —**अचौर्यव्रतचिह्नं किं वर्त्तते मे गुरो वद।**

हे गुरो ! अचौर्य व्रत क्या है ? कृपया उसका स्वरूप कहिए—

(इन्द्रवज्रा)

त्यक्तं वने वा पतितं श्मशाने कौ स्थापितं स्वात्मन एव बाह्यम् ॥
ग्राह्यं ह्यदत्तं भवदं न वस्त्वचौर्यव्रत तत्सुखद सदा स्यात् ॥ ९९ ॥

त्यक्तमित्यादि.—परद्रव्यपरिग्रह एव चौर्यमिति चौर्यस्य सुनिश्चित लक्षणमस्ति। ये साधवस्तु एतल्लक्षणानुसारेण गृहादिक परिवारवर्गं धनादिक च परित्यज्य निर्वस्त्र नि सगमेव देहस्नेहरहित वने वसन्त स्वात्मनो निधि परिशीलयन्ति ते खलु परिपूर्णरूपेणैव अचौर्यव्रतपालकास्सन्ति। ये तु श्रावकास्तथाकर्त्तुमशक्तास्ते गृहवासनिरता अपि लौकिकव्यवहारदृष्ट्या यद्द्रव्यम् अपरस्य कस्याप्यधिकारे वर्त्तते न तद् गृह्णन्ति। तत्कस्यापि द्रव्यम् स्वल्पमूल्य महार्घ वा स्यात् अदत्त न कदापि गृह्णन्ति। य कौ पृथिव्या वने श्मशाने वा पतित केनचित् स्थापितं वा स्वात्मनो बाह्य आत्मसम्बन्धगन्धशून्य वस्तु धनादिक सुवर्णादिक वस्त्रादिक वा द्रव्य न हरति न च अदत्त परेभ्यः ददाति सोऽचौर्याणुव्रती भवति। यत्किल प्रत्यक्षरूपेण चौर्यं नास्ति तदपि परद्रव्यापहरणलक्षणाक्रान्तत्वाच्चौर्यमेव। यथा—अकृत्रिमेषु वस्तुषु कृत्रिमवस्तुमिश्रणात् तथा अकृत्रिमाणि एतानि इति ज्ञापयित्वा तेषाम्महार्घेण।अकृत्रिमवस्तुनस्समानमूल्येन विक्रयण, क्रयार्थं मानोन्मानप्रमाणमधिक विक्रयार्थञ्च हीनप्रमाणम्मानोन्मानादिक च चौर्यमेव। राज्याधिकारिणा दृष्टिवञ्चनेन क्रयकरादीना चौर्यमपि चौर्यमेव। आयकरादीना राज्यकराणा लोपन अथवा करद्रव्यस्याप्रदानभावेन मिथ्याभाषण सदपि असदिव असदपि सदिव लेखन इत्यादि सर्वमपि मिथ्याप्रवञ्चनेन वञ्चनम् चौर्यमेव। तत्सर्वमपि चौर्यं त्याज्यमेव व्रतिना इत्येव प्रकारेणाचौर्यव्रतग्रहण सदा सुखदम्भवति। चौर्यं च सदा भवपरम्पराकारकम्भवतीति ज्ञातव्यम्। ९९।

जैन सिद्धान्तमे पर द्रव्यका ग्रहण ही चौर्य है ऐसा चोरीका बहुव्यापक लक्षण है। इस लक्षणके अनुसार अचौर्य व्रतका परिपूर्ण पालन करनेवाले साधुजन घर, कुटुम्ब व धनादि द्रव्य इन सबका परित्याग कर नग्न देह ही वनमे देहके स्नेहसे रहित होकर विचरते है। वे सब पर द्रव्योसे अपनेको पृथक् अनुभव करते हुए एकान्त वनमे केवल आत्मनिधिको, जिसे उनकी आत्मा अनादिसे भूली हुई थी, खोजनेका प्रयत्न करते हैं। उनका यह दृढ विश्वास है कि मेरा आत्मा ही मेरा द्रव्य है, मेरे आत्माके असख्यप्रदेश ही मेरा निवासस्थल है। आत्मासे विभिन्न कोई दूसरा आत्मा या दूसरे निर्जीव पदार्थ मेरे नही हैं। मेरा मैं ही हूँ, दूसरा पदार्थ दूसरा है, वह मेरा कदापि नही हो सकता। यह पृथिवी या आसमान मेरा निवास स्थल है यह उपचार है, क्योकि मेरे साथ न पृथिवी जाती है और न आसमान मेरे साथ चलता है। मेरे आत्माके असख्य प्रदेश ही सदा मेरे पास हैं, और उनमे ही रहता हूँ, वे ही मेरे निवासस्थान हैं। मेरे ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र, शक्ति, आनन्द, क्षमा, सरलता, विनयशीलता, सत्यता, पवित्रता और अकिञ्चनता ये मेरे गुण हैं, वे ही मेरी निधियाँ हैं। इनमे ही मेरे सब सुखोका भण्डार भरा है। ये सब मेरे भाव हैं। इनपर किसीका स्वत्व नही है। गृहादिक,

सुवर्णादिक, भूमि आदिक व अन्न, वस्त्र, सोना, चांदी, मणि, माणिक्य, दासी और दास आदि सर्व पर हैं, मेरे नही। ये सब मेरे स्वरूप से और मेरी सत्ता से सर्वथा भिन्न हैं। अतएव इनका किञ्चिन्-मात्र भी ग्रहण चोरी है, महान् पाप है। मेरी आत्मपरणतियोका सुन्दर परिवर्तन ही मेरी उन्नति है और उनका पर पदार्थोन्मुखी परिवर्तन ही मेरी अवनति है। परपदार्थ अर्थात् धनादिक या गृहादिक या कुटुम्बादिककी दृष्टिसे उनकी न्यूनता मेरी अवनति नही है, क्योकि वे पदार्थ पर हैं, मेरे नही है। मेरी सत्तासे विभिन्न पदार्थोंकी उन्नति ही मेरी उन्नति है, ऐसा मानना मिथ्यात्व है तथा चोरी है। इस प्रकारसे आत्मनिधिकी खोज करनेवाले और उसमे ही तल्लीन रहनेवाले देहके स्नेहसे रहित नि सग साधु परम अचौर्य व्रतके परिपालक हैं।

जो गृहस्थ है, ऊपर लिखे सत्यार्थ विचारो और तन्निहित सत्य तत्त्वो पर जिनकी परिपूर्ण श्रद्धा है, किन्तु अपनी कमजोरीके कारण जो परिगृहीत परपदार्थोंको अपना पदार्थ न मानते हुए भी परित्याग करनेमे अशक्त हैं, परमुखापेक्षी हैं, वे इस महान् अचौर्य व्रतका परिपालन यथार्थतया नही कर सकते। तथापि लौकिक व्यवहारदृष्टिसे स्वोपार्जित द्रव्यको अपना अधिकृत द्रव्य मानकर उससे ही अपना निर्वाह करते है और परकीय द्रव्यको विषतुल्य मानकर सर्वथा अग्राह्य समझते हैं। वे गृहस्थ एकदेश अचौर्यव्रतके आराधक हैं। गृहस्थ लौकिक नीतिके विरुद्ध परकीय स्वल्प या महार्घ द्रव्यको अत्यन्त कष्टकी अवस्थामे भी विना उसकी स्वीकृतिके नही लेगा। यदि वह विपद्ग्रस्त होगा और स्वोपार्जित द्रव्यसे काम चलता नही देखेगा तो अन्यसे भिक्षा लेकर, अपना स्वाभिमान खोकर व अपमान सहकर भी निर्वाह कर लेगा, पर परद्रव्यका अपहरण कदापि स्वीकार नही करेगा। क्योकि वह महान् अपराध है।

परकीय द्रव्य या जो स्वकीय नही है, वह उसके लिए कितना ही उपयोगी क्यो न हो, यदि वह मार्गमे पडा हुआ दिख जाय, उसका कोई स्वामी दृष्टिगोचर न हो, या कोई भी वहाँ देखनेवाला न हो तो भी उसे श्रावक ग्रहण नही करेगा। यदि किसी विशेषस्थल जैसे नदीका घाट, बाग-बगीचा, कूपका पनघट, धर्मशाला, मन्दिर या अन्य कोई विश्रामस्थल क्लब आदिमे कोई अपनी वस्तु भूल जाय तो उसे भी अचौर्यव्रती ग्रहण नही करेगा। यदि किसी स्थान पर कोई स्वद्रव्य स्थापित कर अन्यत्र चला गया है तो उसे भी अचौर्यव्रती ग्रहण नही करेगा। इसी प्रकारसे वे सब कार्य जो प्रत्यक्षमे चोरी नही कहे जासकते पर जिनमे परद्रव्यापहरणकी भावना व तदनुकूल कृति विद्यमान है चौर्य लक्षण सहित होनेसे चौर्य ही हैं। जैसे—

अल्पमूल्यके कृत्रिम पदार्थ बहुमूल्यके अकृत्रिम पदार्थोंमे मिलाकर बहुमूल्य लेकर बेच देना चोरी ही है। खरीदनेके लिए बडे बडे नाप तौलके मापक रखना और बेचनेके लिए थोडे नाप तौलके मापक (सेर, तखरिया, मन, पसेरी, और गज आदि) रखना। ताकि बेचनेमे थोडी वस्तु देकर भी पराया बहुत सा माल आजाय। राज्याधिकारियोकी दृष्टि बचाकर मालका चुगी कर या अन्य प्रकारका सरकारी कर विक्रीकर, आयकर, और यातायात कर बचालेने का प्रयत्न करना, विना टिकट यात्रा करना, बिना कर चुकाए सामान रेलवे मोटर आदिसे लेजाना, यह सब चोरी ही है। अथवा उक्त अभिप्रायोकी सिद्धिके लिए मिथ्याभाषण करना, मिथ्या गवाही देना तथा झूठे कागज बहीखाता, नकल, बीजक व बिल्टी आदि बनाना यह सब जाल करना चोरी ही है।

अन्य पुरुषोकी दृष्टि बचाकर द्रव्य लेना जैसे चोरी है वैसे ही जबरदस्ती-ज्यादतीसे, दबावसे व प्रभावसे भी परद्रव्यापहरण चोरी है। त्रास देनेका भय, अधिकार प्रयोगका भय, अधिकार छीननेका

भय, जीविका नष्ट कर देनेका भय, कार्य बिगाड देनेका भय, उचित और न्यायसगत होने पर भी सहायता न देनेका भय, शस्त्राघातका भय, गुप्त बात प्रकट कर देनेका भय, पाप या चोरी प्रकाशन कर देनेका भय इत्यादि भय दिखाकर भी किसी महाजनका, नौकरी करने वालेका, पापीका, चोरका, निर्बलका, दीनका और दरिद्रका धन लेलेना भी चोरी ही है।

इस प्रकारसे किसी भी आडी टेढी क्रियाओसे दूसरेको सताकर उसके परिश्रमके द्वारा कमाए हुए धनको नैतिक उपायोको छोडकर अन्य उपायो द्वारा ले लेना चोरो है। बल्कि यह कहना अधिक ठीक होगा कि यह न केवल चोरी है बल्कि डाका है। चोरी तो जिसका द्रव्य है उसकी अजानकारीमे छिपकर की जाती है पर ऐसा करने पर भी चोरी करनेवाला भयभीत होता है और समझता है कि मैं चोरी कर रहा हूँ। पर अनैतिक तरीकोसे उसे दबाकर या भय दिखाकर जो धन ग्रहण किया जाता है वह चोरीका सरताज डाका है।

साहूकार, राज्याधिकारी, पूँजीपति, रईस, जमीनदार, राजा और महाराजा तथा इनके सब सहायक अमात्य, सेनापति और सैनिक इत्यादि यदि नैतिक धर्मसम्मत उपायोको उपयोगमे लावें तो ही वे उक्त पदके अधिकारी हैं। यदि वे भी अनैतिक और धर्मबाह्य उपायो द्वारा अपनी प्रजासे, मजदूरोसे और गरीबोसे धन लेलेते है तो वे भी अत्यन्त शक्तिशाली डाकू ही है। वे कभी चौर्यके पापसे नही बच सकते। सबसे बडी चोरी वही हैं या ऐसा कहा जा सकता है कि चोरीकी यह अन्तिम सीमा है। अतएव अत्यन्त पापदायक है। वह नरक निगोदवासका निश्चित कारण है।

इस प्रकार चौर्यका स्वरूप समझकर जो उससे दूर रहते है उनकी भव परम्परा नष्ट हो जाती है अर्थात् वे दुख परम्परासे मुक्त हो जाते हैं। और यही उनका सुखदायक अचौर्यव्रत है।९९।

प्रश्न —**ब्रह्मचर्यव्रतचिह्न किं मे वदास्ति भो गुरो।**

हे गुरुदेव! ब्रह्मचर्य व्रतका क्या स्वरूप है, कृपाकर कहे।

(उपजाति)

त्याज्या स्वकीया ललना यदि स्यात् कथापरासां वद काऽस्ति लोके।
पूर्वोक्तरीतिर्यदि वास्त्यसाध्या त्याज्या परस्त्री स्वपरात्मशान्त्यै ॥१००॥

त्याज्येत्यादिः—तात्पर्यमेतत्—स्त्रीपरिग्रह रागपरिणामेनैव भवति। रागादयस्तु स्वात्मविकारा एव। यत स्वात्मस्वरूपविरोधिनश्चैते रागादय। एतैरेव ससारस्य परम्परा प्रवर्त्तते, दुखपरम्परा चोत्पद्यते। शुना कृत-मस्थिचर्वण यथा तस्य मुखादेव रक्तस्रावणमुत्पाद्य रक्तस्वाद जनयति, तथैव स्त्रीपरिग्रहणेऽपि पुस पुरुषग्रहणमपि स्त्रिय स्ववीर्यरज प्रस्रवणाभ्या स्वस्वशारीरिकशक्तिनाशकाभ्या स्वात्मपावित्र्यरोधकाभ्या सङ्गमस्वाद जनयति। इत्येव प्रकारेण स्वशरीरनाशमेव सङ्गमसुखम्मन्यमानास्तु मोहिनस्स्वात्महिताद् दूरतरमेव प्रयान्ति। न तेषा कल्याण-म्भवति। कामवेदनया एव स्त्रीपुमासौ परस्परम् इच्छत। वेदना तु मोहकर्मोदया। कर्मोदयात् क्रियमाणा क्रिया नियमादेव बन्धस्य कारणम्भवति कर्मबन्धस्तु ससारदुखस्य मूलमिति। लौकिकदृष्ट्याऽपि कामक्रिया निर्लज्जताया एव लक्षण प्रोच्यते न हि कश्चित् लौकिकोऽपि सन्नागरिकलोक प्रत्यक्षपूर्वकमेव कामक्रिया कर्तुं समर्थोऽस्ति। यत्करणे खलु साधारणजनानामपि लज्जा वर्तते तत्खलु पापमेवेति सुनिश्चितम्। कामवेदना जेतुमसमर्था अपि लौकिकजना परिगृह्यापि पत्नी लज्जापूर्वकमेव प्रच्छन्नरूपेणेच्छन्ति। जानन्ति ते सर्वेऽपि सन्तानोत्पत्त्या यदेतानि

कामफलानि, तथापि न तत्क्रिया प्रकटरूपेण कर्तुं समर्था भवन्ति । कुर्वन्तोऽपि परस्त्रीपरिग्रह वेश्यासङ्गमञ्च केचित् मोहिनो न निर्लज्जा सेवन्ते किन्तु लज्जयैव प्रच्छन्नरूपेण सेवन्ते । सिद्धमेतेन यत् कामस्य कथाऽपि पापमेव । तत्कथाकारकाणामपि लोके भर्त्सना भवति यल्लज्जारहिताश्चैते विटा । कामवासनया एव सन्तानपरम्परा प्रवर्तते, सन्तानपरम्परा च ससार , ससारस्तु दु खस्य हेतुर्भवति प्राणिना, इति स्त्रीपरिग्रह एव पापमिति सिद्धम् । एतज्ज्ञात्वा स्वस्त्रीमपि परित्यज्य स्वात्मन्येव रमन्ते योगिनस्त एव धन्या निष्पापास्ते सद्य एव निर्वान्ति दु खैर्मुच्यन्ते ते । ये किल हतवला मानसिकदौर्वल्येन कामाग्निना दग्धास्तैरपि विचार्य स्वस्त्रीपरिग्रह एव कार्य । कदाचित् स्वप्नेऽपि परवनितासङ्गमेच्छा न कर्त्तव्या । वेश्यासङ्गमस्तु दूरत एव परिहरणीय । परस्त्रीसङ्गमेन स्वयमपि चौर इव अशान्तो भवति निन्द्यो भवति, दण्डनीयो भवति राज्यापराधी च गण्यतेऽसौ, व्यभिचारिणोऽवैधसन्तानोत्पत्तिर्भवति । इत्येतैरपराधैर्महद्दु खोत्पादकं तत् । स्वस्याप्यशान्ते कारण परस्यापि । इत्येवप्रकारेण स्वपरात्मशान्त्यै परस्त्री-सङ्गम परित्यज्य स्वस्त्रीमात्रसन्तुष्टस्य श्रावकस्य चतुर्थं ब्रह्मचर्याणुव्रतम्भवति । १०० ।

स्त्रीका ग्रहण रागपरिणामोसे होता है । रागादि परिणाम आत्माके विकार भाव हैं । आत्म-स्वभावकी प्राप्तिमे ये विघ्नकारक हैं । इनसे ससारकी और दु खकी परम्परा बढती है । काम भोगके द्वारा सुखानुभव करनेवाले मोही स्त्री पुरुष कुत्तेके द्वारा किए गए हड्डीके चर्वणके तुल्य अपने ही रजवीर्यके प्रस्रवणसे, जो उनके शारीरिक बलका नाशक है और आत्मपावित्र्यका घातक है, अपनेको सुखी मानते हैं । जैसे कुत्तेको यह ज्ञान नही है जो सूखे हाडोसे यह रक्त नही आता जिसे चाटकर मैं प्रसन्न हो रहा हूँ, अपि तु यह मेरे ही मुखसे निकलनेवाले रक्तका स्वाद है जो हड्डीके सघर्षसे क्षत-विक्षत हो निकलने लगा है, उसी प्रकार कामवेदनासे पीडित स्त्री पुरुष परस्परके सङ्गमके सुख स्वादमे यह भूल जाते हैं कि यह क्षणिक सुख हमारे ही शक्ति ह्रासका मूल हेतु है और अपने विनाशमे ही सुखका स्वप्न देख रहे हैं । कालिदास कविकी कथा है कि वह वृक्षकी जिस डाली पर बैठा था उसीको जडसे काट रहा था और प्रसन्न हो रहा था, ऐसे ही ये मोही प्राणी जिस शरीरकी डाल पर बैठे हैं और जिसके आधार पर उनका जीवन है उस शरीरकी जडभूत स्ववीर्य और रजका विनाश कर प्रसन्न होते है और इतने पर भी कभी अपनी हानिका विचार तक नही करते । ऐसे मोही प्राणीके लिए स्वात्महितकी वार्ता बहुत दूर है ।

कामकी वेदना ही उन्हें इस मूर्खता पूर्ण कार्यके लिए वाधित करती है । यह वेदना कर्मोदय जनित है । मोह कर्मके उदयमे ससारके प्राणिमात्र इससे पीडित है । कर्मोदय जनित क्रिया नियमसे कर्मबन्धका हेतु है । कर्मबन्ध ही ससारके दु खोका और परम्पराका मूल है । पारमार्थिक दृष्टिसे तो यह वस्तुका स्वरूप है जो नि सदेह पाप है । लौकिकदृष्टिसे भी यदि इस पर विचार किया जाय तो भी यह महा पाप है । कोई भी उत्तम नागरिक इस क्रियाको स्पष्ट रीतिसे लोगोके प्रत्यक्षमे नही कर सकता । ऐसा करना निर्लज्जता होगी । जिस कामको करनेमे साधारण जन भी लज्जाका अनुभव करें वह क्रिया उपादेय कैसे मानी जाय । उत्तम, मध्यम या साधारण जनोको छोड दीजिए, परस्त्रीसगम करनेवाले धूर्त और वेश्या सगम करनेवाले महा पापी भी तथा स्वय व्यभिचारसे पेशा करनेवाली वेश्याएँ भी इसे गुप्त रूपसे ही एकान्तमे करते हैं, प्रत्यक्ष रूपेण इसे करनेमे उन्हे भी अत्यन्त लज्जाका अनुभव होता है । सन्तानोत्पत्ति कामके ही फल हैं ऐसा जानते हुए भी सभी जन सन्तानकी इच्छा करते हुए, उसमे सोत्साह होते हुए और सतान होने पर उत्सव मनाते हुए भी काम भोगकी क्रियाको प्रच्छन्न ही करते है । जिसे करनेमे लज्जा आवे, जिसकी चर्चा दूसरेसे करनेमे लज्जा आवे वह सुनिश्चित पाप है ऐसा लौकिक जन भी मानते हैं । कामभोग सन्तानका हेतु है और सतान परम्परा ही ससार हैं तथा ससार प्राणियोंके लिए

दु खका हेतु है इस प्रकार दुखका हेतुभूत कामभोग ही सर्वथा त्याज्य है। ऐसा जानकर जो ज्ञानी पुरुष स्वस्त्रीका भी परित्याग कर स्वात्मामे ही रमण करते हैं वे जीव धन्य हैं। ऐसे महापुरुष ही परिनिर्वाण-को प्राप्त हो स्वात्मोत्थ अनत सुखको भोगते हैं।

जो निर्बल पुरुष कायरताके कारण अपनी मानसिक दुर्वलता पर विजय नही पा सकते और कामाग्नि द्वारा जले हुए स्त्रीपरिग्रह की इच्छा करते हैं उन्हे परवनिताका सङ्गम स्वप्नमे भी न करना चाहिए और वेश्या सङ्गम की तो कल्पना भी भयानक अनर्थपरम्पराका हेतु है। वे धर्मसाक्षी पूर्वक पाणिगृहीत स्वपत्नीमे ही सतुष्ट हो। स्वस्त्री परिग्रही पुरुष लोकमे प्रामाणिक माना जाता है। वह अनेक अनर्थोसे वचा रहता है। वह अपने गृहमे सुखी और शान्त रहता है। जव कि परस्त्रीसेवी चोरकी तरह सदा अशान्त रहता है। लोकमे वह निन्दाका पात्र होता है, उसकी अपकीर्ति होती है, राज व पञ्च दण्डको प्राप्त होता है, व्यभिचारी अवैध सन्तानोत्पत्तिको वढानेवाला होता है। उक्त प्रकारके दुखोको प्राप्तकर वह स्वयके लिए और परजीवोंके लिए भी महान् अशान्तिका कारण हो जाता है।

उक्त दुष्कृतिके कारण रावण विश्वव्यापी महायुद्धका कारण वना। जिसकी शास्त्रोमे निन्दा गाई है और लौकिक जन तो आज भी उसकी मूर्ति बनाकर उसका अति अपमान करते हैं व वध करते हैं। मद्यके नशेकी तरह परस्त्री सेवी पुरुष भी उस व्यसनके नशेमे फस जाता है और नशेमे मोहित हो स्वपर-कल्याणके मार्गसे सर्वथा दूर हो अपना और पराया अकल्याण इस लोकमे तो करता ही है साथ ही अपने अगले अनेक जन्मोको भी विगाड लेता है ऐसा विचारकर परस्त्री और वेश्यासङ्गका परित्यागकर स्वस्त्री मात्रमे सतुष्ट होना ब्रह्मचर्याणुव्रत है। १००।

प्रश्न —सङ्गत्यागस्वरूपस्य किं चिह्नं मे गुरो वद।

हे गुरुदेव! परिग्रह त्याग व्रतका क्या स्वरूप है, कृपाकर मुझसे कहे—

(इन्द्रवज्रा)

बाह्योऽन्तरङ्गो भवदोऽस्ति संगो ज्ञात्वेति मुक्त्वा द्विविध ततस्तम्।
तिष्ठेत्स्वभावे यदि स्वात्मनो वाऽसङ्गव्रतं तस्य भवेत्पवित्रम्॥ १०१॥

बाह्येत्यादिः—स्वात्मव्यतिरिक्तपदार्थासक्तिरेव परिग्रह। स द्विविध अन्तरङ्गो वाह्यश्च। स्वात्मनो विकारास्तु मिथ्यात्व-क्रोध-मान-माया-लोभ-नवनोकषायरूपाश्चतुर्दशसंख्याका अन्तरङ्गसङ्गा। बाह्यास्तु क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-सुवर्ण-धन-धान्य-दासी-दास-कुप्य-भाण्डरूपेण दशविध। असौ द्विविधोऽपि सङ्गो भवदो भवदु खकारक इति ज्ञात्वा य स्वात्मन स्वभावे तिष्ठति तस्य पवित्र सङ्गत्यागव्रत भवति। यस्तु सम्पूर्णरीत्या उभयसङ्ग परित्य-क्तुमसमर्थोऽस्ति सोऽपि यथायोग्य परिग्रहान् परिमाय परिमितमेव स्वीकृत्य शेषाणा परित्याग करोति तस्य पञ्चम-मणुव्रत स्यात्। १०१।

अपनी आत्मासे भिन्न पदार्थोका ग्रहण है, वह परिग्रह है। वह परिग्रह दो प्रकारका है—अन्तरङ्ग और वाह्य। आत्माके विकारस्वरूप भाव जैसे—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया और लोभ तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद, और नपुसकवेद ये ४ अन्तरङ्ग परिग्रह हैं और खेत, मकान, सोना, चादी, रुपया, अन्न, नौकर, नौकरानी, वस्त्र, कपडे ये दश बाह्य परिग्रह हैं। इन दोनो प्रकारके परिग्रहोको

पापदायक कुसङ्ग समझकर जो छोड देते हैं वे परिग्रह त्याग महाव्रती है और जो सम्पूर्ण रीतिसे उभय परिग्रहोको छोडनेमे असमर्थ हैं वे यथायोग्य अपनी आवश्यकताओ को कम करते हुए परिग्रहका प्रमाण करते हैं और परिमितमे अपना जीवन निर्वाह करते हुए शेष सब परिग्रह का त्याग करते हैं वे परिग्रह परिमाणाणुव्रती माने गये हैं ॥ १०१ ॥

—उपसंहार—

(अनुष्टुप्)

पञ्चाणुव्रतचिह्नं हि प्रोक्तमेवं शिवप्रदम् ।
पालयन्तु सदा भव्याः स्वान्यात्मशान्तये मुदा ॥ १०२ ॥

पञ्चेत्यादि :—एवमुपर्युक्तप्रकारेण पञ्चाणुव्रतचिह्न पञ्चपापानामेकदेशत्यागरूपमणुव्रतपञ्चक प्रोक्तमाचार्य-श्रीकुन्थुसागरेण । तत्खलु परम्परया शिवप्रदमस्ति । स्वान्यात्मशान्तये स्वात्मन परेषामपि शान्तिमिच्छन्तो भव्या सदा तत्पञ्चाणुव्रत मुदा पालयन्तु ॥ १०२ ॥

ऊपर वर्णित प्रकारसे परम्परासे मोक्षसुख प्रदान करनेवाले पञ्च महापापो के एकदेश परित्यागरूप पञ्चाणुव्रत जो गृहस्थ श्रावकोके योग्य है वर्णन किए गए है । जो जीव अपना कल्याण चाहते है तथा परोपकारकी इच्छा रखते हैं उन्हे इनका वडे प्रेमसे परिपालन करना चाहिए ।

पाप करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति न केवल अपने लिए दु खोत्पादक है बल्कि वह परिवार, कुटुम्ब, जाति, समाज, प्रान्त व देश यहा तक कि ससारका शत्रु है । अशान्ति उत्पन्न करनेवाला है, अतएव स्वपर हानिकारक महान् अशान्तिके हेतु इन पाचो पापोका त्यागकर अणुव्रतोका पालन करना चाहिए ।१०२।

इत्यणुव्रतस्वरूपं वर्णितम् ।

——अष्टमूलगुणनिरूपणम्——

प्रश्न —**श्राद्धमूलगुणानां तु किं चिह्नं मे गुरो वद ।**

हे गुरुदेव ! जिनेन्द्रोक्त तत्त्वो पर दृढ श्रद्धा रखने पर भी श्राद्ध (श्रावक) को आत्महितकारक वस्तु तो चारित्र है, अत चारित्रमे मूल व्रत क्या हैं, कृपया कहे—

(अनुष्टुप्)

मद्यमांसमधूनां हि सेवन स्पर्शनं तथा ।
न कार्यं दु खदं निन्द्य श्रावकैर्धर्मवत्सलैः ॥ १०३ ॥
सदा प्राणिसमाकीर्णं वटादिफलपञ्चकम् ।
न भक्ष्यमिष्टसिद्ध्यै च तन्मूलव्रतमिष्यते ॥ १०४ ॥ युग्मम् ॥

मद्येत्यादि :—श्रद्धावत. श्रावकस्य कल्याणार्थञ्चारित्रमुक्तम् । चारित्रञ्च तत् सर्वदेशपापपरित्यागरूप एकदेशपापपरित्यागरूपञ्चे ति द्विविधम् । प्रथम तावत् दिगम्बराणाम् । तत्स्वरूप तु प्रागेव मुनिधर्मप्रदीपे ग्रथे श्रीमदाचार्यण प्रोक्तम् । यथार्थतया सर्वपापपरित्यागरूपमनगारव्रतमेव चारित्रम् । तदेवोत्सर्गमार्गं । यो लोके राजमार्ग प्रोच्यते । तद्धारणेऽशक्ताना तु एकदेशपापपरित्यागरूप श्रावकव्रतमस्ति । नासौ उत्सर्ग किन्तु अप-

वादमार्ग एव। अनगारव्रतहेतुत्वात्तस्यापि व्रतत्वमायाति। सागारस्य मूलव्रतानि—यन्मद्यमासमधूना वट-पिप्पलो-दुम्बर-काष्ठोदुम्बर-पाकरफलानाञ्च परित्याग। एतेपा परित्यागेन विना न कोऽपि श्रावकसज्ञा प्राप्नोति। चारित्र-मन्दिरस्य प्रथमसोपानञ्च तन्मूलव्रतमस्ति। दयाधर्माराधका खलु श्रावका मद्यादीनामासेवनन्तु तावत् दूरतरमेवास्ताम् तत्स्पर्शनमपि निन्दनीयमस्ति इति मन्यन्ते। परिपाककाले हिसाया खलु फलम्महद्दु खमेवास्ति इति ते जानन्ति। वटादिफलपञ्चके वहुजीवास्सन्ति सदा चोत्पद्यन्ते। तद्भक्षणे तेपा हिंसावश्य सजायते एतद्विचार्य धर्मवत्सलै कदापि न सेवनीय मद्याद्यष्टमम् अभक्ष्याणि चैतानि सदा दयापरै ।१०३।१०४।

श्रद्धावान् श्रावकका कल्याण केवल श्रद्धामात्रसे न होगा, अपने कल्याणके लिए उसे जिनोक्त उस सन्मार्ग पर जिसकी उसने श्रद्धा की है चलना भी होगा, उसे ही चारित्र कहते है।

यह चारित्र पञ्च पाप परित्याग रूप है। सम्पूर्णतया पञ्च पाप परित्याग रूप व्रत महाव्रत है। यह दिगम्बरत्वको स्वीकार करनेवाले परम निस्पृही वीतराग नि सङ्ग साधु पुरुषो द्वारा ही साध्य है। यह विधेय मार्ग है जिसे राजमार्ग भी कहते हैं। जो हीन पुरुषार्थी पुरुष इस परम कल्याणकारक मार्गको पालन करनेमे असमर्थ हैं उनके लिए एकदेश पाप परित्याग रूप यह श्रावकोका अणुव्रत है। यह अप-वाद मार्ग हैं। मुनिमार्गका निरूपण मुनिमार्गप्रदीप नामा ग्रथमे आचार्य श्री कुन्थुसागर महाराजने किया है। श्रावकधर्मका वर्णन इस ग्रन्थमे किया जा रहा है।

श्रावकके चारित्रमे मूलव्रत ८ हैं।—मद्यत्याग, मासत्याग, मधुत्याग तथा वड, पीपर, पाकर, ऊमर और कठूमर इन पाँच क्षीर फलोका त्याग ये आठ मूलव्रत हैं। इन आठ मूलगुणोको धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टिको श्रावक सज्ञा प्राप्त होती है, अन्यथा नही। मूलके अभावमे जैसे वृक्षमे शाखाएँ, फल-पत्र-निरर्थक हैं, ऐसे ही मूलव्रतके अभावमे उत्तरव्रतोकी कल्पना भी निरर्थक है। चारित्ररूपी मन्दिरकी यह पहली सीढी है। इस पर चढे बिना कोई चारित्रमन्दिरमे प्रवेश नही कर सकता।

दया धर्मके आराधक श्रावक इन मद्यादि पदार्थोंका सेवन तो बहुत दूर की बात है स्पर्शन करना भी पाप समझते हैं। मासका भक्षण महान् क्रूर कर्म है। मद्य चित्तभ्रमको उत्पन्न कर अनेक पापोको प्रोत्साहित करता है। मधु मधुमक्खियोका सञ्चित खाद्य है, जिसके खानेमे उन मधुमक्खियोंके साथ ही उस खाद्य रूप मधुमे उत्पन्न होनेवाले मक्षिका जातीय असख्य निकोत जीवोकी हिंसा अनिवार्य है। इस प्रकार महान् हिंसा पापके उत्पादक इन मकारत्रयका स्पर्शन भी दयाधर्माराधक श्रावकके लिए निन्द्य है। इसके सेवनका फल उत्तर कालमे अत्यन्त दु खप्रद है।

वड आदि फल भी बहुतसे जीवित जीवोंके स्थान हैं। वे प्रत्यक्ष भी दीखनेमे आते हैं और असख्य-जीव ऐसे हैं जो दीखनेमे नही आते। इनको खानेमे इनकी हिंसा सुनिश्चित है। यह भी अत्यन्त क्रूर कर्म है। ऐसा विचार कर धर्मके इच्छुक इनका कदापि सेवन नही करते। इन आठोका त्याग ही आठ मूल गुण या आठ मूल व्रत कहलाता है। ये आठो सर्वथा अभक्ष्य हैं।१०३।१०४।

प्रश्न —अभक्ष्यवस्तुत्यागस्य हेतु को विद्यते वद।

आठ पदार्थो को ऊपर अभक्ष्य कहा गया है। सो हे गुरुदेव। अभक्ष्य क्या है? उनके त्यागका क्या हेतु है? उनका त्याग क्यो करना चाहिए। इनके सिवाय भी अभक्ष्य और होते हैं क्या? हैं तो कौन कौन हैं? कृपाकर कहे—

(अनुष्टुप्)

तुच्छफलाद्यभक्ष्याणां दयाधर्मप्रणाशिनाम् ॥
भक्षणं स्पर्शनञ्चापि न कार्यं भवभीरुभि ॥ १०५ ॥
तच्चलितरस वस्तु न भक्ष्यं व्याधिवर्धकम् ॥
पूर्वोक्तविधिसाध्यात्स्याद्धि लोके शान्तिदा मति ॥ १०६ ॥ युग्मम् ॥

तुच्छेत्यादि :—यन्न भक्षणीय स्यात्तदेवाभक्ष्यम् । यद्भक्षणे त्रसजीवाना घात स्यात् तदभक्ष्यमित्येकम् । यद्भक्षणे वहूना स्थावरजीवाना घात स्यात्तद्वितीयमभक्ष्यम् । यत्किल मोहञ्जनयति चित्त भ्रामयति तच्छेवनमपि न करणीयम् । तत्करण तु तृतीयमभक्ष्यम् । यद् भक्ष्यमपि उच्चकुलीनैर्धर्माधिरूढैर्महापुरुषैर्न भक्ष्यते तद्भक्षणमपि चतुर्थमभक्ष्यम् । यच्च भक्ष्यमपि स्वशरीरप्रकृतिविरुद्ध रोगोत्पादक रोगाद्यवस्थायामपथ्यकारकमस्ति तद्भक्षणमपि दोषास्पदमेव व्रतिनामस्ति इति पञ्चविधमस्ति । ग्रन्थान्तरे प्रसिद्धानि द्वाविंशतिसख्यकानि तु अभक्ष्याणि पूर्वोक्त-कारणैरेव त्याज्यानि सन्ति । यदि द्वाविंशतिसख्यातो वहिर्भूतानि अपि वस्तूनि अभक्ष्यलक्षणैर्लक्षितानि स्युस्तदा तान्यपि अभक्ष्याणि इति निश्चेतव्यम् । तुच्छफलेषु सप्रतिष्ठितत्व वर्तते तस्मादनन्तस्थावरप्राणिविघातो भवति तद्भक्षणे । बदरीफलादिषु च तुच्छफलेषु त्रसजीवानामपि स्थानानि सन्ति न तु अतितुच्छफलाना शोधनम्भवितुमर्हति तस्मात कारणात् दयाधर्मविनाशकाना तेषा भक्षण स्पर्शनञ्च भवदु खभीरुभि श्रावकैर्न कर्त्तव्यमिति । स्वप्राकृतिक-स्वादत चलितस्वादानामपि वस्तूना भक्षण न कर्त्तव्यम् । तदपि नानात्रसजीवाना योनि: । अत भक्ष्यमपि वस्तु यदा स्वादत विचलित स्यान्न तदा भक्षणीय तत् । इति पूर्वोक्तविधिना अभक्ष्यभक्षणत्यागात् दयाधर्मसरक्षणात् शान्तिप्रदायिनी बुद्धिरुत्पद्यते । १०५ । १०६ ।-

जो पदार्थ खानेके अयोग्य है वह अभक्ष्य है । खानेके अयोग्य पदार्थ पाँच कारणोसे होते हैं । (१) जिनके खानेमे त्रस जीवोका घात हो । जैसे—पञ्चोदुम्बरफल, रात्रिमे निष्पन्न भोजन, मक्खन, (मर्यादा बाहिर) मधु, बरफ, द्विदल, बैंगन, अचार इत्यादि ।

(२) जिनके खानेमे वहुतसे स्थावर जीवोका घात होता हो । जैसे—कन्दमूल, बहुबीजा, कोपल, बालअवस्थावाले फल इत्यादि सप्रतिष्ठित वनस्पतियाँ ।

(३) जिनके खानेसे चित्तमे भ्रम पैदा हो, नशा चढे, उन्मत्तता वढ जाय, पागलपन आ जाय । जैसे—मदिरा, गाजा, भाग, तम्बाखू, अफीम आदि ।

(४) जो उच्च कुलीन धर्मात्मा व्रती पुरुषो द्वारा सेवन नही किए जाते है वे पदार्थ चौथे प्रकारके अभक्ष्य हैं । लोकविरुद्ध पदार्थका भक्षण लोकनिन्द्य होता है । जैसे—लहसुन, प्याज आदि । यद्यपि ये जमीकन्द होनेके कारण भी अभक्ष्य हैं तथापि लोकविरुद्ध भी है । जो जमीकन्दका त्याग नही किए वे भी उनका भक्षण कुलीन होनेके नाते नही करते है । देश भेदसे इसमे भेद पड जाता है । जिस प्रान्तमे जो पदार्थ शुद्ध होने पर भी लोकनिन्द्य हो वह व्रतीको सेवन नही करना चाहिए । अजानफल भी इसी श्रेणीमे है ।

(५) जो पदार्थ शुद्ध होने पर भी रोगोत्पादक हो या रोगावस्थामे अपथ्यकारी हो या सहज ही प्रकृतिके विरुद्ध पडता हो वह पदार्थ भी अभक्ष्य है । इसके भक्षण करनेसे मनुष्य रोगी होने पर धर्म कर्मसे विहीन हो जाता है । सक्लेश परिणाम होते हैं, अत हेय है । दूसरी वात यह है कि शरीरमे

रोग होने पर अनेक रोगोके कीटाणु उत्पन्न हो जाते है। शरीरमे कभी भी विकार हो जीवाणु अर्थात् सूक्ष्म जीव अनन्त उत्पन्न हो जाते हैं और उनका मरण भी अवश्यभावी है। अतएव ऊपरके ४ कारणोसे रहित शुद्ध भी पदार्थ अहितकर, अपथ्य और रोगोत्पादक होनेके कारण हिंसाका हेतु है अत अभक्ष्य है।

जिन २२ अभक्ष्योको ग्रन्थान्तरोमे वर्णित किया है वे सब इन पाँच कारणोमेसे किसी कारण से ही अभक्ष्य हैं। जो पदार्थ अपने सहज परिणमनसे भ्रष्ट होकर सडने लगता है वह स्वादसे विचलित हो जाता है। ऐसे **स्वाद चलित** पदार्थमे असख्य त्रस राशि उत्पन्न हो जाती है, अतः वह कदापि **भक्ष्य-नहीं हो सकता।** भले ही वह उक्त पाँचो कारणोको बचाकर अत्यन्त शुद्ध रीतिसे ही क्यो न निष्पन्न किया गया हो। **विष आदि पदार्थ** भी इसी तरह हेय है जब कि मारक हो। अर्थात् उनसे जीवन रक्षा न होकर जीवननाश हो। जो उक्त पाँच अभक्ष्यके कारणोसे रहित हैं और मारक शक्तिसे रहित होकर जीवनप्रदायिनी शक्तिको प्राप्त होकर औषधि रूप हो गए हैं वे अभक्ष्य नही हो सकते हैं।

जो पदार्थ अशोधित हो वे भक्ष्य होने पर भी उस अवस्थामे अभक्ष्य है, कारण सचित्तत्व होनेकी अर्थात् त्रस सहित होने की उनमे सभावना है। बेरका फल, मकोय आदि छोटे छोटे फल जो फोडकर नही खाए जा सकते या ऐसी वनस्पति या साग जिसे फोडकर शोध नही सकते वे भी अभक्ष्य की श्रेणीमे गर्भित है। जो पदार्थ देखनेमे जीव जन्तुके आकारके हैं, अर्थात् त्रस जीवके विशिष्ट आकारके हैं, जिनके खानेमे खानेवालेके चित्तमे ऐसी ग्लानि पैदा हो जाती है कि इसका खाना अमुक प्राणी को खाने जैसा लगता है या मास समान दीखता है। इस प्रकार उसमे यदि अभक्ष्यका सकल्प आ जाय तो वह भी पदार्थ अभक्ष्य है।

अभक्ष्य भक्षणसे बुद्धि भ्रष्ट होती है। दयाधर्म नष्ट हो जाता है। क्रूरता उत्पन्न हो जाती है। लोभादि कषायोका प्राबल्य हो जाता है। अत शान्तिके इच्छुक धर्मात्माओको अभक्ष्यके भक्षणका त्याग करना चाहिए। इस तरह श्रावकके आठ मूलगुण बताए गए हैं। १०५। १०६।

मूलव्रतातिचारवर्णनम्

प्रश्न —**वदातिचारकाः पञ्चौदुम्बरस्य कति प्रभो।**

हे प्रभो! पाँच उदम्बर फल त्याग रूप व्रतको पालनेवाला जिस प्रकारसे अपने व्रतको निर्दोष पालन कर सके, इसके लिए उस व्रतके अतिचारोका वर्णन करिए। वे कितने और कौन कौन हैं—

(अनुष्टुप्)

यावद्येषां फलानां तु गुणधर्मो न ज्ञायते॥
न तावद् भक्षण तेषां कार्यं तत्त्वार्थवेदिभि ॥१०७॥
फलानामपि चान्येषां कृत्वा चूर्णश्च छेदनम्॥
ज्ञात्वा जीवांस्ततस्त्यक्त्वा कार्यं पश्चाद्धि भक्षणम् ॥१०८॥
त्रसजीवसमाकीर्णं फल सेव्यं न तत्त्वतः।
अतीचारविमुक्तं हि श्लाघ्यं तस्य व्रत भवेत् ॥१०९॥ विशेषकम्॥

यानि फलानि खलु व्रतिनोऽपरिचितानि सन्ति। यावद् येषा भक्ष्यत्वाभक्ष्यत्वविषये निर्णयो न जातस्तावत्तेषा भक्षण दोपास्पदमेव। स्वस्यापि प्राणातिपातस्तस्मात् सभवति। तस्मादपरिचित फल न भक्षणीयम्। अन्येषा-मपि फलादीनाञ्चूर्णं वटिकाद्यपि औषध जीवरहितावस्थायामेव भक्ष्य स्यात् अत शोधित भक्षणीयम्। त्रसादिजीव-

समाकीर्णानि अन्यान्यपि फलानि न भक्षणीयानि। बदरीफलादीना शोधनेऽपि जीवाना सभावना भवति अत न भक्षणीयम्। एव विचारपूर्वक व्रतमेव श्लाघ्य भवति अतिचारैश्च विमुक्त भवति। १०७। १०८। १०९।

जिस फलको व्रती पुरुष भक्ष्य है या अभक्ष्य ऐसा निर्णीत नही कर सकते वह कभी भक्ष्य नही हो सकता। ज्ञानी पुरुषको वह कभी नही खाना चाहिए। उस प्रमादसे अभक्ष्य भक्षणमे आ सकता है। विना जाने हुए फलको खानेसे खुदका भी मरण या रोगादिकका होना सभव है।

एव और भी फल आदि वस्तुएँ जो सुखा ली जाती हैं और जिनके टुकडे-टुकडे करके रख लिए जाते है या चूर्ण या गोली वनाकर औषधिके काममे लाए जाते है उन सबको अशोधित खाना दोषास्पद है। शोध कर ही निर्जीवावस्थामे उनका सेवन करना चाहिए। त्रसजीव सयुक्त वेर, मकुइया, जामुन और अचार आदि अभक्ष्य ही है। वेर आदि शोधनीय हो भी जाँय तो भी उनमे त्रस जीवोकी सभावना है। अत अभक्ष्य ही है। इस प्रकार विचारपूर्वक भोजन करनेवाले पुरुषका व्रत ही निरतिचार और प्रशसा योग्य होता है। १०७।१०८।१०९।

प्रश्न —मासातिचारचिह्न किं विद्यते मे गुरो वद।

हे गुरुदेव ? मासके सर्वथा परित्याग रूप व्रतको पालनेवाले व्रतीको भी जिन कारणोसे मासभक्षण सवन्धी अतिचार प्राप्त होते है उनको वताइए—

(अनुष्टुप्)

चर्मपात्रे धृतं तैलं हिंगु नीरं तथा घृतम्।
त्यक्तमांसाशनैस्त्याज्यमेवमन्यद्यथागमम्॥११०॥

चर्मेत्यादि—चर्मणि धृत तैल हिंगु नीर घृत वा यत्किञ्चिदपि भोज्य पेय वा तन्मासदोपापादकमस्ति। नखरोमादिसयुक्तमपि भोजन मासातिचारोत्पादकमास्ते। यस्मिन् वस्तुनि इद मासमिति सङ्कल्पो जायते तद्भक्षणेऽपि मासातिचारो भवति। अत त्यक्तमासाशनै मासव्रतधारिभिरेते अतिचारा यथागम परिहर्तव्या। ११०।

चमडेके वर्तनमे रखी हुई वस्तुका भक्षण मासातिचारोत्पादक है। जैसे घी, तेल, हीग और जल आदि पदार्थ अनेक प्रान्तोमे चमडेकी मशकमे रखे जाते हैं। चमडेको चालनीमे चाला हुआ, चमडेकी तराजूमे तौला हुआ तथा चमडेके सूपेमे रखा हुआ आटा आदि अभक्ष्य हैं। और जो अनाज धोकर शुद्ध किया जा सकता है उसे धोकर शुद्ध कर ही काममे लाना चाहिए। भोजनमे यदि नख रोमादिका सपर्क आ जाय तो वह नही खाना चाहिए। रोम शरीराग हैं अत रोम नख आदि सहित (स्पृष्ट) पदार्थ न खाना चाहिए। इसी प्रकार जिस पदार्थमे यह मास है ऐसा सकल्प हो जाय उसे खा लेना भी मासातिचार है। इनका वर्जन व्रतीको अवश्य करना चाहिए। मासभक्षीके हाथका तथा उसके वर्तनोमे वना आहार भी सर्वथा त्याज्य है। ११०।

प्रश्न —मद्यातिचारचिह्न किं वर्त्तते मे गुरो वद।

हे गुरुदेव, मद्यत्याग व्रतके दोष कौन कौन हैं, कृपाकर वताइए—

(अनुष्टुप्)

मद्यपायिकरस्पृष्टं भोजनमपि दोषकृत्।
न सेव्य निन्दित वस्तु स्वादतश्चलितं तथा॥१११॥

मद्यपायीत्यादिः—गुडादिषु मदोत्पादकेष्वन्येषा द्रव्याणा सम्मिश्रणात् कालान्तरे मद्यमुत्पद्यते । तत् खलु ये पिबन्ति ते मद्यपा । मद्येऽनेके त्रसा समुत्पद्यन्ते, तत्पाने च म्रियन्ते । स्वचित्तस्योन्मादेच्छया खलु सेवन्ते मद्यम् । तद्वत् स्वस्वादत विचलितं भोज्यमपि सन्धानात् मद्यमिव त्रसजीवसमाकीर्णं भवति, तस्मात्तद्भक्षणे मद्यस्यैवातिचार स्यात् । मदोत्पादकानामन्येषामपि पदार्थानामासेवन मद्यस्यैवातिचाराय भवति । मद्यपाना करस्पर्शान्निष्पन्नमन्नादिकञ्जलादिकञ्च नो ग्राह्य व्रतिभि । यत न खलु चित्तभ्रमवता कश्चित्प्रत्यय । तद् भक्ष्यं वा स्यात् अभक्ष्य वा स्यात्, न तस्य तयोर्विवेकोऽस्ति । य खलु तत्करस्पृष्टमन्नादिव पानादिक वा सेवते तस्य न स्याद्भोजनस्य शुद्धि । तत्प्रसङ्गेन तत्प्रयुक्तानामपि भाजनानामुपयोगा स्यात् । मद्यस्पृष्टे भाजने भोजनमपि तद्दोषाधायक स्यात् । एव तत्ससर्गात् मद्यात् विरक्तिश्च नश्यति तस्मिन्ननुरागश्चोत्पद्यते, सत्येव व्रत च नश्यति । तस्मादतिचारान् परित्यज्य व्रत रक्षणीयम् ॥ १११ ॥

गुड आदिमे मदोत्पादक अन्य पदार्थोंको गलाकर मद्य बनाया जाता है । उसे पीनेवाले मद्यप कहलाते है । मद्यमे अनेक त्रस जीव उत्पन्न होते हैं, जो मद्यपानसे नष्ट हो जाते हैं । उन्माद को उत्पन्न करनेके लिये ही लोग मद्यका सेवन करते हैं । इसीप्रकार जो पदार्थ मदोत्पादक हो और जो पदार्थ सड जानेसे अपने स्वादसे विचलित हो गये है उनका सेवन मद्यके दोषको ही उत्पन्न करता है । मद्य पीनेवालोकी सगति करना, उनसे सम्बन्ध बढाना, उनके साथ बैठकर भोजन करना, उनके द्वारा बनाया अन्न व जल ग्रहण करना, उनके द्वारा उपयुक्त वर्तनोमे भोजन आदि करना और उनके बालबच्चोसे अपने बालबच्चोकी शादी आदि करना ये सब मद्यके अतिचार हैं । इन कार्योंसे मद्यके प्रति होनेवाली विरक्तता मिट जाती है और मद्यके प्रति अनुराग क्रमश बढता जाता है । कुछ ही समय बाद ऐसे लोग स्वय मद्यपायी हो जाते हैं । उनका भक्ष्याभक्ष्यका विवेक उन अविवेकियोकी सगतिमे नष्ट हो जाता है । अभक्ष्यके प्रति घृणाका भाव उठ जाता है । यह विचार कर मद्यके उक्त अतिचारोंसे दूर रहकर अपने व्रतकी रक्षा करनी चाहिये । १११ ।

प्रश्न —**मध्वतिचारचिह्नं किं वर्तते मे गुरो वद ।**

हे गुरुदेव ! मधुत्यागव्रतमे भी कोई अतिचार होते हैं ? यदि होते हैं तो कृपाकर समझाइए—

(अनुष्टुप्)

त्रसजीवसमाकीर्णं कुसुमं चान्यद्वस्तुकम् ।
मधुस्पृष्ट सदाऽहृद्य त्याज्य तत्त्वार्थवेदिभिः ॥११२॥

त्रसेत्यादि—त्रसजीवाना हिंसादोषाधायकत्वाद्यथा मधु त्याज्य तथा त्रसजीवसमाकीर्णं अन्यदपि वस्तु त्याज्यम् । तद्भक्षणे तद्व्रतातिचार स्यात् । कुसुमेषु क्षुद्रजन्तुका तन्मत्तगन्धग्रहणेच्छया रसेच्छया च समागच्छन्ति । ते तु तत्रैवानुरक्तास्सन्त निवसन्ति न परित्यजन्ति तदावास प्राणान्तेऽपि । सरोजे भ्रमराणा-तद्गन्धलोभेन मरण जगति प्रसिद्धमेव । तज्जातीयानामन्येषामपि जन्तूना तादृश्येव स्थितिरस्ति । तस्मात् कारणात् प्रायेण पुष्पाणामशन न कर्त्तव्यम् । कृते च तदशने मध्वतिचार स्यात् । मधुस्पृष्टे भाजनेऽपि भोजन न कार्यम् । तथा मधुस्पृष्ट अन्यदपि वस्तु न ग्राह्य । नेत्राञ्जनादौ दन्तरोगादावपि मधो प्रयोग न कर्त्तव्य । औषधिरूपेणापि लेपादौ तस्य प्रयोग दोषाधायकोऽतिचार एव स्यात् । ११२ ।

मधु त्रस जीवोका कलेवर है और त्रसोत्पादक है अतएव अग्राह्य है । इसी प्रकार उक्त दोषोंसे पूर्ण जो भी पदार्थ हैं उनका सेवन करना मधुव्रतके लिए ही दोषाधायक है । फूलोमे उसकी गध और रसके

लोभी छोटे छोटे जन्तु सदा बसते है और प्राणान्त हो जानेपर भी उनको नही छोडना चाहते। कमलमे गंधके लोभमे भ्रमरके मरणको प्राप्त हो जानेकी कथा जगत्मे प्रसिद्ध है। इसी प्रकार भ्रमरकी ही जातिके अन्य क्षुद्र कीटाणुओकी भी यही स्थिति है। उक्त कारणोसे प्राय फूलोका सेवन नही करना चाहिए। जो पुष्प शोधे जा सकते हैं—स्पष्टतया त्रस रहित किए जा सकते हैं, आवश्यकता होने पर उनका उपयोग कर भी सकते हैं, तो भी ऐसे पुष्प जो शोधे नही जा सकते, या शोधे जानेपर भी जिनपर क्षुद्र जन्तु उडकर बैठ जाते हैं, या जो सदा जीवसमाकीर्ण ही रहते हैं ऐसे नीमके फूल केतकी पुष्प आदि सर्वथा परिहारके योग्य है।

मधुस्पृष्ट भोज्यको ग्रहण करना, मधुस्पृष्ट भाजनमे भोजन करना भी अतिचार है। नेत्रमे, दांतोमे, और गुदामे, उत्पन्न हुए अनेक रोगोमे जो मधुका प्रयोग किया जाता है वह भी दोषाधायक है। अर्थात् औषधिके रूपमे लेपादिके लिए भी मधुका प्रयोग मधुव्रतवालेके लिए अतिचार ही है। अत अतिचारो का परहेज कर व्रतको निर्मल बनाना ही श्रेयस्कर है। ११२।

अथ सप्तव्यसनातिचार

प्रश्न :—द्यूतातिचारचिह्नं किं वर्तते मे गुरो वद।

हे गुरो! द्यूत व्रतके दोपाधायक अतिचारोका वर्णन कीजिए—

(अनुष्टुप्)

क्रीडतश्च मिथो द्यूत दृष्ट्वा जीवान् कदापि न।
तुष्येत्पलायनं लोभात् कारयित्वा पशोस्तथा॥ ११३॥

क्रीडतश्चेत्यादि :—द्यूतक्रीडा कुर्वता समर्थन तेपा प्रशसा द्यूतक्रीडादर्शने समुत्सुकता तद्दर्शनात् सतोष एते सर्वेऽपि द्यूतातिचारा। जयपराजयेच्छया पशूना पलायनक्रीडा द्यूतमेव। होढादिना मन प्रसत्त्यर्थं यत्किञ्चिदपि क्रियते तत्सर्वमपि द्यूतक्रीडात्यागव्रतस्यातिचारेषु गर्भितमेव। यथा द्यूतक्रीडा विशिष्टरूपेण रागद्वेषादीनुत्पादयति तद्वत् तत्सर्वमपि। तस्मात्तत्परिवर्तनेन व्रत रक्षणीयम्। ११३।

जुआ खेलना जैसे विशिष्ट राग द्वेष लोभ और मोहका उत्पादक होनेसे श्रेयोमार्गका विघातक है उसी प्रकार वे सब कार्य जो द्यूत क्रीडाके समय ही विशिष्ट राग-द्वेषको उत्पन्न करते हो वे सब द्यूतक्रीडा जैसे ही हैं। और उनका सेवन व्रती पुरुषके लिए अतिचार है।

पशुओका लडाना, दौडाना, व परस्पर सघर्ष करा देना ये सब राक्षसी प्रकृतिके आनन्ददायक कार्य दोषोत्पादक हैं। ये लोग पशुओकी पराजयसे अपनी पराजय और उनकी विजयमे अपनी विजय मानकर उनमे मारणान्तिक सघर्ष उत्पन्न करा देते हैं। यह सब महान् दोषाधायक है।

होड लगाकर जीत हारकी शर्त रखकर जो भी खेल खेले जाते हैं, जिनका अभिप्राय अर्थात् उद्देश्य केवल अपने दुरभिप्राय और दुरिच्छाओकी पूर्ति हैं, परपराजय, परनिन्दा, परावनति तथा स्वविजय, स्वप्रशसा और स्वाहकार ही जिनका प्रतिफल है वे सब कार्य जैसे ताश खेलना, चौपर, सतरज, घुडदौड आदि द्यूतके समान ही दोषाधायक होनेसे अतिचार हैं।

पर स्वास्थ्यरक्षा, ज्ञानवृद्धि और सदाचारकी उन्नतिके उद्देश्यसे किए जानेवाले और उक्त उद्देश्यकी पूर्ति करनेवाले होड़के कार्य दोषाधायक नही है। उससे मनुष्यकी उन्नति होती है विद्या वढती है, स्वास्थ्य

अनुकूल होता है। सदाचारकी वृद्धि होती है। जैसे-सदाचारी छात्रको पारितोषिक देनेकी शर्त लगाकर घोषणा करना, अमुक ग्रथमे अच्छे नवरोमे पास होनेपर अमुक पारितोषिक प्राप्त होगा आदिकी घोषणा करना तथा अनुत्तीर्ण होने पर शारीरिक व आर्थिक दण्डकी घोषणा करना इत्यादि ये सब कार्य ग्राह्य हैं, क्योकि ये बालकोको द्यूतादिसे दूरकर ज्ञानार्जन और स्वास्थ्य तथा सदाचार वर्द्धनकी प्रेरणा करते हैं।

किसी भी कार्यका गुणदोष उसके उद्देश्यपूर्तिके ऊपरसे ही लिया जाता है। एक ही कार्य दोषोत्पादक होनेसे हेय और गुणोत्पादक होनेसे उपादेय हो जाता है। मुनिपर उपसर्ग करनेवाले सिंह और सिंहसे मुनिकी रक्षा करनेकी इच्छा रखने वाले शूकरमे जब सघर्ष हुआ तब दोनो एक दूसरे पर प्रहार करते थे, मारते काटते थे, यहाँ तक कि अन्तमे दोनो मृत्युको प्राप्त हो गए। एक दूसरेको मारने के दोनो दोषी हुए फिर भी शूकर स्वर्ग गया और सिंह नरक गया। दोनोके कषायें थी पर दोनोंके उद्देश्य भिन्न थे, इसलिए एक ही कार्य करने पर दोनोके परिणामोमे महान् भेद था, अतएव उनके फलमे भी भेद हुआ। इसी प्रकार होड लगाकर शर्तके साथ भी सदभिप्रायपूरक जो कार्य किए जाँयगे वे दोषोत्पादक नही हैं। किन्तु उसी प्रकारकी शर्त लगाकर लोभादि अभिप्राय पूरे करनेकी इच्छासे या दूसरेको नीचा दिखानेके अभिप्रायसे, अपने अहकारको पोषण करनेके अभिप्रायसे, अपनी प्रशसा हो अन्यकी निन्दा हो जाय इस अभिप्रायसे जो क्रीडाएँ की जाती हैं, रागद्वेषवर्धन ही जिनका एकमात्र फल है वे द्यूत क्रीडाके अतिचार हैं।

जुआ खेलनेवाले मनुष्योके कर्तव्योका समर्थन करना उनके कार्योंकी प्रशसा करना, जुआके खेल देखनेकी उत्सुकता होना, उन्हे देखकर सतुष्ट होना, जुआ खेलनेका उपदेश देना, उसके लिए दूसरोको प्रेरणा करना, जुआरियोको रुपया वगैरह उधार देकर जुआ खिलवाना, उन्हे स्थानकी सुविधा देना इत्यादि सब कार्य उसी द्यूतव्रतको नष्ट करनेवाले अतिचार हैं जो कालान्तरमे अनाचारके हेतु हैं। अत इन सबका परिहार कर व्रतको निर्मल बनावे। ११३।

प्रश्न —**वेश्यात्यागातिचारस्य किं चिह्नं विद्यते वद ॥**

वेश्याव्यसनत्याग व्रतके अतिचार कौन हैं, कृपाकर हे गुरो कहिए—

(अनुष्टुप्)

वार्तालापः तया सार्धं न कार्यो धार्मिकैर्जनैः ।
न वेश्यागीतनृत्यादि पश्येद् गच्छेन्न तद्गृहम् ॥ ११४ ॥

वार्तेत्यादि —वेश्याव्यसनव्रतिन वेश्यानृत्यदर्शन तद्गीतश्रवण तद्गृहगमन तया सह वार्तालाप तया सह व्यापारादिकञ्च न करणीयम्। यतस्तत्सर्वं तद्व्रतातिचार एव। ११४।

वेश्याव्यसन त्याग व्रतकी रक्षा करनेवाले को चाहिए कि वह उसके प्रति प्रेरणादायक प्रत्येक कार्यसे बचे। वे सब उस व्रतके अतिचार हैं। जैसे वेश्याका नृत्य देखना, उसका गाना सुनना, उसके घर जाना, उससे वार्तालाप करना, उसके साथ लेनदेन व्यापार आदि करना, उसे अपने गृहमे रहनेको स्थान देना, वेश्याव्यसनियोकी सगति करना, उन्हे वेश्याके प्रति अनुरागी बनाना, उन्हे आर्थिक सहायता देना ये सब उस व्रतको नाश करनेके हेतु हैं। चित्रके द्वारा या सिनेमा आदिके द्वारा भी वेश्यानृत्यदर्शन या वेश्यागीतश्रवण इस व्रतके लिए दोषास्पद है। ११४।

प्रश्न —स्तेयातिचारचिह्नं किं विद्यते मे गुरो वद ।
हे गुरुदेव ! चोरी व्यसन त्यागव्रतके अतिचारोका प्रतिपादन कीजिए—

(अनुष्टुप्)

धनधान्यादिकमग्राह्यं परस्यान्यायतश्छलात् ।
यतो व्रत भवेत् पूर्णं लोकद्वयसुखावहम् ॥११५॥

धनेत्यादि :—अन्यायमार्गत विश्वासघातात् छलव्यवहारात् परेषा धनधान्यादिवस्तूना यद् ग्रहण तत्सर्व चौर्यव्यसनत्यागव्रते दोषास्पदमेव । इत्येवमेतानतिचारान् परित्यज्य विश्वास समुत्पाद्य नैतिकाचाराविरोधेन सहज-सद्व्यवहारेण धनोपार्जन कर्त्तव्य नान्यथा एव करणे तु उभयलोके सुखावाप्ति स्यात् व्रत च पूर्णं भवेत् ॥११५॥

चोरीका त्याग करनेवाला व्यक्ति कदाचित् चोरी न करते हुए भी परके धन, धान्य, पशु आदिके पदार्थोंको अथवा राजकीय, व्यापारिक, सामाजिक, धार्मिक तथा कौटुम्बिक अधिकारोको अन्य मार्गसे, विश्वासघात करके और कपट करके छीन लेवे तो यह सब चौर्यत्यागव्रतके ही दोष हैं ॥११५॥

प्रश्न —आखेटकातिचाराणां किं चिह्नं विद्यते गुरो ।
हे गुरुदेव ! आखेटक व्यसनके कौनसे अतिचार है, कहिए—

(अनुष्टुप्)

मह्यां लिखितचित्राणां भित्तिकाष्ठपटादिषु ।
छेदन भेदनञ्चूर्णं न कार्यं धर्मवेदिभिः ॥११६॥

मह्यामित्यादि —पृथिव्यामुल्लिखिते तथा भित्त्यादौ काष्ठनिर्मिते पटादिके वस्त्रादौ कर्गले वा चित्रिते चित्रादौ मनुजोऽय इति सकल्प जायते । उक्तप्रकारेण सङ्कल्पिते जीवे छेदनादिकमगभगादिककरण कर्त्तन वा आखेटककर्त्तुर्निर्दयपरिणामहेतुत्वात् त्याज्य धर्मज्ञै । यथा मनसा जीवच्छेदन मारण वा दोष तथैव वचसाऽपि तव मस्तक छेत्स्यामि जिह्वाछेदन करिष्यामि इत्यादिक मर्मभेदिवचनमपि आखेटकव्रतेऽतिचार स्यात् । कायेन हिंसाया अभिनय करवालेन मस्तकच्छेदनाभिनयो वा 'आखेटकत्यागव्रतस्यातिचार एव' ततो धर्मवेदिभि तन्न कार्यम् ॥११६॥

पृथिवीपर, भित्तिपर, काष्टपट पर, कागज या वस्त्रादिक पर उल्लिखित चित्र अथवा मिट्टी, काठ, धातु व काच आदि के बने हुए मनुष्य, हाथी, घोडा आदि प्राणियो की मूर्तियो मे जीवका सकल्प करके उनको मारना, मस्तक छेदना, अग भग करना आदि दुष्कर्म आखेटत्यागव्रतके अतिचार हैं । जैसे लोक मे रामलीला आदि के अवसर पर रावणादि की मूर्तियाँ बनाकर उनका मस्तक छेदते हैं और जो भी विद्वेष पूर्ण भाव होते हैं वह सब इस व्रत के लिए दोषाधायक हैं । यद्यपि रावण का दुष्कृत्य निन्द्य है तथापि किसी आश्रयसे अपने परिणामोमे क्रूरता लाना भी बध का ही हेतु है ।

मनके द्वारा मारण, छेदन, अगभगका विचार जैसे दोषास्पद है, क्योकि ऐसा सकल्प परिणामोमे निर्दयपना उत्पन्न करता है । इसी प्रकार वचनके द्वारा दुष्ट बातोका कहना—तेरा मस्तक छेदूँगा इत्यादि हिंसा पूरक निर्दयताके वचन और कायके द्वारा हिंसाका अभिनय जैसे किसीके मस्तकके छेदनका अभिनय, शिकारीका वेष रखना, तथा शिकारका स्वाग करना, इत्यादि कायसे क्रूरकर्म करना सब आखेटत्यागव्रतके लिए अतिचार हैं । इन सबसे परिणाम मलिन होते हैं तथा इस व्यसनके लिए प्रोत्साहन मिलता है ॥११६॥

प्रश्न —परस्त्रीसेवनस्यास्ति किं चिह्नं मे गुरो वद ।

हे गुरुदेव ! परस्त्रीव्यसनत्यागव्रतके अतिचार कौन कौन हैं, कृपया कहिए—

(अनुष्टुप्)

कन्यकादूषणं वापि कन्यकाहरण हठात् ।
नान्यस्त्रीचिन्तन कार्यं कदापि भवभीरुभिः ॥११७॥

कन्यकेत्यादि —अन्यत्र निश्चितसम्बन्धाया स्वविवाहार्थमुद्‌बोधन तस्या मिथ्यादूषणारोपण हठात् कन्याया गाधर्वविवाहार्थ हरण परस्त्रीणा नखशिखशृंगाराणाश्चिन्तन इत्येतत्सर्व परस्त्रीत्यागव्रतिनो दूषणमेव । परस्त्रीव्यसनपरित्यागेऽपि तद्विषय कथाप्रसङ्ग व्यभिचारिणीभि वार्तालाप हास्यादिक भण्डवचनानां प्रयोगकरण तद्व्रतातिचारा एव । स्त्रीणा चित्रसग्रहो नग्नचित्राणा दुर्भावनयाऽवलोकन स्वस्त्रियामपि अत्यासक्ति कामातुरता अनङ्गसेवन इत्यादीनि तद्विषयरागवर्द्धकानि सर्वाण्यपि कार्याणि अतिचारेष्वेव गर्भितानि सन्ति । तस्मात् भवभीरुभि तत्परिहार कर्त्तव्य येन व्रत निर्मल स्यात् ॥११७॥

इति श्री कुन्थुसागराचार्य विरचिते श्रावकधर्मप्रदीपे पण्डितजगन्मोहनलालसिद्धान्तशास्त्रिकृताया प्रभाख्याया व्याख्याया च तृतीयोऽध्याय समाप्त ।

जिस कन्याका किसी दूसरे पुरुषके साथ सम्बन्ध निश्चित हो चुका है उसे अपने विवाहके लिए समझाना, उस पुरुषको उससे विरक्त करनेके लिये कन्याको मिथ्या दूषण लगाना, कन्याको अपने साथ विवाहित करनेके लिए हठात् हरण कर ले जाना, परस्त्रियोके नख-शिख शृगार आदिका विचार करना, उनकी सुन्दरताका विचार करना ये सब परस्त्रीव्यसनत्यागीके लिए अतिचार हैं। व्रतको ये दूषित करनेवाले हैं।

परस्त्रीका त्याग होने पर भी जो परस्त्रियोकी चर्चा करते हैं, उनके हावभाव, विलास, क्रीडा, गमन, हास्य और वेष-भूषा आदि विषयो पर वार्तालाप करते हैं, व्यभिचारिणी स्त्रियोंसे हँसते बोलते हैं, व्यङ्ग्य वचन कहते हैं, गाली आदि भण्डवचन बोलते हैं, स्त्रियोके चित्रोका सग्रह करते हैं, नग्नचित्रोका दुर्भावनासे अवलोकन करते हैं वे अपने पवित्र व्रतको मलिन करते हैं, अत उक्त सभी ही दोष त्याज्य हैं।

स्वस्त्रीमे भी अति आसक्तता, कामसे अतिआतुर होना, विभिन्न अङ्गोसे क्रीडा करना आदि सम्पूर्ण कुचेष्टाएँ रागभाववर्द्धक होनेसे स्वदारसन्तोषी व्यक्तिके भी असन्तोषको उत्पन्न कर उसके व्रत को मलिन कर देती हैं, अत इन कुचेष्टाओको व्रतका अतिचार मानकर दूरसे ही त्याग देना चाहिए ॥११७॥

उपसंहार

इस प्रकार द्वितीय और तृतीय अध्यायमें दार्शनिक श्रावक (प्रथम प्रतिमा) का स्वरूप निरूपण किया है। प्रथम प्रतिमाधारी नैष्ठिक श्रावकोमे जघन्य नैष्ठिक है। यद्यपि छह प्रतिमाएँ जघन्य नैष्ठिककी हैं तथापि यह जघन्य नैष्ठिकका प्रारभिक प्रथम स्थान है। श्रावककी मुख्य श्रेणी यहाँसे प्रारम्भ होती है।

दार्शनिक श्रावक विशुद्ध सम्यग्दृष्टी होता है। सम्यक्त्व सबधी अतिचारो तथा अन्य दोषोसे वह दूर रहता है। वह चारित्र भवनकी प्रथम सोपान पर स्थित है। उसकी प्रवृत्ति सम्यक् मार्गकी ओर है। मिथ्यामार्ग और अन्ध-विश्वासोके लिए वहाँ स्थान नही है। वह केवल जिनोपदिष्ट तत्त्वका दृढतम श्रद्धानी है। उसे यह भलीभाँति ज्ञात है कि जो यथार्थ है, सत्य है वही जिनेन्द्रने कहा है। जिनेन्द्र अन्यथावादी नही हैं, क्योकि वे निस्पृह, नि स्वार्थ (सासारिक स्वार्थरहित), पूर्ण सम्यग्ज्ञानी, वीतराग और सर्वहितैषी हैं। वह पद पद मे उनके वचनोकी सत्यता पाता है। जगत्की अस्थिरता, अशरणता, ससरण-शीलता, जीवकी स्थिति, उसका उपयोगात्मक स्वभाव, उसका गुणीस्वरूप, उसका अमूर्त्तत्व, उसका पुद्गलसे वैशिष्ट्य अर्थात् पृथक्त्व, अपना एकाकीपन, शरीरकी कृतघ्नता, उसकी अशुचिताका नग्न सत्य, कर्मके आस्रव, बध तथा उदयकी स्थिति, जीवके उपशम भाव, धर्मकी दुर्लभता आदि सत्य तत्त्वोका उसे अपने जीवनके प्रत्येक कार्यमे अनुभव मिलता है। प्रति समय वह इनका विचार करता है और उसे इनका आभास मिलता है।

अपने इस सत्यपूर्ण विश्वासके कारण वह ससारके मायामय, दुखमय. अनात्मरूप, अशुभरूप, नाशवान् स्वरूपसे विरक्त रहता है तथा अपने सुखमय, शुभरूप, नित्य, अनन्त गुणोके पिण्ड आत्मरूप मे अनुरक्त रहता है। अपने इस रूपको प्राप्त करनेके लिए वह लालायित है, कृत-सकल्प है। अत उसकी प्रवृत्तियाँ सदा ससारकी स्त्रियोसे, शारीरिक मोहसे और विषय-भोगोसे कटी कटी-सी रहती हैं। जैसे बहुत समयके दो मित्रोमे परस्पर अविश्वास उत्पन्न हो जाय तो वे एक दूसरेके साथ रहते हुए भी, काम करते, आते-जाते, उठते-बैठते, वार्तालाप करते हुए भी आपसमे कटे-कटेसे रहते हैं और सदा सावधान रहते हैं कि कही साथी धोखेसे किसी विपत्तिमे न फँसा दे। वे साथीका साथ छोड नही पा रहे तो भी उस समयकी प्रतीक्षामे हैं जब वे उसे छोड सकें। इसी प्रकार दार्शनिक श्रावक ससारके सत्यार्थ स्वरूपसे पूर्ण अवगत होनेके कारण तथा शरीर और विषय-भोगोकी नि सारताको समझ लेनेके कारण उनसे विरक्त रहता है और ससारमे रहते हुए, उसके सब काम करते हुए भी—अर्थात् व्यापार, व्यवहार, पत्नी, व बाल-बच्चोका परिपालन, इन्द्रियोका भोग, उद्योग-धधे, कुटुम्बी और सम्बन्धियोसे स्नेह व्यवहार आदि व्यवहार धर्म पालन करते हुए भी वह इनसे यथार्थतया विरक्त है, और उस समयकी घातमे है जब वह अपनेको उनसे छुडा सके, तथा आत्महितकारक मोहरहित, वैररहित, कपटरहित, कषायरहित, भोगरहित, सर्वहितकारक और सुखदायक सन्मार्गको पूर्णरीतिसे अपना सके।

वह सदा पञ्चपरमेष्ठी (अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा दिगम्बर साधु) भगवान् पर दृढ आस्था रखता है, उन्हे ही इस ससार अटवीसे उद्धारके लिए शरणभूत मानता है। अथवा ससार एक महान् अपार और अपरिमित गहरा समुद्र है। अनेक रोग-शोक सतापादि नक्रचक्रसे यह भरा हुआ है। इसमे कोई जीव सछिद्र नावमे बैठकर चला और मध्यसमुद्र तक आकर नाव डूब गई। अब वह अकेला ही उसमे तैर रहा है। चारो तरफ जल ही जल है। कही तीर नजर नही आता। आठो दिशाएँ निराशापूर्ण हैं। जल भी अतल है अर्थात् नीचे भी गहराई अपार है, असख्य खतरोसे यह समुद्र भरा हुआ है। ऊर्ध्व दिशामे देखा तो केवल शून्य आकाश है। भुजाओमे वह सामर्थ्य नही कि समुद्रको तैरकर तीरकी खोज कर सके। उसकी उत्ताल तरगें क्षण-क्षणमे उसे आत्मसात् करनेको भुजाएँ फैलाए हैं। उनकी चपेटकी ठोकरसे उसका जीवन क्षणक्षणमे निराश होता है। ऐसे समय यदि आकाश मार्गसे कोई विमान आकर उसे हस्तावलवन देकर उठा ले और विमानमे बैठा ले तो वह क्षण भरमे

निराशाके गर्त्तसे उठ सकता है और अपनेको अभयरूप अनुभव कर सकता है। दार्शनिक श्रावक यह अनुभव करता है कि मेरे लिए इस ससाररूपी महान् समुद्रसे उद्धार करनेवाले वे आकाशचारी समुद्रके तलसे दूर रहनेवाले महान् उपकारक पञ्चपरमेष्ठी भगवान् ही हैं, वे ही एकमात्र शरण हैं, अन्य शरण नही। उनका आश्रय लेनेसे मैं अनायास ही इस दु खमय बन्धनसे शीघ्र मुक्त हो सकता हू।

जैसे नाना विपत्तियोसे घिरे हुए मनुष्यके जो अपनी दरिद्रता, रोग, वेकारीके तथा छोटे-छोटे बच्चोकी रक्षाके भारके कारण परेशान है और मित्र, कुटुम्बी, साथी, समाज आदि सबके द्वारा परित्यक्त है, पास कोई भी नही आता, मौखिक सान्त्वना तक भी नही देता, बल्कि लोग तानाकसी करते है, व्यग्य कसते हैं, चिढाते है, नाना नई विपत्तियाँ लाकर खडी कर देते हैं। ऐसे समय यदि कोई सहानुभूति-पूर्ण वाक्य कहकर उसे उसकी गलती सुझावे तो वह उसे अमृतोपम मानकर नवजीवन-सा पाता है, और किसी भी हालत मे उसकी बात टालनेको तैयार नही है। उसे विश्वास है कि मेरे उद्धारका मार्ग यही व्यक्ति बतावेगा। डूबते हुएको तृणका सहारा भी बहुत हो जाता है। वह जानता है कि तृण बहता आ रहा है तो यहाँ पासमे घास-फूसवाली जमीन भी होगी। इसी तरह वह विपद्ग्रस्त पुरुष भी यह आशा करता है कि जिसने मुझपर दया-दृष्टि कर सहानुभूतिके दो शब्द कहे हैं और मेरी भूल बताई है, वह उस भूलका प्रतीकार भी बता सकता है। ऐसा विश्वास कर वह उसकी शरण पकड लेता है। ऐसे ही नाना व्यसनोमे भरे हुए अनन्यशरण इस ससारमे अपने स्वरूपका भान न होनेसे जो उस विपद्ग्रस्त पुरुषकी तरह अपनेको एकाकी और असहाय अनुभव करने लगा है वह अपनी भूल बतानेवाले दयामय पञ्चपरमेष्ठी भगवान्को ही एकमात्र अपना त्राता मानता है। वह जानता है, जो अन्य सब ससारके मोही व्यक्ति उसे अपने साथ ले डूबेंगे, ये ही वीतराग उद्धारक है जो मोहके फदेसे छूट चुके हैं।

दार्शनिक प्रत्येक क्षणमे सत्यमार्ग पर ही चलता है। वह सत्यान्वेषी है। वह प्रत्येकपदार्थमे उसके रहस्यका खोजी है। वह उसके ऊपरी मनोमोहक रूपसे प्रभावित नही होता, किन्तु उसके आन्तरिक रहस्यको जाननेमे सदा प्रयत्नशील रहता है। यदि कोई उसे दुर्वचन कहे, या उसकी हानि करे, तो वह बदलेमे दुर्वचन नही कहता और न विपक्षीको हानि पहुँचानेका प्रयत्न करता है। वह यह सोचेगा कि इसकी उत्तेजनाका कारण क्या है ? दुर्वचन किसीका स्वभाव तो होता नही है, फिर उसने मेरे प्रति ऐसा व्यवहार क्यो किया ? मेरी अवश्य कोई भूल है, या मैंने अवश्य इसे कोई हानि पहुँचाई है। अथवा यह मुझे ही दुर्वचन क्यो कहता है या मुझे ही हानि क्यो पहुँचाता है ? अन्यको क्यो न कहता और उनको हानि क्यो नही पहुँचाता ? ऐसा विचार करने पर उसे अवश्य उसका रहस्य मिल जाता है। उसके मूल कारणको जानकर वह उसे ही नष्ट करता है, ताकि भविष्यमे दोनो अनिष्ट उसके सामने न आवें। मिथ्यादृष्टी मनुष्य ठीक इससे विपरीत दुर्वचनीको दूने दुर्वचन सुनाता है और उसकी दूनी हानि करनेको प्रस्तुत रहता है। वह तत्काल बदलेकी भावना क्रोधवश पैदा कर लेता है। कषायावेशमे वह सत्यकी खोज नही कर सकता।

इसी प्रकार प्रत्येक कार्यमे दार्शनिक सत्यकी खोज करता है, उसके रहस्यको खोलता है और उसके मूलको सम्हालनेका प्रयत्न करता है। वह कषायावेशमे आकर अपनेको सत्यान्वेषणके सम्पर्कसे दूर नही फेंक देता।

सत्यान्वेषण करना सत्यमार्ग पर चलना यही सम्यक्त्व है। यह मिथ्यात्वका प्रतिपक्षी है। विशुद्ध सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्यभक्षण इन तीन बातोसे सदा परहेज रखता है। वह सप्त व्यसनो का त्यागी पञ्च पापोसे अपनी योग्यतानुसार विरक्त, अष्ट मूल गुणोका पालक तथा मिथ्या आयतनो और मूढताओसे विमुक्त होनेके कारण न्यायमार्गसे विरुद्ध मार्गका कभी अवलम्बन नही कर सकता। वह सदा मर्यादामे रहता है। मर्यादाका उल्लघन ही अन्याय है। सम्यक्त्वी अन्याय पर न चलता है और न अन्याय व्यवहार कभी सहता है। अन्याय अनेक प्रकारसे होता है। जैसे किसीके अधिकार छीनना, किसीके प्राप्त अधिकारको स्वीकार न करना, व्यापारमे लोक और राज्यके विरुद्ध मुनाफा उठाना, प्रमाण से अधिक भोजन करना, दूसरोके हकोको मारना, जरूरतसे ज्यादा भोगोपभोग करना, अत्यधिक विलासिता, शृगार रचना करना, धर्मके समय भोग भोगना, किसीको दुर्वचन कहना, अति सग्रह करना, अति लोभ करना, अति क्रोध करना, विश्वासघात करना, अहकार करना, धर्मात्मा और सज्जनका यथायोग्य सम्मान न करना लोक विरुद्ध नीति विरुद्ध और धर्म विरुद्ध वचन बोलना ये सब न्यायमार्ग के विपरीत अन्यायपूर्ण कार्य हैं। इनसे दार्शनिक (प्रथम प्रतिमाधारी) बचता है।

जिन अभक्ष्योका ऊपर विवेचन किया गया है उन सबका तथा इनके सिवाय और जो अभक्ष्य हो सकते हैं उन्हे वह कभी नही खाता। चोरीका द्रव्य अर्थात् चोरीसे लाया गया द्रव्य, देवद्रव्य, धर्मादाका द्रव्य, हिंसा करके उत्पादन किया गया द्रव्य, व्यभिचारसे पैदा किया हुआ वेश्यादिका धन, दूसरेको सताकर लाया गया धन, भाई आदि कुटुम्बियोके हकका धन तथा किसी पर जोर जुल्म करके छीनकर लाया गया धन इत्यादि धनका उपभोग करना दार्शनिक अभक्ष्य सेवन तुल्य मानता है।

उक्त प्रकार कहे गये दार्शनिकके स्वरूपको जो भाग्यवान् विचार पूर्वक अपने जीवनमे अपनाता है वह धन्य है। वही मोक्षमार्गका सच्चा अधिकारी है। यह दार्शनिक अपनेको सदा इससे भी उच्चतम बनाने के प्रयत्नमे रहता है। दूसरी तीसरी आदि प्रतिमाओ पर आरूढ होनेकी उसकी सदा इच्छा रहती है। ऐसा उन्नतिशील धर्मात्मा दार्शनिक है। ११७।

इस प्रकार आचार्य श्री कुन्थुसागर विरचित श्रावकधर्मप्रदीप व पण्डित जगन्मोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत प्रभानामक व्याख्यामे तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।

■

चतुर्थोऽध्यायः

प्रश्न —प्रातरुत्थाय किं कार्यं वद मे शान्तये गुरो ।

हे गुरुदेव ! दार्शनिक श्रावकके आचारका वर्णन किया किन्तु उसके योग्य दिनचर्या कैसी होनी चाहिए, कृपाकर शान्तिकी प्राप्तिके लिए कहिए—

(अनुष्टुप्)

नमोऽस्तु वीतरागाय भक्त्यैवमुच्चरन् वच ।
उत्तिष्ठतु सदा प्रातर्देहः स्यादशुचिर्यदि ।। १८० ।।
मौनेनैवोच्चरन्मन्त्र ध्यायतु स्वात्मनः पदम् ।
आधिर्व्याधिर्यतो भीतिः स्वय नश्येत् समूलतः ।। ११९ ।। युग्मम्

नम इत्यादि—प्रात प्रथम तावत् निद्राया परिसमाप्तौ भक्त्या "श्री वीतरागाय नम श्रीजिनाय नम णमो अरिहन्ताण" एव नमस्कारात्मक परमाराध्यपरमपूज्यपरमेष्ठिपरमात्मन स्मरणात्मक वच वाक्यमुच्चरन्नेव सदोत्तिष्ठेत् । यदि कदाचित् सभोगादिकारणेन रोगादिना वा देहोऽशुचिर्भवेत् तर्हि मौनेनैव मन्त्रोच्चारण कार्यम् । देहस्याशुचित्वभावना च भावयित्वा स्वात्मन शुद्धस्वरूप ध्यायतु । यत एव कृते सति तस्य आधि' व्याधि भीतिश्च मूलत स्वय नश्येत् ।११८।११९।

सर्वप्रथम जब प्रात काल निद्रा पूर्ण हो जाय तब "श्रीवीतरागाय नम या श्रीजिनाय नम" अथवा 'णमो अरिहन्ताण" इत्यादि नमस्कारात्मक वाक्य जो कि परम आराध्य मगलदायक और सर्वअनिष्ट निवारक परमात्माके मगलमयस्मरण स्वरूप हैं उनका उच्चारण करते हुए ही शय्याका परित्याग करे ।

यदि कभी ऐसा प्रसग आवे जो उठते ही यह अनुभवमे आवे कि मेरी देह तो अशुद्ध है । रोगादिके कारण मैं पवित्रतासे नही रह पाता हूँ या स्त्रीसभोगादि गार्हस्थिक कार्योके कारण वह अशुद्ध है अथवा छोटे छोटे बालबच्चोके मलमूत्रादिके सपर्कसे देह वस्त्रादि अशुद्ध हैं तो शब्दो द्वारा मत्रपाठका उच्चारण न करे, क्योकि अशुद्धावस्थामे मत्रपाठ करना, स्वाध्याय करना, सामायिक करना,, देव वन्दना करना और दान देना आदि पुण्य कार्य करना निषिद्ध है । पवित्रताके साथ ही उक्त कार्योको निष्पन्न करना चाहिए । अतएव ऐसी स्थितिमे मौनपूर्वक ही पञ्चनमस्कार मत्रका स्मरण करे । स्मरण करनेका त्रिकालमे भी निषेध नही है । अशुद्ध मनुष्य भी परमात्माके स्मरणसे पवित्र हृदय बन जाता है । इसलिए परमपूज्य पञ्च परमेष्ठीका स्मरण करके शरीरादिकी अपवित्रता और उस निमित्तसे अपनी आत्माकी पराधीनताको विचार कर अन्यत्वभावना द्वारा आत्माको शरीरादिसे पृथक् चिन्तवन कर शुद्ध स्वरूपका ध्यान करे । ऐसा करनेवाले महापुरुषकी आधि, व्याधि, विघ्न, अनिष्ट और भय सब जड सहित नाशको प्राप्त हो जाते हैं ।११८।११९।

(अनुष्टुप्)

ततः प्रातर्विधिं कृत्वा पूजां दानं तथैव च।
स्वर्मोक्षदं मुदा स्तोत्रं स्वाध्याय स्वात्मदर्शकम् ॥१२०॥
पश्चाद्धि भोजनं कुर्यात् तथान्यां शान्तिदां कृतिम्।
यतः स्यात्सफल जन्म भवबन्धनभेदनम् ॥१२१॥ युग्मम् ॥

तत इत्यादि :—तदनन्तर प्रातर्विधि दन्तधावन तैलमर्दन स्नान च कृत्वा सामायिक कुर्यात्। तत स्वगृहाज्जलगन्धाक्षतादिद्रव्यमादाय ईर्यापथसशुद्धया जिनालय गच्छेत्। तत्र श्रीजिनालयस्य शिखर दृष्ट्वा प्रहृष्ट-मना स्वजीवनस्य साफल्य विचार्य नि सही इति त्रिवारमुच्चरन् जिनालये प्रविशेत्। मार्गस्पर्शात् समल पादादिक जलादिना पवित्रीकृत्य श्री परमपुरुपस्य स्वर्मोक्षद स्तोत्र मुदा पठन् दर्शन कुर्यात्। तत अष्टविधार्चनया जिन सपूज्य शान्तिमाधाय इष्ट प्रार्थ्य स्वजन्मनस्साफल्यम्मन्यमानस्तत्र स्वात्मदर्शक स्वाध्याय कुर्यात्। यदि तत्र भाग्योदयात् परमगुरो उपदेशलाभस्य सयोग स्यात् तदावश्यमेव तद्वचनानि समाकर्ण्य प्रमादादिना कृतान् स्वदोषान् तत्र निवेद्य प्रायश्चित्तस्वरूप तत्प्रदत्त प्रायश्चित्त च स्वीकृत्य प्रणाम कुर्यात्। तत्र स्वधार्मिकानवलोक्य प्रफुल्लितवदन तै सह प्रेमालापेन किञ्चित्काल यापयित्वा अर्थिभ्यो यथायोग्य साहाय्य प्रदाय गृहमागच्छेत्। ततो नानाविधैरुपायै हिंसादिमहापापविरहितैराजीविका सपाद्य द्वारप्रेक्षण कुर्यात्। उत्तमपात्रलाभे सति भक्त्या विनयपूर्वकमाहारदान दद्यात्। तदलाभे मध्यमपात्राय जघन्यपात्राय वा तदलाभे दरिद्राय हीनपुण्याय दयापात्राय आहारादिद्रव्य प्रदाय स्वगृहेऽपि स्वाश्रितान् भोजयित्वा मौनेन भुञ्जीत। दिवसमध्ये यथायोग्य व्यापारादिक विधाय सन्ध्यात पूर्वमेव भोजनादिकञ्च विधाय सन्ध्याया सामायिक कुर्यात्। धार्मिकै सह धर्मवार्ता जिनदर्शनपूर्वक यथायोग्याना शास्त्राणाञ्च वाचन कुर्यात्। एतत्सर्वं विधाय यथासमय पञ्चपरमेष्ठिना स्मरणपूर्वक शयीत। इत्येव-प्रकारेण साधारणी दिनचर्या प्ररूपिता। विशेषरूपेण तु यथा धर्मपरिपालन स्यात् तथा अन्यान्यपि शान्तिदाय-कानि स्वपरोन्नतिशीलानि कार्याणि कुर्यात् यत. भवबन्धन शिथिल सजायेत तथा मानवजन्मनोऽपि साफल्य स्यात्। १२०। १२१।

तदनन्तर शौच क्रियाके पश्चात् दन्तधावन, तैलमर्दन तथा स्नान आदि नित्यक्रिया करके पवित्र वस्त्रोको धारण कर अपने गृहसे जल, अक्षत आदि अष्ट द्रव्य लेकर ईर्यापथशुद्धिसे गमन कर जिनालय जावे। दूरसे ही जिनालयकी शिखर तथा कलश और ध्वजको देखकर विचार करे कि मेरा जीवन सफल है, जो मैं परम वीतराग परमात्माके पवित्र मन्दिरका दर्शन कर रहा हू। जिनालय जाते समय मार्गमे कोई दूसरा कार्य नही करने लगना चाहिये। नि सही शब्दको उच्चारण करते हुए श्री जिनालयमे प्रवेश करे।

मार्गमे चलनेसे मलीनताको प्राप्त अपने पैर आदिको पवित्र कर परमपुरुषका दिव्य दर्शन करे। श्री भगवान्‌का यह दर्शन नाना योनियोमे परिभ्रमण करते करते बडे कष्टसे प्राप्त हुए इस मानव जन्ममे बहुत ही सुयोगसे प्राप्त हुआ है। ऐसा विचार करते हुए भक्तिभावपूर्वक अष्ट द्रव्यसे श्रीजिनका अभिषेक पूर्वक पूजन करे। पूजनके अनन्तर शान्तिकी अभिलाषासे शान्तिपाठ पढे, इष्ट प्रार्थना करे, विश्वकी शान्तिके लिए तथा देश, राष्ट्र और समाजकी शान्तिके लिए प्रार्थना करे। तदनन्तर जिन-वाणीका स्वाध्याय करे। यदि भाग्योदयसे परम दिगम्बर गुरुका सयोग मिल जाय तो उन्हे भक्ति पूर्वक प्रणाम कर उनके श्रीमुखसे अपना कल्याणकारक उपदेश श्रवण करे। अपने प्रमादसे या कषायसे या इन्द्रिय

परवशतासे कोई अपराध बन गया हो तो श्री गुरुके समीप आलोचना करे तथा उनकी आज्ञानुसार प्रायश्चित्त स्वरूप दण्डको अङ्गीकार करके अपने जीवनको पवित्र बनावे।

जिन मन्दिरमे अपने अनेक साधर्मी भाई आते हैं, उनको देखकर प्रसन्न वदन होकर उनके साथ धम कुशल पूछते हुए अपना कुछ समय धर्मालापमे व्यतीत करे और यह देखे कि इनमे कौन भाई ऐसा है जो किसी प्रकारके कष्टमे है। उनकी यथायोग्य सहायताकर अपने गृह लौटे। गृहमे नाना प्रकारके सदुपायो से अपनी आजीविका सम्पादन करे। उसके बाद यथासमय द्वारप्रेक्षण करे। सौभाग्यसे यदि कोई उत्तम सत्पात्रका लाभ मिल जाय तो श्रद्धा और भक्तिपूर्वक उन्हे विधिपूर्वक आहार आदि दान देवे। यदि उत्तम पात्रका लाभ न हो तो मध्यम पात्र श्रावकोको या जघन्य पात्र जैनमात्रको दान देवे। उनका भी लाभ न हो तो दयाबुद्धिसे दयापात्र जो त्रस्त है उनका आवश्यकतानुकूल आहारिक दान देवे। तदनन्तर अपने घरमे अपने आश्रित जनोको तथा पशुओको आहारादिकी व्यवस्थाकर मौनपूर्वक भोजन करे।

भोजनके अनन्तर दिवस सम्बन्धी अन्य आजीविका आदि कार्योको यथायोग्य सम्पादन कर सन्ध्या से पूर्व ही भोजनादिसे निवृत्त हो सन्ध्याकालकी सामायिक करे। तदनन्तर श्री जिनेन्द्रका दर्शन तथा स्तवन आदि कर साधर्मी भाइयोके साथ बैठकर शास्त्रश्रवण करे तथा धर्मवार्ता करे। रात्रिमे यथा-समय प्रमाद आने पर पञ्च परमेष्ठीका स्मरण करके निद्राको अङ्गीकार करे। यह श्रावककी सामान्य दिनचर्या है। विशेषरूपसे अपनी प्रतिमाके व्रतोके अनुरूप कार्योको करे तथा शान्तिदायक स्वपरोन्नति-कारक अन्य अन्य भी कार्य करना श्रावकका कर्त्तव्य है। इस प्रकार सुयोग्य रीतिसे धर्मपालन करते हुए जो श्रावक अपना समय व्यतीत करता है उसका ससार परिभ्रमण छूट जाता है और मानवजन्म सफल होता है॥ १२०। १२१।

प्रश्न —**गर्भाधानक्रियादीना किं रूपं कति ताः वद।**

हे गुरु! गर्भाधानादि क्रियाएँ कितनी हैं और उनका क्या स्वरूप है, कृपाकर कहे—

(अनुष्टुप्)

गर्भाधानक्रियादीनां संस्काराणां यथायथम्।
काले काले विधिः कार्यः श्रावकैर्धार्मिकैर्मुदा॥ १२२॥
येनाशुभक्रियायाः स्यान्निवृत्तिः सुखदे शुभे।
प्रवृत्तिः प्राणिनां श्रीदा सदा भूमण्डलेऽखिले॥ १२३॥

गर्भाधानेत्यादि"—गर्भाधानादय षोडशसस्कारा भवन्ति श्रावकाणाम्। यथा घृतसस्कारात् मृन्निर्मितोऽपि घट चिक्कणो भवति तथा उत्तमसस्कारात् बालका अपि धर्मात्मान साहसिकाश्च भवन्ति। तदभावात् कुसस्कारात् त एव पापिन कातराश्च सजायन्ते। तस्मात् कारणात् समये समये गर्भाधानक्रियादीना सस्काराणा विधि धार्मिकै श्रावकै यथायथ सदा कार्या। धार्मिकक्रियाप्रभावात् प्राणिना अखिले भूमडले सदा शुभ कार्ये श्रीदा प्रवृत्ति सञ्जायते तथा अशुभक्रियातो निवृत्ति। शुभप्रवृत्तिस्तु परम्परया लोकप्राप्तेरपि कारण भवति। तस्मात् सर्वप्रयत्नत बालकाना सस्कार अवश्यमेव करणीय। १२२। १२३।

गर्भाधान आदि सोलह सस्कार हैं जो श्रावकोको अवश्य करने चाहिये। जैसे घी के संस्कार से मिट्टीका घडा भी सचिक्कण हो जाता है ऐसे ही उत्तम सस्कारो से बालक भी धर्मात्मा और साहसी बन जाते है। यदि बालको को उत्तम सस्कार न हो तो बुरे सस्कारो के प्रभाव से वे ही बालक पापी और कायर बनते है। कुसस्कारो के दुष्प्रभाव के अनेक उदाहरण प्रत्यक्ष मे देखे जाते हैं। सुसस्कृत व्यक्ति यदि गुणी न भी हो तो वह दुर्गुणी नही बन सकता, इतना लाभ भी थोडा नही है।

जब बालक गर्भ मे आता है उसी समय से माता के विचारो का प्रभाव उसपर पडता है, ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है। अभिमन्यु जब माताके गर्भमे था तब चक्रव्यूहमे प्रवेश करनेकी तथा उसे तोडनेकी कथा अर्जुन द्रौपदीसे कह रहे थे। वह कथा द्रौपदीके श्रवणके साथ साथ बालक पर भी असर कर रही थी। जब बालक जन्मा और १६ सालका हुआ तो कौरव पाण्डवोके युद्धमे अर्जुनकी अनुपस्थिति मे अभिमन्युने चक्रव्यूहमे प्रवेश किया। जब कि उसने इस विषयकी शिक्षा कही पाई नही थी, केवल गर्भस्थ अवस्थामे ही माताने सुनी थी, उतनेसे ही इसे ज्ञात था। यह कथा पुराणोमे है। माताके गरम शीत आहारका बालकके शरीर पर असर पडता है यह सब लोग जानते है। इसीसे गर्भवती स्त्री को बालककी रक्षाके अभिप्रायसे बहुत सम्हाल कर रखते हैं। इससे यह सहज सिद्ध है कि गर्भसे लेकर ही यदि बालकको सुसस्कृत किया जाय तो उसकी प्रवृत्ति धार्मिक होगी और वह पाप क्रियाओ से निवृत्त होगा। शुभप्रवृत्ति मोक्षका भी परम्परा कारण बन जाती है। यह बात जगत्मे प्रसिद्ध है। इसलिए प्रयत्न पूर्वक बालकोके सस्कार अवश्य करने चाहिये। १२२। १२३।

प्रश्न.—कस्मै देयं गुरो! दानं तत्फलं वा मुदा वद।

हे गुरुदेव! गृहस्थका धर्म—दान, पूजा, शील और तपके भेदसे सामान्यत चार प्रकारका बताया गया है। उसमे यह जानना है कि दान किसे देना चाहिए और उसका क्या फल है। कृपाकर कहे—

(अनुष्टुप्)

यथायोग्यं क्षमाकर्त्रे नवधाभक्तिपूर्वकम्॥
अन्येभ्यश्च सुपात्रेभ्यो दान देयं चतुर्विधम्॥ १२४॥
तद्दानाच्चक्रवर्त्यादिः सुख लब्ध्वा यथाक्रमम्॥
दातारः शान्तिदं नित्यं प्रयान्ति मोक्षपत्तनम्॥ १२५॥ युग्मम्॥

क्षमाया मूर्ति परमदिगम्बर निस्पृह शान्त पाणिपात्र निष्परिग्रह निर्लोभ वाछाविरहित वनवासक परमब्रह्मचारी सर्वहितवाछक सम्यग्दृष्टि इत्युच्यते। एतल्लक्षणं खलु साधु परिज्ञाय तस्मै क्षमाकर्त्रे उत्तमपात्राय नवधाभक्तिपूर्वक चतुर्विध दान देयम्। तदलाभे तु अन्येभ्य सुपात्रेभ्य मध्यमपात्राय धर्मात्मने सम्यक्त्ववते दान देयं। तस्य फल किमिति प्रश्ने सति उत्तरयति—यत् सुपात्राय ये दान प्रयच्छन्ति ते भोगभूमौ उत्तमसुखमवाप्नुवन्ति। उत्तमपात्रदानस्य फल उत्तमभोगभूमि। मध्यमपात्रदानस्य फल मध्यमभोगभूमि। जघन्यपात्रदानस्य तु फलं जघन्या भोगभूमि। तदनन्तरं निश्चिता स्वर्गप्राप्ति। स्वर्गात्प्रच्युत्य उत्तमोत्तमपुरुषेषु ते उत्पद्यन्ते। चक्रवर्त्यादिविभूतिश्चानुभवन्ति। तथा क्रमश यावत् कर्मनाश न स्यात् तावत् सासारिकसुखं लब्ध्वा दातारस्ते क्रमश शान्तिद शान्तिप्रदायक मोक्षपत्तन प्रयान्ति। १२४। १२५।

क्षमा की मूर्ति—परमदिगम्बर, इच्छारहित, समभावी, अपने हाथमे ही आहार करनेवाले, परिग्रहरहित लोभरहित, इन्द्रियविजयी, किसी से याचना न करनेवाले, वन के एकान्त प्रदेशमे निवास करनेवाले, परम ब्रह्मचारी, सर्व जीवो के हितवाञ्छक, सम्यग्दृष्टि महापुरुष कहे जाते हैं। सच्चे साधुओ के ये ही लक्षण हैं। इनको दान देना परम पुण्यदायक है। ये सुपात्रो मे उत्तम सुपात्र हैं। इनको अत्यन्त श्रद्धा भक्ति और विनयके साथ शास्त्रोक्त नवधा भक्तिपूर्वक विधिवत् शुद्ध आहारादि देना उचित है। इनके लाभ न होने पर व्रती श्रावक मध्यमपात्रको और उसका भी लाभ न मिले तो धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि जघन्य सुपात्रको दान देना चाहिए।

उत्तमपात्रमे दानका फल उत्तम भोगभूमिमे उत्पन्न होना है, मध्यमपात्रके दानका मध्यमभोगभूमि और जघन्य पात्रमे दानका फल जघन्य भोगभूमि है। वहाँके सुख भोगकर भोगभूमिके जीव निश्चित स्वर्गगति पाते हैं। स्वर्ग सुखोको अपनी आयुप्रमाण भोगकर उत्तम मनुष्योमे उत्पन्न होते हैं। चक्रवर्तीकी भी विभूतिको प्राप्त करते हैं और अन्तमे सर्व कर्मोंका नाशकर परम शान्ति और सुखका स्थान जो मोक्षरूपी नगर है उसे सदाके लिए प्राप्त करते हैं, यह दान का फल है। ऐसा जानकर गृहस्थोको प्रयत्न पूर्वक सत्पात्रोमे प्रतिदिन दान देना चाहिए। १२४। १२५।

प्रश्नः—न ददाति धनाढ्योऽपि दान स कीदृशो वद।

जो धनी होकर भी लोभादिके कारण दान नही करता वह कैसा है, कहिए—

(उपजाति)

दान धनाढ्योऽपि ददाति यो न।
गृही स मूर्खः सुखशान्तिबीजम्॥
आगामिकालस्य भिनत्त्यवश्यं।
नास्त्यत्र शङ्का तिलमात्रतोऽपि॥ १२६॥

दानमित्यादिः—धनाढ्योऽपि पुराकृतपुण्यकर्मोदयेन सर्वविभवसम्पन्नोऽपि य मोही गृही विवेकरहितो भोगान् भु क्ते किन्तु सुखशान्तिबीजमुत्तमदान न ददाति। स आगामिकालस्य आगामिनि काले सुखशान्ते बीज भिनत्ति भाविजन्मनि अशान्त दु खी दरिद्री च भवति। नास्त्यस्मिन् विषये तिलमात्रतोऽपि शङ्का। १२६।

सासारिक सुख और शान्तिदायक सामग्रीका सयोग इस जीवको अपने पूर्वकृत पुण्योदयसे प्राप्त होता है। यह जीव ससारमे सुख, दुख, सपत्ति, विपत्ति, दारिद्र और ऐश्वर्य, शिष्ट या दुष्ट समागम, कीर्ति-अपकीर्ति, मित्र-शत्रु, इष्ट संयोग-वियोग, भवन-वन आदि साता या असातादायक सामग्रीकी प्राप्ति अपने पुण्य और पाप कर्मके उदयसे ही प्राप्त करता है। पुण्योदयके अभावमे प्राप्त सुख सामग्री भी क्षणकालमे विलीन हो जाती है।

इस सत्यका ज्ञान जिनको नही और जो अहकार वश सातासामग्री की प्राप्ति का कर्ता स्वय को मानता है वह अविवेकी गृहस्थ मोहान्ध है। उसे वस्तुतत्त्व का किञ्चित् भी बोध नही है। वह भाग्यहीन अपने पैरो पर खुद कुल्हाडी पटकता है। उसे यह ज्ञान नही है कि उत्तम सत्पात्रोंके दानके फलसे ही उस सातिशय पुण्यका बन्ध होता है जिससे यह साधारण विभव की क्या गणना इन्द्र और चक्रवर्ती की विभूति भी चरणोमे लोटती है। वह उस मूर्ख की तरह है जो मूलकी पूजी खाले और भविष्यके लिये कोई उद्योग न करे। अथवा उस मूर्ख किसान की तरह है जो बीजके योग्य धान्यको

योग्य समय पर योग्य भूमि मे वपन नही करता और उसे खाकर ही अपने को धन्य मानता है, ऐसा किसान कुछ समय बाद अपनी करनी पर स्वय पछतायगा।

उत्तम पात्रमे दिया हुआ दान उत्तम भूमि मे यथासमय प्राप्त वीज की तरह महान् शान्तिदायक फलवान वृक्षको प्रदान करता है। जो इस सत्यभूत रहस्य को नही जानता अथवा मोह या लोभवश जान कर भी भुला देता है और अहकारके वश हो उत्तम पात्रो का सम्मान नही करता। वह आगामी जन्ममे भाग्यहीन दरिद्र दुखी होता है इसमे तिलतुष मात्र भी शका नही करनी चाहिए। १२६।

प्रश्न —**किं पुरुषार्थचिह्नं मे तत्फलं भो गुरो वद।**

हे गुरुवर! धनादिकी प्राप्ति यदि पुराकृत पुण्य से होती है, स्वयके पुरुषार्थ से नही होती तो पुरुषार्थ फिर क्या है और उसका क्या फल है? कृपया कहिए—

(अनुष्टुप्)

अस्ति कार्योत्तमो लोके पुरुपार्थश्चतुर्विधः।
इन्द्रियातीन्द्रियादीनां सत्सुखानां प्रदायक ॥१२७॥
कार्यो ज्ञात्वेत्यतो भव्यैर्धर्मार्थादिचतुर्विध ॥
पुरुपार्थो यतः श्रीदोऽभीष्टसिद्धिर्भवेत्तव ॥१२८॥ युग्मम् ॥

अस्तीत्यादि—तात्पर्यमेतत्—धर्मपालन अर्थोपार्जन कामभोग मोक्षोपायश्चेति चतुर्विध पुरुषार्थ। पुरुषार्थसाधक खलु वीर साहसिको भवति। ये पुरुषार्थं न साधयन्ति त एव प्रमादिन ससारसागरे निमज्जन्ति। ससारेऽपि तेपा ऐन्द्रियमपि सुख न सञ्जायते। दु खमेवानुभवन्ति सविभवा अपि। आद्यपुरुषार्थत्रयसाधका खलु श्रावका, मोक्षोपाय कुर्वन्त खलु साधवश्च भवन्ति। इति नियमानुसारेण श्रावकै पुरुषार्थत्रय साध्यम्। सर्वेषामाद्य पुरुषार्थ खलु धर्मपुरुषार्थोऽस्ति। धर्मेण विना न कश्चित्पुरुषार्थ साध्य। धर्मस्य फल मोक्ष एव प्रधानतया भवति। यावन्न स्यान्मोक्ष तावत् सासारिकसुखावाप्ति खलु धर्मस्य फलमुच्यते। जैनमार्गे सासारिकसुखस्य महत्त्व नास्ति यतस्तत् कर्मफलमस्ति। यत्किल स्वात्मसुख न तत् कर्मनिमित्तम्। किन्तु कर्माभावे एव यस्योत्पत्तिरस्ति तदेव यथार्थसुख नित्य शाश्वत अविचलित निरतिशय परिपूर्णं स्वभावरूप स्वानुकूलमस्ति। मोक्षे स एव लभ्यते अतो मोक्ष एव सर्वोपरि पुरुषार्थ। धर्ममार्गविरहितमर्थोपार्जन खलु चौर्यमेव। धर्मेणार्थोपार्जनन्तु गृहिणो धर्म। अधर्मेणोपार्जित वित्त पापकरणाय प्रेरयति नाना पापान्युत्पादयति येभ्य खलु जीवा नरकादिपु नानादु खान्यनुभवन्ति। तस्मात् दु खभीतै कदापि अनैतिकसरण्या नोपार्जनीय वित्तम्। उद्योग विना चौर्यादिना विश्वासघातेन परवञ्चनेन परापहरणेन सञ्चित धन तृतीयपुरुषार्थमपि विनाशयति। चतुर्थपुरुपार्थस्य कथा तु दूर एव। तृतीयपुरुपार्थ खलु कामभोग। कामेन स्वेच्छया स्वसतोपार्थं स्वेच्छारूपव्याकुलतानाशार्थं यत् भुज्यते स कामभोग। एषोऽपि धर्मार्थपुरुपार्थयोरविरोधेनैव सेव्य नान्यथा। य खलु एतत्सर्वमविचार्य भु क्ते तस्य भोगाधारभूतयोर्धर्मार्थतोरभावे भोगोऽपि नश्यति। अतिमात्रया भोगोपभोगसेवनादर्थो नश्यति धर्मविरहित सन्नधर्ममपि भजते। अधर्मात् पापसञ्चयो भवति पापोदयाद्दु खमनुभवति। भोगातिसेवया शरीरमपि जर्जरीभवति रोगाक्रान्तश्च। सरुग्शरीरेण भोगोपभोगा-समर्थेन न किमपि साध्यते लौकिक पारलौकिक वा। तस्मादन्यपुरुषार्थाविरोधेनैव स सेवनीय इत्येव प्रकारेण पुरुषार्थत्रयमैन्द्रियसुखसाधन भवति। परस्परानुकूल्येनाविरोधेन तत् सेव्यम्। पुरुषार्थी एव वित्तवान् प्रहृष्टशरीर धर्मात्मा न्यायप्रिय देशोद्धारक विश्वकल्याणकारक परमसुखी भवति। ससारपरिभ्रमणकारणभूताना कर्मणा विनाशाय यन्मोक्षार्थिभि व्रतसमितिगुप्तिधर्मादिकमङ्गीक्रियते तन्मोक्षपुरुषार्थ, यत्र स्वोत्थ निरतिशय सुखमनुभवति

जीव इन्द्रियसबघरहितोऽपि । इति पुरुषार्थचतुष्टयमपि लोके सर्वोत्तम कार्यमिष्टसिद्धिकारकमस्ति तस्मात् स्वहितैषिभिर्न कदाचिदपि पुरुषार्थहीन जीवन यापनीयमिति । १२७ । १२८ ।

धर्मका पालन, अर्थका उपार्जन करना, प्राप्त भोगोपभोगोका सेवन और मोक्षप्राप्तिका प्रयत्न ये पुरुषार्थ हैं । इसका दूसरा नाम है उद्यम, उद्योग और उन्नति । जो इसे साधते हैं वे वीर और साहसी होते हैं तथा लौकिक और पारलौकिक सुखको भोगते हैं । और जो लोग पुरुषार्थको अङ्गीकार नही करते वे प्रमादी होकर पारलौकिक सुखकी बात तो दूर रही इस लोकमे भी दुखी रहते है और पशुतुल्य जीवन व्यतीत करते हैं । उक्त चारो पुरुषार्थोमे से आदिके तीन पुरुषार्थोको साधनेवाले श्रावक या गृहस्थ होते है, और आत्मीय मोक्ष पुरुषार्थको साधनेवाले साधु कहलाते हैं ।

सब पुरुषार्थोका मूल धर्म पुरुषार्थ है । उसके साथ रहने पर शेष तीन पुरुषार्थ सज्ञाको प्राप्त होते हैं, अन्यथा वे भी पुरुषार्थ नही कहलाते । प्रत्येक गतिमे लोभादि कषायोके उदयसे जीव कुछ न कुछ सग्रह का प्रयत्न करता है पर वह अर्थ पुरुषार्थ नही हो सकता । जबतक कि वह धर्म और नीतिसे सयुक्त न हो और उसका उद्देश्य अपना, अपने कुटुबका, अपनी जाति व देशके भाइयोका तथा दीन और दुखी भाइयो का परिपालन न हो । यह पुरुषार्थी ही जिनालय निर्माण करा सकता है, पापनाशक उत्तमोत्तम श्रद्धा और भक्तिसे परिपूर्ण पूजा विधानादि कार्य कर सकता है । दीन दुखियोका उद्धार कर सकता हैं । उक्त पात्रोको दान देकर अपना जन्म सफल कर सकता है । जो उक्त प्रकारके पुरुषार्थहीन हैं वे केवल अपने उदरकी पूर्ति ही येन केन प्रकारेण कर सकते हैं पर अन्य धर्मके और परोपकारके काम उनसे नही हो सकते ।

इसी प्रकार जो न्यायनीतिपूर्वक प्राप्त भोगोपभोगोका सेवन नही करता तथा चोरी आदिसे, परवञ्चनासे, विश्वासघातसे छीनकर धनसग्रह करता है वह कभी काम पुरुषार्थका साधन नही कर सकता । धर्मका यथासमय साधन करते हुए अपनी न्यायपूर्वक बनाई हुई आर्थिक स्थितिके अनुसार जो भोगोपभोग सेवन करता है वही तृतीय पुरुषार्थवाला है । अन्यथा यथाप्राप्त भोगोको पशु भी भोगते है । देव भी भोगते हैं । नारकी तो पापसामग्रीका भोग करता है । पर यह सब काम पुरुषार्थ नही है । काम पुरुषार्थी केवल शारीरिक तृष्णाकी शान्तिके लिए अपने मनका सयम रखते हुए ही भोग करता हैं । मात्रासे भोजन करता है, मात्रासे वस्त्र पहिनता है, मात्रासे ही चक्षु और श्रोत्रके विषयोको अगीकार करता है । मात्रासे ही सुगधि सेवन करता है । मात्रासे ही स्त्री भोग करता है । अतिमात्रासे सेवित ये सब विषय व्यक्तिको निर्धनी तथा शरीर सपत्ति रहित बना देते हैं । वह अधर्म सेवनमे प्रवृत्त हो जाता है और पापसञ्चय कर इस लोकमे भी निन्द्य जीवन व्यतीत करता है और परलोकमे भी नरकादिकोमे अनेकानेक दुखोका भागी होता है ।

उक्त प्रकारसे परस्परकी अनुकूलतासे सेवित ये तीनो पुरुषार्थ उद्यम या उद्योग कहलाते हैं । ये गृहस्थ को ऐन्द्रियक सुखसाधनके कारण होते हैं । पुरुषार्थी ही धनवान्, कीर्तिमान्, परिपुष्टशरीर, सुन्दराकृति, यौवन सुखका भोक्ता, धर्मात्मा, न्यायप्रिय, देश और विश्वका कल्याणकर्त्ता तथा परम सुखी होता है ।

चौथा पुरुषार्थ मोक्ष पुरुषार्थ है । ससार परिभ्रमणका मूल हेतु परम्परासे या अनादि कालसे यह कर्म है, उसके नाश करनेके लिए ही मोक्षार्थीका सतत प्रयत्न है । व्रत-समिति-गुप्तिका पालन, भावना और दस धर्मोका अगीकार, परीषह और उपसर्ग पर विजय, उत्तमोत्तम ध्यानोका आराधन ये सब मोक्षार्थीके प्रयत्न हैं । इन प्रयत्नोमे सर्वत्र धर्म पुरुषार्थका साम्राज्य है । धर्मरहित क्रियायें निवृत्तिके लिए

साधक नही होती। जैसे कि इष्ट स्थानको जानेके लिए निरुद्देश्य गति या नेत्रहीनकी गति सफलता नही प्राप्त करा सकती उसी प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान विहीन चारित्र मुक्तिका साधन नही है, अत धर्म पुरुषार्थ युक्त होनेसे ही यह सब तपस्या चारित्रसज्ञाको प्राप्त होकर मोक्षकी साधन है। शीत, घाम की परिषह, आई हुई अनेक विपत्तियाँ पशु और नारकी भी सहते हैं पर सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान पवहीन वे पराधीनतासे स्वीकृत क्रियाएं चारित्र नामको नही पा सकती, अत वे मोक्ष पुरुषार्थके स्यत्नोंमे सम्मिलित नही हैं। अत. धर्मसयुक्त उक्त प्रयत्न ही मोक्षका साधन हैं। साधक उनके द्वारा ही मुक्तिको प्राप्तकर लेता है। जहाँ पर कि यथार्थ इन्द्रियाधीनतासे विमुक्त, निरन्तराय, शाश्वत, अडिग, प्ररिपूर्ण, स्वभावरूप, अछेद्य, अविनश्वर, सर्व दुखातीत और स्वात्मोत्थ सुख प्राप्त होता है।

मानव गतिमे ही और उसमे भी पूर्णतया पुरुष वर्ग द्वारा ही ये चारो साध्य हैं, अतएव ये पुरुषार्थ कहलाते है। इनके पुरुषार्थ नामकरणका यही एकमात्र हेतु है। यदि अन्यत्र भी वे साध्य हो सकते या स्त्री और नपुसको द्वारा भी साधे जा सकते तो इनका नाम पुरुषार्थ न होकर और कुछ ही होता। जो मनुष्य गति और पुरुष जन्म पाकर भी इसका साधन न करें तो उन जैसा मूर्ख प्राणी एक पशु क्या कीट पतग भी भी नही है। अधा गिरे तो मूर्ख नही परन्तु सूझता यदि गिरे तो वह मूर्ख है और सनेत्र होने पर भी अन्धेके ही वरावर है। ऐसा विचारकर बुद्धिमान् पुरुपोको अपने लौकिक और पारलौकिक इन्द्रियजन्य या स्वात्मोत्थ अतीन्द्रिय सुखकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न पूर्वक चारो पुरुषार्थोको अपने अपने पदानुकूल यथायोग्य रीतिसे पालन करना चाहिए। पुरुषार्थी गृहस्थ ही मोक्ष पुरुषार्थी होता है। पुरुषार्थीका मानव जीवन ही सफल है। अत स्वपर हितैषीको पुरुषार्थी बनना चाहिए।१२७।१२८।

प्रश्न —**चातुर्मासेऽन्यकाले वा कथं कार्यं धनार्जनम्।**

वर्षा ऋतुमे या अन्य समयमे धनार्जन किस प्रकार करना चाहिए, कृपाकर कहिये—

(अनुष्टुप्)

मुख्यरीत्याष्टमासे हि कार्यं नीत्या धनार्जनम् ॥
वर्षाऋतौ चतुर्मासे मुख्यतो धर्मसाधनम् ॥ १२९ ॥
पूर्वोक्तविधिरेव हि विधेयः शान्तिदः सदा ॥
यतः स्यादुभये लोके सततं स्वेष्टसङ्गमः ॥ १३० ॥ युग्मम् ॥

मुख्येत्यादिः—तात्पर्यमेतत्—एकस्मिन् सवत्सरे द्वादश मासा भवन्ति। तेपु आपाढमासस्य आष्टाह्निकमहापर्वतो प्रारम्य कार्तिकमासाष्टाह्निकमहापर्वपर्यन्त मासचतुष्के वर्षाऋतु स्यात्। अस्मिन् काले यतय एकस्मिन्नेव क्षेत्रे वसन्ति। वर्षानिमित्तेन तदा अनन्तजीवराशय समुत्पद्यन्ते गमनागमनतश्च म्रियन्ते। सर्वा भूमिस्तदा एकेन्द्रियवृक्षादिभिस्तथा द्वीन्द्रियादिसम्मूर्छनजैराकुला भवति तस्मादेव तेपा गमनागमन तदा शास्त्रे निषिद्धमस्ति। व्यापारादिकार्याण्यपि तदा मन्दमन्द प्रचलन्ति। अतएव एष सुयोग. श्रावकैर्न विफलीकर्त्तव्य। तदा मुख्यतो धर्मसाधनमेव कर्त्तव्यम्। यतस्तेषा परमवीतरागाणा सन्निधानात् सुवर्णे सुगधिसयोगो भवति। यथा शेष मासाष्टक मुख्यरीत्या व्यापारादिकार्याणा साधक तथैव चातुर्मास धर्मसाधनाय साधक वर्तते। मासाष्टकेऽपि नीत्यैव धनार्जन कर्त्तव्य धर्मभीरुभि। व्यापारस्य प्रयोजन न केवल येन केनापि प्रकारेण धनार्जनमेव, किन्तु स्वपरिश्रमानुकूल्येन अन्येपामपि लाभमविराधयतो न्यायेन स्वाधिकारप्रमाण राज्यनियमेन व्यावहारिकजननियमितेन च विधिना सम्मत वित्तोपार्जन एव तस्य मुख्यमुद्देश्यम्। तस्माल्लब्धप्रमाणादेव द्रव्यात् सतोपेण निर्वाह करणीय। एव कृते सत्येव अत्र परत्र च स्वेष्टस्य सङ्गमो भवति। १२९। १३०।

वर्षमे १२ मास होते हैं। इनमेसे आषाढी आष्टान्हिकासे कार्तिकी अष्टान्हिका तकके ४ मास वर्षा ऋतु कहलाती है। जलवृष्टिके कारण इस कालमे सम्पूर्ण भूमि असख्य त्रस और स्थावर जीवोसे सकुल हो जाती है और गमनागमन आदिमे मृत्युको प्राप्त हो जाते है। इसी कारणसे यति भी जिनका आठ मास पर्यन्त नियमित बिहार होता है इन दिनोमे एक ही क्षेत्रमे निवास करते हैं। इस समय वर्षाके कारण व्यापारियोका भी आवागमन बन्द हो जानेसे व्यापार भी मन्थर गतिसे चलता है। अतएव ऐसा सुन्दर सुयोग श्रावकोको व्यर्थ न खोना चाहिये। इन दिनोमे मुख्यतासे धर्मसाधन करना चाहिए।

जैसे बाकीके आठ मास व्यापार आदि कार्योके साधक हैं ऐसे ही ४ मास धनोपार्जनके मुख्य साधक हैं। परम वीतराग गुरुओका सङ्गम इस समय सोनेमे सुगधकी कहावतको चरितार्थ करता है। इन आठ महीनोमे भी नीतिसे धनार्जन करना चाहिये। व्यापारका मूल उद्देश्य जिस किसी प्रकारसे धनसग्रह नही है। उसका उद्देश्य अपने परिश्रमके अनुकूल दूसरोके लाभके अधिकारको न बिगाडते हुए न्याय प्राप्त अपने अधिकार प्रमाण राज्यके नियमानुकूल तथा महाजनो द्वारा नियमित विधिसम्मत उपयुक्त द्रव्यका प्राप्त करना तथा उतनेमे ही सतोषपूर्वक आजीविका निर्वाह करना ही है। ऐसा करने वालोको ही शान्तिकी प्राप्ति और इष्ट प्राप्ति होती है। १२९। १३०।

प्रश्न —**अहिसाधर्मवृद्धयर्थं किं किं कार्यं जनैः सदा।**

श्रावकको क्या क्या करना उचित है जिससे अहिसा परमधर्मकी वृद्धि हो। कृपया बताइए—

(अनुष्टुप्)

स्वदेशोद्धारकार्येऽपि यतन्तां श्रावकाः मुदा॥
धर्मार्थमपि सर्वत्र गच्छन्तु स्वात्मसिद्धये॥ १३१॥
यतः स्याज्जैनधर्मस्य प्रसिद्धिः सर्वभूतले॥
श्रावकाणां पर जन्म सफल स्याद्विशेषतः॥ १३२॥ युग्मम्॥

अहिसा एव परमो धर्म सर्वकल्याणकारक। तन्महत्त्व खलु लोके यथा यथा विस्तृत भविष्यति तथा तथा स्याल्लोककल्याणम्। तत् कथ विस्तृतो भविष्यति इति प्रश्ने सति आचार्य आह श्रावका मुदा स्वदेशोद्धार-कार्ये यतन्ताम्। तथा धर्मार्थमहिंसाधर्मप्रचाराय सर्वत्र भूमण्डले स्वात्मधर्ममविराधयन्तो गच्छन्तु। यतो जैनधर्मस्य जिनोपदिष्टवीतरागधर्मस्य सर्वभूतले प्रसिद्धि प्रचारश्च स्यात् श्रावकाणा परमुत्कृष्ट जन्म जीवन विशेषत सफल स्यात्। १३ । १३२।

श्रावकोको अपने देशके उद्धारके लिए भी सदा प्रयत्न करना चाहिए। तथा अहिंसा धर्मके प्रचारके लिए उन्हे सभी जगह जाना चाहिए। इससे विश्वके कोने कोनेमे जैन धर्मकी प्रसिद्धि, प्रभावना और प्रचार होगा और श्रावकोका उत्कृष्ट मानव जन्म भी सफल होगा।

विशेषार्थ—अहिंसा परम धर्म है। वह विश्वका कल्याणकारक है। उस परम धर्मका जितना विस्तार ससारमे होगा उतना ही लोकका कल्याण होगा। ग्रन्थकार पूज्य आचार्य महाराजने ग्रथ निर्माणके समयकी आवश्यकताका अनुभवकर बताया है कि हिंसा प्रधान जीवनवाले अग्रेजोके द्वारा पराधीन किए हुए अपने देशका उद्धारकर अहिंसा धर्मकी रक्षा करना श्रावकोका परम कर्तव्य है। तथा इसी प्रकार हिंसाबहुल देश जैसे ब्रिटेन, अमेरिका रूस और जर्मनी आदिमे जाकर वहांसे हिंसाका प्रभाव हटाकर अहिंसा धर्मका भाव अकित करना चाहिए। वहाँ जाना दोषास्पद नहीं है। दोषोका उत्पादन तो सर्वत्र प्रत्येक व्यक्तिके अधीन है। विदेशोमे जाकर भी अपने पवित्र धर्मकी रक्षा करनेवाले अनेक व्यक्ति देखे जाते हैं और अनेक स्वदेशमे विद्यमान होते हुए भी हिंसा करते हैं।

भारत निवासी अहिंसक हो और उनके बाहिर विदेशोमे रहनेवाले हिंसक ही हो ऐसी कोई व्याप्ति नही है। सब लोग सर्व देशमे धर्म या अधर्म पालनेके लिए स्वेच्छासे समर्थ ही हैं। इसलिए जिन धर्म की प्रभावनाके लिए सम्पूर्ण भूमण्डलमे भी जाना पडे तो जाना उचित है। अपने परमप्रिय अहिंसा धर्मका परिपालन करते हुए कही भी जाना अधर्म नही है। धर्म प्रभावनासे ही मानव जन्म सफल है। अत: सर्व प्रकारके प्रयत्नो द्वारा सम्पूर्ण विश्वमे अहिंसाका डका बजाओ और हिंसाको दूर करो। इस पवित्र कार्यसे तुम्हारी मनुष्य पर्यायकी प्राप्ति सार्थक होगी और परम्परासे मुक्तिकी प्राप्ति भी सुगम होगी। १३१। १३२।

प्रश्न —**वात्सल्यभावो ध्रियते किमर्थं गुरो कृपाब्धे वद मे हितार्थम्।**

हे कृपासिन्धु गुरुदेव! वात्सल्य भाव किसलिए धारण किया जाता है? कृपाकर मेरे हितके लिए निरूपण कीजिए—

(इन्द्रवज्रा)

मिथ्याप्रपञ्चं प्रविहाय मोह श्राद्धैश्चिदानन्दपदाश्रितैर्वा ॥
वात्सल्यभावोऽपि मिथः प्रशान्त्यै सर्वैश्च सार्धं सतत विधेय ॥ १३३ ॥

मिथ्येत्यादि —पारस्परिके व्यवहारे य खलु शिष्टाचार प्रदर्श्यते स उचित एव सज्जनानाम्। तथापि तत्र स व्यवहार सरलचित्तेनैव करणीय। केवल मिथ्याप्रपञ्चेन मात्सर्येण छलेन वा कृतोऽपि सद्व्यवहारो न गुणाय प्रभवति। ये खलु काञ्चनकामिन्यादिपु स्वेन्द्रियभोगेपु च मोहितमतय स्वार्थसाधनायैव सभ्यताया मिथ्याप्रपञ्च वितन्वन्ति न ते कदाचिदपि लोके कीर्ति लभन्ते। एतान्मायाविनो न कश्चित्प्रत्येति लोके तस्मात् सम्यग्दृष्टिभि श्रावकै स्वचैतन्यसुखास्वादिभि प्रशान्त्यै परमशान्तिप्राप्त्यर्थं परस्पर निष्कपटचित्तेन धर्मप्रेम्णा वात्सल्यभावो विधेय। १३३।

परस्परके व्यवहारमे जो शिष्टाचार प्रदर्शन किया जाता है वह शिष्ट पुरुषोके योग्य ही है, अनुचित नही है, किन्तु वह सरलचित्तसे करना चाहिए। केवल मायाचारसे मिथ्या प्रपञ्च करना और झूठे ही सद्व्यवहारका प्रदर्शन करना हानिके लिए ही है, लाभके लिए नही। जो अपने इन्द्रिय भोगोमे तथा इन्द्रिय भोगोके लिए उपयोगी धन स्त्री आदि पदार्थोंमे मोहित बुद्धिवाले हैं वे केवल अपने स्वार्थ साधन के लिए ही सभ्यताका ढोग करते है, ऐसे मायाचारी पुरुष लोकमे अपकीर्तिके ही भागी होते हैं। लोग उनका कभी विश्वास नही करते।

मायावीका नम्र व्यवहार चूहे पकडनेके लिए शान्त और नम्रतासे बैठी हुई बिल्लीके व्यवहारके समान झूठ स्वार्थोंसे परिपूर्ण होता है। लोकमे उसे बिलैया-दण्डवत्त कहते हैं। ऐसा असद्व्यवहार या कपटविशिष्ट शिष्ट व्यवहार सम्यग्दृष्टि श्रावक कभी नही करता। जिन इन्द्रिय भोगोके साधनेके लिए यह कपटका वेष रखा जाता है सम्यग्दृष्टि उन इन्द्रिय भोगोको हेय और क्षणस्थायी मानता है। वह उन्हे आत्महितके प्रतिकूल समझता है तब वह उसे कैसे स्वीकार कर सकता है। अपने परम शुद्धि चैतन्य स्वरूपमे रमण करनेवाला और उस आत्मसुखके स्वादका अनुभवन करनेवाला वह सम्यग्दृष्टि श्रावक सदा ऐसे मिथ्याप्रपञ्चसे दूर रह कर सभी साधर्मी बन्धुओके साथ उनकी सब प्रकारकी उन्नतिकी कामना रखते हुए प्रेमभाव रखता है, सहानुभूति रखता है। विपत्तिमे उनका साथ देता है, उनकी सब प्रकारसे सहायता करता है। इस प्रकारके पारस्परिक सद्व्यवहारसे वह अपनी पूरी समाजमे शान्तिका स्रोत बहा देता है जो फैलने पर एक साथ ससार भरकी अशान्तिको हर लेनेमे समर्थ है। १३३।

प्रश्न —कथं क्षमादयो धर्माः पाल्याः प्रसिद्ध्यै गुरो वद।
हे गुरुदेव! क्षमादि धर्मोका पालन कैसे करना चाहिए, कृपाकर मेरी इष्ट सिद्धिके लिए कहिए—

(अनुष्टुप्)

यथाशक्ति क्षमादीनां धर्माणां पालनं मुदा।
स्वात्मसिद्ध्यै सदा कार्यं चानुप्रेक्षादिचिन्तनम् ॥ १३४ ॥

यथेत्यादि—पारस्परिके व्यवहारे वात्सल्यव्यवहारवत् क्षमादीनामपि व्यवहार तथा तत्पालन कर्त्तव्यम्। तद्व्यवहार' किल स्वलाभाय परलाभाय च प्रभवति। अनित्याद्यनुप्रेक्षाणामपि चिन्तन सदा कार्यं यत स्वात्मसिद्धि भवति। मोहितबुद्धयस्तु न जानन्ति वस्तुनो यथार्थस्वरूपम्। इत्यस्मादेव वस्तुस्वरूपविवेचन सदा कार्यमेव दुर्बुद्धिदूरीकरणाय, यद्यपि उत्तमक्षमादीनामुपयोग द्वादशानुप्रेक्षाणामपि चिन्तन क्रियते साधुभिस्तथापि तदेकदेश श्रावकैरपि विधेयो यथाशक्ति। १३४।

यद्यपि उत्तम क्षमादि धर्मोका पालन तथा बारह अनुप्रेक्षाओका चिन्तवन साधुजन करते हैं तथापि उसका एकदेश श्रावकोको भी पालन करना चाहिए। क्रोधके कारणोकी उपस्थितिमे भी मन पर सयमन करना उसे विकृत न होने देना **उत्तमक्षमा** है। ऐसी उत्तम क्षमा कायरोकी क्षमा नही है। मन पर विजय पाना बहुत बडे साहसी और वीर पुरुषका कार्य है। बदला न लेना या न ले सकना क्षमा नही है, वह तो शक्तिके अभावकी पराधीनता है। वहाँ मन तो विकारी है। जहाँ मन विकारी न होकर सामर्थ्यवान् है तथा बदला न लेनेकी भावना है वह क्षमावान् है। इस क्षमा गुणसे गृहस्थ भी पारस्परिक वैरको खोकर सहानुभूतिका पात्र बनकर लोकपूज्य हो जाता है। जबकि क्रोधसे और बदला लेने से वैर और अशान्ति ही बढती है। ऐसा होने पर भी गृहस्थ एकान्त क्षमा पालनेके योग्य पात्र नही है। गृहस्थ होनेके नाते उसपर स्त्री बालबच्चोके परिपालन का भार है। देश, धर्म व समाजका भार है, अत जब कोई दुष्ट अनेक प्रकारसे समझाने पर भी बिना कारण दुष्टता करता है, सताता है, धर्म नष्ट करता है, धर्मात्माओके धर्मपालन करनेमे विघ्न करता है, शान्ति को स्थिर नही रहने देना चाहता, तब वह सम्यग्दृष्टि गृहस्थ उसके अशान्तिपूर्ण कार्योको सभी सभव उपायोसे रोकता है। धर्मात्माओकी रक्षा करता है। उसके इस प्रयत्नमे दुष्टके ऊपरसे क्षमाका भाव दूर हो जाता है, उसे दण्ड देना पडता है, उसकी मृत्यु भी हो जाती है। इतना बडा अनर्थ भी उस क्षमाशील गृहस्थको अगीकार कर लेना पडता है उससे भी बडे अनर्थसे बचनेके लिए।

यदि गृहस्थ ऐसा न करे तो ससारमे शान्तिके इच्छुक क्षमाशील करोडो भी सज्जन हो तो एक ही अशान्त दुष्ट अपने असत् कृत्योसे उनकी शान्तिमे बाधा उपस्थित कर वनमे सिलगनेवाली अग्निकी एक चिनगारीके समान समस्त सज्जन वनको अपनी ज्वालासे अशान्त बना सकता है। अत उनके प्रति द्वेषसे नही किन्तु सज्जनोकी रक्षाके लिए उनका रोध आवश्यक समझ कर वह अपनी शान्तिको तब तकके लिए तिलाञ्जलि दे देता है जब तक कि वह उसके असत् प्रयत्नोको विफल न करदे। उसकी यह अशान्त क्रिया शान्तिरक्षाके लिए है शान्ति भगके लिए नही। गृहस्थके लिए जितनी आवश्यकता क्षमाकी है उतनी ही आवश्यकता क्षमाशीलोंके सरक्षणकी भी है। उसके बिना सारा विश्व अशान्त हो सकता है अत क्षमाशीलोके सरक्षण करते हुए ही गृहस्थको क्षमाशील होना चाहिए।

क्षमाके साथ ही सद्गृहस्थको उत्तम विनय गुणका भी पालन करना आवश्यक है। इसे **उत्तममार्दव** नामका दूसरा धर्म कहा है। अहकार अनेक गुणोको भी दूषित करनेवाला है। ज्ञानका

विनय, ज्ञानवानका विनय, माता पिताका विनय, गुरुजनोका विनय, वयोवृद्धका विनय, चारित्रधारीका विनय, ये सब विनय उसके हृदयमे सदा विद्यमान रहते हैं। तुच्छसे तुच्छ और हीन तथा दरिद्रका भी कभी निरादर नही करता। वचनमे, व्यवहारमे, हृदयमे सर्वत्र नम्रता रखना उसका गुण है। निरहकारता उसके जीवनमे सदा रहती है और इसीलिए अनेक गुणवानोकी सङ्गतिसे उसके उस नम्रहृदयमे सद्गुणो के अङ्कुर जल्दी उत्पन्न हो जाते हैं।

आर्जव अर्थात् सरलता, विश्वस्त व्यवहार करना तथा किसीके साथ कपटका या विश्वासघातका व्यवहार न करना **उत्तम आर्जव** है। परमप्रिय, हितकारी व मिथ्यात्वसे रहित वचनवालेका **सत्यवचन** नामक धर्म है। लोभादि कषायोंके परित्यागसे होनेवाली हृदयकी पवित्रता **शौचधर्म** है। अनेक लोग तीर्थ स्नानको शौच कहते हैं पर यह धारणा मिथ्या है। आत्मामे पवित्रता आती है हृदयकी शुद्धिसे और हृदयकी शुद्धि होती है उदारतासे, सतोषसे, परोपकारकी भावनासे, अत केवल तीर्थस्नानमात्र पवित्रताका हेतु नही है। अपनी मानसिक पवित्रताकी रक्षाके लिए सब जीवो पर दयाभाव रखकर अपनी इन्द्रियोको वश करना **उत्तम सयम** है। अपने उक्त गुणो पर अटल रहनेवाले गृहस्थ पर अनेक विपत्तियाँ आती हैं, अनेक कष्ट सहना पडते हैं व धर्मरक्षाथ उन सब कष्टोको सहना ही गृहस्थका **उत्तम तप** है। पुण्यचरित्र पुरुषोकी सेवा व परोपकारके लिए स्वार्थका व भोगोपभोगोका त्याग ही उसका **उत्तम त्याग** है। स्वपर पदार्थमे आत्मबुद्धि और अनात्मबुद्धि होना तथा स्वातिरिक्त स्त्री, पुत्र, कलत्र, धन, धरा, आराम व भवनादिको पर पदार्थ समझना–यह जानना कि इनमे कोई भी मेरा नही है यह **आकिञ्चन्य धर्म** है। आत्मस्वरूपमे लीन रहना व उसे ही ग्राह्य मानना उत्तम **ब्रह्मचर्य** है। ये दश धर्म आत्माके कल्याणकारक उत्तम धर्म हैं। इन सबका यथायोग्य पालन गृहस्थ सम्यग्दृष्टि श्रावक करता है।

वह अनित्यादि द्वादश भावनाओको भी भाता है। ये भावनाएँ कल्पित भावनाएँ नही है, किन्तु ससारके वास्तविक स्वरूपकी निरूपक हैं। इनको विस्तृत करनेसे ही हम ससारमे भटक रहे हैं। जगत्की विनश्वरताका चिन्तवन **अनित्य भावना** है। जगतके सब पदार्थ स्वतत्र है, किसीका कोई बनाव विगाड नही कर सकता अतएव मेरे लिए मेरे सिवाय अन्य कोई शरण नही है, ऐसा विचारना ही **अशरण भावना** है। ससारकी विषमताका चिन्तवन उसके स्वरूपका विचार ही **संसार भावना** है। परपदार्थों से आत्माका पृथक्त्व **अन्यत्व भावना** और आत्माके एकाकीपनका चिन्तवन **एकत्व भावना** है। वैराग्यकी प्राप्तिके लिए शरीर का मोह त्यागकर उसके वास्तविक अपवित्र स्वरूपका चिन्तवन करना **अशुचि भावना** है। अपने किन किन दुरभिप्रायो व दुष्परिणामोंसे कर्मोका आस्रव होता है। उसका चिन्तवन करना **आस्रव भावना** है। इन दुष्ट कर्मोका आवागमन कैसे रुके, वे दुष्परिणाम कैसे दूर किए जाँय तथा उनके विरोधी सत्य परिणाम कौन हैं इत्यादि चिन्तवन करना **संवर भावना** है। कर्मोने मुझे अनादि कालसे जकड रखा है, उनसे छुटकारा कैसे हो इस प्रकार कर्म निर्जराके उपाय सोचना विचारना यह **निर्जरा भावना** है। धर्मकी प्राप्ति इस ससारमे कितनी कठिन है। ८४ लाख योनियोमे स्व-स्व कर्मानुसार परिभ्रमण करनेवाले इस जीवको मानव भव ही बहुत दुर्लभ है। कदाचित् प्राप्त हो जाय तो सज्ज्ञानके अभावमे पशुतुल्य जीवन व्यतीत करता है। यह विचारना **बोधिदुर्लभ भावना** है। लोकके स्वरूपका चिन्तवन करना **लोक भावना** है। लोकमे जैसे सब कुछ सुलभ है वैसे धर्म सुलभ नही है।

धर्मका क्या स्वरूप है। धर्मकी मानव जीवनके लिए क्या आवश्यकता है। उससे मानव समाजका क्या लाभ है इत्यादि धर्म स्वभावका चिन्तवन करना **धर्मानुप्रेक्षा** है।

उक्त प्रकारसे दश धर्मोका उत्तमरीतिसे परिपालन करना तथा द्वादश सद्भावनाओका सदाकाल विचार करते रहना ये श्रावकके लिए योग्य कार्य हैं। इनसे स्वपर कल्याण होता है अत अवश्य ही इन्हे अगीकार करना चाहिए। १३४।

प्रश्नः—कार्यं किमर्थं शास्त्राणा पठनं कठिनं विभो।

हे विभो! शास्त्रो का पठन जो कि अत्यन्त कठिन है किसलिए किया जाता है, उससे क्या लाभ है; कृपा कर कहे—

(अनुष्टुप्)

श्राद्धानां पतन न स्यात् तदर्थं दृश्यते मया।
सुस्वाध्यायक्रमस्तेभ्यः ससारेऽपि सुखप्रदः॥ १३५॥

श्राद्धानामित्यादिः—शास्त्रस्वाध्यायत सत्शिक्षा प्राप्यते। शिक्षित खलु स्वहिताहिते विचारयति। हिताहितविचारकस्य पतन ससारे न स्यात्। इत्येतस्मात् कारणात् स्वाध्यायस्योपदेश क्रियते जैनाचार्यै.। १३५।

शास्त्र पठनसे सत्शिक्षा प्राप्त होती है। विद्याका सुसस्कार ही मानव जीवनको उच्च बनाने का एकमात्र उपाय है। जिन्होने भी उन्नति की है सम्यग्ज्ञानके द्वारा ही प्राप्त की है। ज्ञानकी बहुत महिमा है। बिना परिपूर्ण ज्ञान हुए मोक्षकी प्राप्ति नही होती है। ज्ञानसे उत्तम विचार बनते हैं, उज्ज्वल हृदय बनता है, वाणीमे मिठास आती है और कर्तव्य ऊँचे होते है। अत श्राद्धोका अर्थात् सम्यग्दृष्टि श्रद्धावान् गृहस्थोका सन्मार्गसे कदाचित् पतन न हो जाय इसके लिए सच्चे शास्त्रोका पठन-पाठन आवश्यक है। स्वाध्याय करनेवाला ज्ञानी इस लोकमे भी परम सुखी और सन्तोषी होता है और परलोक की उज्ज्वलता तो वह साधता ही है। स्वाध्याय सदा उत्तम जिन-प्रतिपादित शास्त्रोका हो। राग-द्वेष वर्द्धक विकथाकथक ग्रन्थोका पढना स्वाध्याय नही है। वह तो कुशिक्षादायक दु श्रुतिनामा महान् पापदायक अनर्थदण्ड है, अत उसे त्यागकर सच्चे शास्त्रोका विधिपूर्वक स्वाध्याय करना चाहिए। १३५।

प्रथमानुयोगपठनम्—

(अनुष्टुप्)

कौ त्रिषष्टिशलाकादिपुरुषाणां सुधर्मिणाम्।
चरित्र प्रथम पाठ्यं शान्तिदं बोधद सदा॥ १३६॥
तच्चरित्रप्रपाठेन यद्यदाचरित हितैः।
तत्तज्ज्ञान भवेत् तस्य तथा स्यादशुभेऽरतिः॥ १३७॥ युग्मम्॥

कावित्यादि—चतुर्ष्वनुयोगेषु मध्ये प्रथम कि पाठ्यमिति प्रश्ने सति समाधीयते आचार्यैर्यत् त्रिषष्टिसख्याप्रमाणशलाकापुरुषाणा—चतुर्विशतितीर्थकराणा द्वादशचक्रवर्त्तिना नवनवसख्याप्रमाणनारायणप्रतिनारायणबलदेवाना जिनधर्मानुयायिना शिक्षाप्रद पापापह पुण्यद चरित्र सर्वप्रथममेव सुपाठ्यम्। यत हितै हितकारकै यद्यदाचरित तेन तस्य श्रावकस्य शुभे रति सञ्जायतेऽशुभे चारतिश्चेति। तदनन्तरमेवानुयोगान्तर पाठ्यम्। १३६। १३७।

जैनागम चार अनुयोगोमे विभाजित किया गया है—(१) प्रथमानुयोग, (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग। जैनाचारके प्रतिपालक श्री चौबीसो तीर्थङ्कर भगवान तथा बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण तथा नव बलभद्र इस प्रकार ६३ शलाका पुरुषोके पुण्य चरित्रका जिनमे वर्णन है वे शास्त्र प्रथमानुयोग हैं।

इनका पठन-पाठन सर्व प्रथम करना चाहिये। जिनागमको गहराईसे न जानने और न समझने वाले लोग भी उक्त पुण्य पुरुषोके सदाचारपूर्ण चरित्रसे प्रभावित होकर सदाचारी बन जाते है, उनसे शिक्षा प्राप्त कर लेते है।

प्रथमानुयोगमे पुण्यात्माओका पुण्य चरित्र तथा उसका उत्तम फल बताया गया है इतना ही नही, बल्कि जो पापात्मा हैं उन्होने कैसे कैसे कटुक फल भोगे है, उनका भी चरित्र उनमे अङ्कित है। अत दोनो चरित्रोके उदाहरणोको देखकर लोग पापसे भयभीत होते है तथा धर्मके मार्गमे लगते हैं। अतएव शान्तिका प्रदान करनेवाला, बोधदायक और उत्तम पुरुषोंके चरित्रका प्रतिपादक प्रथमानुयोग अवश्य पढना चाहिए। ऐसा करनेसे मनुष्यकी प्रवृत्ति अशुभ अर्थात् पापके कार्योंसे विरक्त होकर पुण्य अर्थात् धार्मिक शुभ कर्मोमे स्वयमेव सलग्न होती है, अत सर्वप्रथम प्रथमानुयोगका ही स्वाध्याय कल्याणप्रद है। १३६। १३७।

करणानुयोगपठनम्

प्रश्न.—प्रथमानुयोगपठनानन्तरं किं पाठ्यम्।

प्रथमानुयोग शास्त्र के स्वाध्याय के बाद किस अनुयोगका स्वाध्याय करना चाहिये? आगे उसका स्पष्टीकरण करते हैं—

(अनुष्टुप्)

सत्करणानुयोगादि शास्त्र पाठ्यं शिवप्रदम्।
पश्चाद्योग्यं भवेज्ज्ञानं सर्वसत्त्वहितङ्करम् ॥ १३८॥
लोकालोकस्वरूपस्य बोधक तत्त्वतो नृणाम्।
ज्ञात्वेति क्रमतः पाठ्यं जन्म स्यात् सफलं यतः ॥ १३९ ॥ ॥ युग्मम् ॥

सदित्यादि—प्रथमानुयोगपठनानन्तर करणानुयोगशास्त्राणामेव पठन कर्त्तव्यम्। एतेनानुयोगेन लोकालोकयो स्वरूपमवगम्यते। जीवानामुत्पत्तिस्थान कर्मणा कार्यम्, कालस्य परिवर्तन, चतुर्गतीना स्वरूप, कर्मनिमित्तेन जीवपरिणामभेदा, गुणस्थान-मार्गणास्थान-जीवसमासाना स्वरूपं, विंशतिप्ररूपणाभेदाश्चेत्यादि पदार्थाना यत्र सम्यङ्निरूपणमस्ति तत् करणानुयोगशास्त्रमित्युच्यते। करणशब्दस्य जीवपरिणामवाचित्वात् करणानुयोगे जीवपरिणामानामेव विशेषतो वर्णनमावश्यकम्। स्वपरिणामभेदमनवगम्य केवल द्रव्यरूपेण यदाचरणम्भवति तत्केवल द्रव्यचारित्रसज्ञामेव प्राय लभते तस्मात्सदाचारैं स्वात्मकल्याणमिच्छता सदाचारस्वीकरणात्पूर्वमवश्यमेव करणानुयोगशास्त्राणा स्वाध्याय कर्त्तव्य। एतत्स्वाध्यायतस्सर्वसत्त्वहितङ्कर योग्य ज्ञान समुत्पद्यते। ज्ञानसम्पादनत एव मानवजन्मनस्साफल्यमस्ति। १३८। १३९।

प्रथमानुयोग के अन्तर करणानुयोग शास्त्रो का पठन पाठन करना श्रेयस्कर है। इस अनुयोग के स्वाध्याय से हमे लोक और अलोकके स्वरूपका, युगोके परिवर्तनका, जीवके परिणामोका, कर्मके प्रभावका, जीवोकी उत्पत्तिस्थानका, चतुर्गतिका, गुणस्थानो, मार्गणास्थानो, जीवसमासो तथा बीस प्ररूपणाओ का स्वरूप भलीभाति ज्ञात होजाता है।

साधारणतया करण शब्दका अर्थ जीवके परिणाम भी है। हमे जीवके परिणामोंके भेदोका स्वरूप आत्मस्वरूप के परिणाम के लिए जानना अत्यावश्यक है। उनकी यथोचित सम्हाल के बिना धारण किया हुआ चारित्र प्राय द्रव्यचारित्र ही नाम पाता है। अत सदाचार पालनसे स्वात्महित वाछक पुरुषो का कर्तव्य है कि सदाचारके नियमोके साथ ही या उसके पूर्व ही करणानुयोग शास्त्रो का मनन करें। इसके स्वाध्यायसे सर्व प्राणियोके लिए हितकर्त्ता योग्य ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान सम्पादन से ही मनुष्य जन्म की सफलता है। १३८। १३९।

चरणानुयोगपठनम्

अथ चरणानुयोगः पाठ्यः।

इसके बाद चरणानुयोग शास्त्र पठनीय है, यह बताते हैं—

(वसन्ततिलका)

पाठ्यं सदैव सुखदं चरणानुयोग--
शास्त्रं सुसाधुगृहिणां व्रतमण्डितानाम्।
शीलव्रताचरणबोधकमेव भक्त्या
स्वात्मा भवेद् भुवि यतो व्रतशीलधारी॥ १४०॥

पाठ्यमित्यादि—प्रथमानुयोगकरणानुयोगशास्त्रयो स्वाध्यायानन्तर चरणानुयोगशास्त्र पठनीयम्। तच्छास्त्र शीलाना व्रतानाञ्च प्रतिबोधकमस्ति। देशव्रताराधकाना गृहिणा महाव्रतिना साधूनाञ्च किमस्ति कर्त्तव्यम्, कानि कानि तेषा व्रतानि, कथ भवति व्रताना रक्षणम्, के दोषा सन्ति ये व्रतानि मलिनीकुर्वन्ति इत्यादिप्रकारक गृहिधर्म साधुधर्मश्चापि यत्र वर्णितो विस्तरेण तच्छास्त्राध्ययनेनैव आत्मा व्रतशीलधारी भवति अतएव सदैव सुख-दायक चरणानुयोगशास्त्र पाठ्यम्। १४०।

प्रथमानुयोग और करणानुयोग शास्त्रोके स्वाध्याय करनेके बाद देशव्रतधारी गृहस्थ और महाव्रती साधुओके आचार क्रमका प्रतिपादक चरणानुयोग शास्त्र पढना चाहिए। इस शास्त्रका अध्ययन करनेवाला आत्मा शील-व्रतका धारी हो जाता है, कारण इस अनुयोगके शास्त्रोमे यह विषय बहुत स्पष्टताके साथ बताया गया है कि श्रावकके कितने भेद हैं, कितनी प्रतिमाएँ व्रताचरणकी वृद्धिके लिए हैं, क्या उनका स्वरूप है, साधुके व्रत कौन कौनसे हैं, शील क्या है, उनके भेद कौन कौन है, व्रतोके रक्षार्थ क्या करना चाहिए, कौन कौन सी भावनाएँ व्रतमे गुणवृद्धि कर सकती हैं और किस जिस व्रतके कौन कौन अतीचार हैं जो व्रतको मलिन करते हैं।

मानसिक अपवित्रता यदि एक बार हो जाय तो वह अतिक्रम दोष है। यदि बार बार मानसिक अपवित्रता हो जाय तो वह दु शील होनेसे व्यतिक्रम है। यदि व्रत एकदेश या एक बार प्रमादसे भग हो जाय तो अतीचार है और यदि सर्वदेश या अनेकबार जानबूझ कर व्रत भग किया जाय तो अनाचार है। इस प्रकार अतिक्रमादिका स्वरूप तथा दोषमुक्त होनेके लिए दश दोषरहित प्रायश्चित्तका विधान प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समता, वन्दना, स्तुति, कायोत्सर्ग आदि सम्पूर्ण विधि विधान जहाँ वर्णित है वह सुखदायक चरणानुयोग शास्त्र है जिसका स्वाध्याय आत्महितके लिए सदैव करना चाहिए। १४०।

अथ द्रव्यानुयोगपठनम्--

चरणानुयोग के अनन्तर पठनीय द्रव्यानुयोगका स्वरूप वर्णन व उपदेश—

(अनुष्टुप्)

द्रव्यानुयोगशास्त्रस्य स्वपरबोधकस्य च ।
पठन पाठनं कार्यमन्ते सर्वसुखप्रदम् ।। १४१ ।।
पूर्वोक्तक्रमत पाठ्यास्तेऽनुयोगा जिनोदिताः ।
स्वैरवृत्तिर्यतो न स्यात् मोक्षश्रीः शान्तिदा सखी ।।१४२।।युग्मम्।।

द्रव्येत्यादि—जीवाजीवादिषड्द्रव्याणा नवपदार्थाना पञ्चास्तिकायाना सप्ततत्त्वाना स्वरूप द्रव्यानुयोग-शास्त्रेषु प्रतिपादितमस्ति। युक्त्यागमाभ्या अनेकान्तवादाश्रयेण जीवादीना स्वरूप तत्तद्गुणपर्यायाणाम्भेदाश्च तत्र विस्तरतो निरूपितास्सन्ति। तस्माद् द्रव्यानुयोगपठनेन स्वात्मन. स्वतत्रसत्ताकस्य स्वात्मभिन्नाना पुद्गलादीनाञ्च सम्यग्बोधो भवति। स्वपरबोधसम्पन्न एव मुक्तिसुख लभते। तस्मात्कारणात् सर्वसुखप्रद द्रव्यानुयोगस्य पठन पाठनञ्च अन्ते अनुयोगत्रयपठनानन्तर कार्यम्। एवप्रकारेण स्वाध्यायकरणेन स्वैरवृत्तेरभावात् शान्तिदायिनी मोक्षश्री सखी इव भवति।१४१।१४२।

द्रव्यानुयोग शास्त्रोमे जीवाजीवादि छह द्रव्य, नव पदार्थ, अस्तिकाय, और सात तत्त्वादिका उत्तम स्वरूप युक्ति और आगमके आधारसे विविध गहन नय स्वरूप अनेकान्तवादके आश्रयसे वर्णित किया है। साथ ही उन द्रव्यो के अपरिमित गुणो और पर्यायोका भी विशद विस्तृत वर्णन वहा किया गया है।

पुण्य-पाप, बध-मोक्ष, और जीव-कर्म, आदि की सम्यक् व्यवस्था, प्रमाण, नय और निक्षेपका विशद विवेचन, अनेकान्तवाद द्वारा सर्वथैकान्तवादोका युक्ति और आगमादि प्रमाणोके आधार पर खण्डन आदि इस अनुयोगमे वर्णित है। स्वतन्त्र सत्तावाला आत्मा परभावोसे भिन्न अनत गुणोका पिंड स्वरूप अपने स्वरूपमे ही रमण करनेवाला हैं। वह चैतन्य स्वरूप विमुक्त पुद्गलादि जड पदार्थोसे सर्वथा भिन्न है। इस तरह स्वपरविवेक स्वरूप अध्यात्मविद्याके प्रतिपादक द्रव्यानुयोग शास्त्रका अन्तमे अन्तिम अनुपम सुख प्राप्तिके लिए अवश्य पठन-पाठन करना चाहिये। इस क्रमसे चारो अनुयोगोका सम्यक् स्वाध्याय स्वच्छद प्रवृत्तिको दूर कर व्रताचरणकी वृद्धि करता है जिससे शान्तिप्रदायिनी मुक्ति-रूपी सखी का समागम प्राप्त होता है।१४१।१४२।

न्यायव्याकरणादिशास्त्राणां पठनम्

प्रश्न —न्यायव्याकरणादीनां स्वाध्याय स्यात्कदा गुरो ?

यदि चतुरनुयोगानामेव पठन कार्यं तदा न्यायव्याकरणादिविद्याना पठन कदा स्यात् ? हे गुरु ! कथम मे। हे गुरुदेव ! यदि चारो अनुयोगोका पठन पाठन ही श्रेष्ठ है तो न्याय व्याकरण तथा साहित्यादि शास्त्रोको कब पढना चाहिये, कहिए—

(अनुष्टुप्)

षड्द्रव्यसप्ततत्त्वानां न्यायव्याकरणस्य च ।
पठन पाठनं भक्त्या यतः स्यात् स्वात्मदर्शनम् ।। १४३ ।।

षडित्यादि—न्यायव्याकरणादयस्तु चतुरनुयोगशास्त्रप्रतिपादितषड्द्रव्याणा सप्ततत्त्वाना स्वरूपपरिज्ञानार्थं एव भक्त्या पठनीया । स्वात्मदर्शने उपयोगिना अन्येषामपि शास्त्राणा पठन पाठनमपि न प्रतिषिद्धमस्ति । केवल स्वपाण्डित्यप्रदर्शनार्थं मात्सर्येण परोत्कर्षपराभवेच्छया व्याजेन वादेन पाण्डित्यप्रदर्शनेन वा यत् न्यायव्याकरणादिशास्त्राणामध्ययन क्रियते न तत् स्वाध्यायसज्ञा लभते । अत एव सुनिश्चितमेतत् यत स्वात्मोपकारकस्य शास्त्रान्तरस्यापि पठने न कश्चिद् दोषोऽस्ति यन्नैव स्यान्मिथ्यात्वपोषक कषायवर्द्धक विषयरतिदायक वा ।१४३।

इन चारो अनुयोगोमे प्रतिपादित छह द्रव्य व नव तत्त्व आदिके ज्ञानको उत्पन्न करानेमे हेतुभूत न्याय, व्याकरण, साहित्य, कोष, अलकार व छन्द आदि विद्याओका पठन-पाठन निषिद्ध नही है, भक्तिपूर्वक उनका भी यथायोग्य पठन-पाठन करना चाहिए। उपयोगी विद्याओकी सहायतासे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति की जा सकती है। केवल अपना पाण्डित्य प्रदर्शनके लिए शास्त्रोका पठन-पाठन अनुचित है। अनेक विद्वान् दूसरे विद्वानोके ज्ञानोत्कर्षको मात्सर्य या ईर्षाके कारण सहन नही कर सकते, अत वे कपट व वाद-विवाद से अपना पाण्डित्य प्रदर्शनमात्र कर अपनी कषायोका पोषण करते हैं। उनका वह शास्त्र पठन स्वाध्याय के नामको प्राप्त नही कर सकता। वह शास्त्रग्रहण शस्त्रग्रहण ही है जो केवल परको नीचा दिखाने मात्रको है।

उपर्युक्त कथनसे यह अच्छी तरह स्पष्ट हो गया कि जो मिथ्यात्ववर्द्धक न हो, असदाचारके पोषक न हो, हिंसादि महापापोके उपदेशक न हो, कलह वितण्डावादको उत्पन्न करनेवाले न हो तथा कामादि विकारोंके वर्द्धक न हो उन लौकिक शास्त्रोका पठन-पाठन निषिद्ध नही है। तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमे सहायक ग्रन्थान्तरोका इसके बाद भक्तिपूर्वक पढना भी स्वात्मदर्शनके लिए ही होता है।१४३।

अन्तरायकथनम्

प्रश्न—श्राद्धानामन्तराया मे कति सन्ति गुरो वद ।

श्राद्धानाम् श्रावकाणा भोजने कति अन्तराया सन्ति ? हे गुरो ! मे वद ।

श्रद्धावान् व्रती श्रावकोके भोजनसबधी अन्तरायोका विवेचन कृपाकर गुरुवर्य मुझे बतावें—

(अनुष्टुप्)

दर्शनस्य भवन्त्यष्टावन्तराया जिनागमे ।
स्पर्शस्य विंशतिः प्रोक्ताः श्रोत्रस्य भयदा दश ॥ १४४ ॥
बाह्यान्तरङ्गशुद्ध्यर्थं धर्मज्ञैः श्रावकैः सदा ।
पूर्वोक्ता त्रिविधाः पाल्या अन्तरायाः प्रयत्नतः ॥ १४५ ॥

दर्शनस्येत्यादि—व्रतिन श्रावकस्य दयापरस्य हृदि ग्लानिकारका सक्लेशकारकाश्च भोजनसमये दर्शनस्याष्ट अन्तराया स्पर्शसबधिनो विंशतिरन्तराया शब्दश्रवणसबधिनश्च किल दश अन्तराया सन्ति । मिलित्वाअष्टत्रिंशदन्तराया भवन्ति । शुद्धाहारभोजिन श्रावकस्य भोजनसमयं यदि परित्यक्तपदार्थाना मदिरामासादीना दर्शन चर्मादिपदार्थाना स्पर्शन रोदनादिहृदयद्रावकशब्दाना श्रवण वा स्यात् तदा स अन्तराय इति मत्वा भोजन परित्यजति । एव उभयशुद्धयर्थं धर्मज्ञै प्रयत्नत त्रिविधा भोजनान्तराया पालनीया ॥ १४४ ॥ १४५ ॥

दयावान् श्रद्धावान् सदाचारी व्रती श्रावक शुद्ध आहारके द्वारा ही अपनी क्षुधा मेटता है। यद्वा तद्वा शुद्धाशुद्ध आहारके द्वारा वह अपनी इन्द्रियलिप्साको पूरी नही करता। उसका अपनी विषय

वासनाओ पर इतना नियत्रण है कि वह बुभुक्षित होने पर भी कभी अमर्यादित पदार्थोका, परित्यक्त पदार्थोका, अनीतिसे प्राप्त पदार्थोका तथा हिंसा-चौर्य आदि पापोसे कमाए हुए पदार्थोका भक्षण नही करता। शुद्ध, शास्त्रानुमोदित, हिंसादि पापोसे दूर व न्यायोपार्जित पदार्थोका ही सेवन करता है। इस प्रकारके शुद्धाहारके समय यदि उसे हृदय द्रावक मासादि पदार्थोका दर्शन होजाय तो उनके दर्शन मात्रसे वह अपने शुद्धाहारका भी तत्कालके लिए त्याग कर देता है। वह दयापरिणामी उस हिंसा तथा निर्दय-क्रिया द्वारा कृत पदार्थको देखनेमात्रसे दुखी होता है। पर-दु ख-कातरता उसका गुण है। इसी प्रकार मृत पुरुष स्त्री या पशु आदिके शरीरका अथवा मृत शरीरके अशभूत चर्म नखादिका स्पर्श होने पर प्राप्त अपवित्र दशा मे भी वह भोजनका परित्याग करता है।

श्रवण सबधी भी अन्तराय होता है। जब भोजन करनेवाला व्रती भोजनके समय किसीका करुणा पूर्ण रुदन सुनता है या मरण सुनता है, अग्निदाह या शस्त्रघात आदिके शब्द सुनता है तब वह भोजन त्याग कर तत्काल अग्नि बुझानेका, शस्त्राघात दूर करनेका व दुखीको सान्त्वना देनेका सत्प्रयत्न करता है। दूसरोको दुखी अवस्थामे छोडकर वह चैनसे भोजन करते नही बैठता, यह उसका अहिंसा गुण है। अपनी अन्तरङ्ग मानसिक शुद्धिके लिए तथा बाह्यमें शारीरिक शुद्धिके लिए, लोक कल्याणके लिए और दयाधर्म के प्रतिपालनके लिए धर्मात्मा श्रावकोको प्रेमपूर्वक भोजनके अन्तरायोका पालन-करना चाहिए।१४४।१४५।

अथान्तरायभेदा कथ्यन्ते

अथ अन्तरायके भेदोको गिनाते हैं—

मदिरा-मासास्थि-रक्तधारार्द्रचर्म-मृतपञ्चेन्द्रियजीव-क्षुधाहतपशु-मलमूत्राणि इति दर्शनस्यान्तरायाः॥ १॥

मदिरा महुआ और द्राक्षा आदि अनेक पदार्थोको सडाकर बनाई जाती है। हजारो लाखो कीडे उसमे प्रत्यक्ष उत्पन्न हो जाते हैं। उन सबको घोलकर व आग पर औंटाकर शराब या मदिरा बनाई जाती है। मदिरा नशा करती है, मनुष्यकी सुधि-बुधि भुला देती है, और हितमार्गसे दूरकर अहित मार्गमे लगा देती है। ये सब दुर्गुण तो है ही, पर यह उन असख्य प्राणियोके रक्तमासमय पिण्डका निचोडा हुआ रस है जो सडनेके समय उसमे पड चुके थे और अब भी जिसमे असख्य कीटाणु पैदा होते व मरते हैं। अत जिसकी उत्पत्ति भी महान् हिंसासे है तथा जिसका उपयोग भी महान् पापोत्पादक है उस मदिरा को देखने मात्रसे व्रती पुरुष भोजनका त्याग कर देते है।

इसी प्रकार जीवोका निर्दयता पूर्वक सहार कर ही मास बनाया जाता है। निर्दय पुरुष उस माससे अपना उदर भरते हैं और उसे श्मशान भूमि बनाते हैं। मास भी उत्पत्ति रूपसे पापमय है और सदा असख्य जीवोकी उत्पत्तिरूप होनेसे उनकी भी हिंसाका हेतु है। दयापर अहिंसक श्रावक उस अपवित्र पदार्थको देखकर भी भोजनका त्याग कर देता है।

दर्शनका तृतीय अपवित्र पदार्थ हड्डी है। यह भी शरीरका अग है। शरीरके सभी अग अपवित्र हैं। सप्त धातु और उपधातु अपवित्रताके परमाणुओसे ही बने हैं। उनका दर्शन भी भोजनका अन्तराय है। बहती हुई रक्तकी धारा, शरीरके ऊपरसे तत्काल निकाला हुआ कच्चा चमडा, मरा हुआ पञ्चेन्द्रिय जीवका शरीर क्षुधापीडित व्यक्ति या पशु और मल-मूत्रादि अपवित्र पदार्थ ये सब भोजनके समय अन्तरायके कारण दर्शनमात्रसे माने गए हैं। इन्हे देखकर व्रतीको भोजनका त्याग कर देना चाहिए। १।

शुष्कचर्म- नख- केश- पक्षि- पक्षासंयमिस्त्रीपुरुष-व्रतभंग- रजस्वलास्त्री- पञ्चेन्द्रियपशु-मल-मूत्रशंका,—शवस्पर्शन,—मृतजीवग्रास,—केशनिर्गमन-स्वशरीरप्राणिपीड़नादय स्पर्शनान्तराया ॥ २ ॥

इतने पदार्थोके स्पर्श होने पर भोजनका अन्तराय मानना चाहिए—सूखा चमडा, नख, कम्बल आदि केशवस्त्र, पक्षी, पक्षीके पख, शीलरहित स्त्री, पुरुष (शीलरहित), व्रतभग करनेवाली स्त्री या पुरुष, रजस्वला स्त्री, पञ्चेन्द्रिय पशु कुत्ता बिल्ली आदि, मुर्देका स्पर्श, ग्रासमे यदि कीटाणु मृत हो तो, ग्रासमे यदि बाल हो तो भोजन त्यागना चाहिए। अपने शरीरमे यदि असह्य पीडा हो या दूसरे प्राणीका असह्य पीडा हो अथवा अपने शरीरसे मूत्र, मल आदिके स्खलन हो जानेकी शका होगई हो तो भी भोजनका अन्तराय है। इस प्रकार ये स्पर्शनसवधी भोजनान्तराय हैं। २।

मरण-रोदनाग्निदाह— मारण-धर्मात्मोपर्युपसर्ग-मनुजकर्णनासिकादिच्छेदन-जिन-बिम्ब-जिनायतनोपसर्ग-पापवचनादय श्रवणान्तराया ॥ ३ ॥

भोजनके समय यदि किसीका मरण सुन पडे, करुणाजनक विलाप सुने, कही अग्नि लग गई, घर जल रहे है, पशु-पक्षी मनुष्य जले जारहे हैं इत्यादि वचन सुनाई पडे, लोग लूटपाट मारकाट कर रहे है, ऐसा सुनाई देवे। किसी धर्मात्मा पुरुष पर कोई उपसर्ग आया हुआ सुने, या ऐसा शब्द सुनाई देवे जो अत्यन्त करुणाजनक हो जैसे इसकी नाक काट लो, कान काट लो मस्तक छेद दो इत्यादि अथवा कही जिनमदिर जिन प्रतिमा पर उपसर्ग या अपमान जनक वचन सुनाई देवें या डाका पडने लुट जाने व नारी अपहरण आदि पापके वचन सुनाई पडें तो इन बातोंके श्रवणमात्रसे व्रतीको भोजनका त्याग कर देना चाहिए।

भोजनके अन्तरायोका यह तात्पर्य नही है कि वह भोजन छोडकर पश्चात्ताप करता हुआ चुप बैठ जाय अथवा अन्तराय करनेवालो पर रोष करे जो इन्होने मुझे भोजन भी न करने दिया। ये सब काम तो अन्तराय न पालनेके बराबर हैं अन्तराय पालनेवाला अन्तराय आने पर भोजनका त्याग करता हुआ भी अपने पापकर्मका उदय समझकर किसी पर रोष नही करता। तथा उक्त कारणोके आने पर तत्काल उन उपसर्गोंको दूर करने, लोगोके कष्ट दूर करनेका प्रयत्न करता है। मार-काट, लूट-पाट, अपहरण, धर्मात्मा पर उपसर्ग, जिन मन्दिर और जिन प्रतिमाका उपसर्ग आदि श्रवण कर जो केवल भोजनका त्याग कर बैठ जाता है वह कापुरुष कदाचित् भी व्रती श्रावक नही है। किन्तु उसे तत्काल इन उपसर्गोंको अपनी शक्ति भर दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये। तभी वह व्रती है और उसका अन्तरायका पालना सार्थक है, अन्यथा नही।

भोजनके अन्तराय दर्शन-स्पर्शन-श्रवणके सिवाय और भी शास्त्रकारोने शास्त्रान्तरोमे प्रतिपादित किए हैं उनका भी पालन करना चाहिए। जैसे—यदि प्रमादसे त्याज्य वस्तु खानेमे आ जाय तो तत्काल भोजनका त्याग करना चाहिये। उदाहरणार्थ कोई व्रती नमक रसका त्याग किए है। अब कदाचित् भोजनमे कोई नमकवाली वस्तु आ गई तो उसे तत्काल भोजनका अन्तराय मानना चाहिये। भोजनमे यदि जीवित भी जीव कीटाणु आ जाँय जिनका सहज ही अलग करना सम्भव न हो तो भी भोजनका अन्तराय मानना चाहिए। तथा भोजनके शुद्ध पदार्थोंमे भी यदि भोजनके समय दुष्ट सकल्प आ जाय अर्थात् कोई पदार्थ ऐसा मानसिक सकल्प पैदा कर दे जो यह भोज्य पदार्थ मास जैसा है या अण्डे जैसा मालूम पडता है, या प्राणीके सिर जैसा या पैर जैसा है तो वह पदार्थ भी व्रतीके लिए अभोज्य

है। साराश यह है कि दया उत्पन्न करनेवाले, अपवित्रता लानेवाले और व्रतभग करानेवाले कारणोके आने पर भोजनका अन्तराय मानना व्रतीके लिए उचित है। तथा पाक्षिक व दार्शनिकको भी यथायोग्य अन्तराय पालने चाहिये। ३।

प्रश्न —**कार्यो वितानबन्धोऽपि कुत्र कुत्र गुरो वद।**

हे गुरुवर्य ! श्रावक अपने घरमे चँदोवा कहाँ कहाँ बाधे, कृपया कहिये—

(अनुष्टुप्)

पेषणप्रभृतिस्थाने श्रावकैर्धार्मिकैः सदा।
वितानस्य प्रबन्धोऽपि कर्त्तव्यो जीवरक्षकः ॥ १४६ ॥

पेषणेत्यादि —जीवरक्षार्थं अन्नादिशुद्ध्यर्थञ्च पेषणप्रभृतिस्थाने पेषिण्यादीनामुपरि एकादशस्थानेषु वस्त्रादिना निर्मितस्य मण्डपस्य प्रबन्धो धर्मज्ञै श्रावकै स्वेच्छया कर्त्तव्य । यत्रान्नादिपेषण क्रियते तदुपरि, यत्र कुट्टनमन्नादीना क्रियते तत्र, यत्र महानसमस्ति तत्र, भोजनस्थाने, पानीयस्थाने, शयनस्थाने, स्वाध्यायशालाया, सामायिकस्थाने, पूजनगृहे, आपणे, तथा यत्र अग्न्यादिसस्थापन क्रियते तत्रापि उपरि मण्डपो विधेय । वितानविबन्धनेन गृहस्योर्ध्वभागे आच्छादितै खर्परादिभि वशादिभिश्च जीवाना पतन न स्यात्, यदि स्यात् तर्हि वितानस्योपर्यव नान्नादौ पूजनादिवस्तुनि भूमौ शरीरे वा । तत्र पतने तेषा घात एव स्यात् । अतो दयापरैस्तत्र तत्र वितानस्य प्रबन्धोऽवश्यमेव कार्य । १४६ ।

दयावान् श्रावकोका कर्त्तव्य है कि अपने गृहमे चक्की आदि ग्यारह स्थानोके ऊपर चँदोवा जो कि अच्छे वस्त्र आदिका बनाया गया हो तथा छिद्ररहित हो बाँधे। अर्थात् चक्कीके ऊपर, अन्नके कूटनेके स्थान पर, रसोई करनेके स्थान पर, पानी रखनेके स्थान पर, भोजन करनेके स्थान पर, दुकानके स्थान पर, शयनके स्थान पर, स्वाध्यायशालामे, सामायिक व उपवास करनेके स्थानमे, पूजा और यज्ञके स्थानमे तथा अन्यत्र जहाँ कही भी अग्नि जलाने या रखनेका काम पडे उन सब स्थानो पर चँदोवा बाँधना चाहिये। मण्डप बन्धनसे गृहके ऊपर भागके छप्परसे व वासोंके सडने आदिसे जीव जन्तु गिरने लगते हैं वे भूमिमे, अन्नादि वस्तुमे, पूजनादि सामग्रीमे, जलमे, तथा आगमे इत्यादि स्थानोमे न गिर कर मण्डपमे ही रह जायगे और तात्कालिक अवश्यभावी विनाशसे बच जायगे। अन्नादिकी शुद्धि भी रहेगी।

जिन स्थानोमे ऊपर छप्पर नही है वहाँ भी मकरीके जाल आदिके निमित्तसे जीव बाधा सम्भव है, अत मण्डप बन्धन करना चाहिये। पक्की छतोके या अन्य प्रकारके सिमेट आदिसे बने हुए स्थानोमे मण्डपकी क्या आवश्यकता है ऐसा प्रश्न हो सकता है ? उत्तर यह है कि विवेकी मनुष्य तो ऐसे स्थानोकी स्वच्छता रखकर जीवरक्षा कर सकता है। मण्डप बन्धनके उद्देश्यकी पूर्ति तो इससे हो सकती है, पर नियमका पालन नही हो सकनेसे परम्परा व मण्डप बन्धनकी पद्धति रुक जा सकती है। सर्वसाधारणको यह बोध होगा जो अमुक व्रती पुरुष मण्डप बन्धन नही करता तो मालूम होता है जो यह कोई आवश्यक परम्परा या पद्धति नही है। अत. परम्परामे नियमका घात न हो ऐसा विचारकर श्रावकको इन स्थानो पर मण्डप बन्धन करना ही चाहिए। १४६।

प्रश्न —को मौनधारणं क्व क्व कार्यं मे सिद्धये वद ।

श्रावकको मौन धारण करना भी आवश्यक सुना गया है। उसे किस किस अवसर पर मौन धारण करना चाहिए, कृपा कर कहे—

(अनुष्टुप्)

भोजने मैथुने स्नाने मल-मूत्रविमोचने ।
सामायिकेऽर्चने दाने वमने च पलायने ॥ १४७ ॥
सन्मौनधारणं कार्यं धर्मज्ञैः श्रावकैः सदा ।
यतः स्यात् सर्वकार्येषु शान्तिः सिद्धिर्निजाश्रिता ॥ १४८ ॥ युग्मम् ॥

भोजन इत्यादि :—श्रावकेण एतेषु दशसु कार्येषु मौनधारण कर्त्तव्यम् । भोजनकार्ये-मैथुनसेवने-स्नानकार्ये-मलत्यागे–मूत्रविसर्गे–सामायिककरणे–भगवत्पूजनादौ–यज्ञकार्ये–दानकरणसमये–वमने–पलायने च । सावधानतया जीवरक्षाविचारेण उक्तकार्याणि सम्पादनीयानि । अन्यमनस्कतया भोजनादिकरणे मैथुनादिकरणे मलमोचने वमने वा शारीरिकहानि स्यात् । तद्वत् अन्यमनस्कतया सामायिकादौ क्रियमाणे च यदर्थं तत्क्रियते न तस्य सिद्धि स्यात् । पलायने च वाग्व्यापारे क्रियमाणे शक्तिह्रासो भवति । कस्मात् सिद्धयर्थी शान्त्यर्थी च उक्तकार्येषु मौन कुर्वीत । १४७ । १४८ ।

भोजन, मैथुन, स्नान, मलत्याग और वमन आदि शारीरिक कार्यो मे तथा पूजन, यज्ञ, हवन, सामायिक और दान आदि पारमार्थिक कार्योंमे और कार्यवशात् यदि पलायन याने वेगसे गमन करना पडे दौडना पडे भागना पडे तो उस अवसरमे ऐसे दस मौको पर धर्मात्मा श्रावकोको सदा मौन धारण करना चाहिए। ये कार्य जीवरक्षाके ध्यानसे तथा शान्तिपूर्वक उक्त कार्योको पूरा करनेके अभिप्रायसे तथा धार्मिक कार्योंमे शुभ परिणामोकी सिद्धिके लिए मौन पूर्वक ही किए जाने चाहिए।

यहाँ पर मौनसे तात्पर्य इस बातका है कि जो काम स्वय अकेलेके करनेके हैं वहाँ तो सर्वथा मौन रखे। जहां पर अपने सिवाय दूसरे व्यक्तियोका भी सहयोग आवश्यक है वहाँ उस व्यक्तिके सिवाय अन्य किसीसे बातचीत न करे। सबधित व्यक्तिसे भी सबधित कार्यके लिए आवश्यक बात ही करनी चाहिए, चाहे जिस विषय पर पद पद पर मनमानी चर्चा न करनी चाहिए।

उदाहरणार्थ पूजा करनेवाला पूजा करते समय पूजा पढेगा तथा यदि कोई साथ पूजन करनेवाला है तो उससे पूजाके लिए आवश्यक वस्तुके सम्बन्धमे या पाठकी शुद्धि या अर्थके सवन्धमे जरूरतके स्थान पर अल्पमात्रामे बोलेगा। अन्य व्यक्तियोंसे बात न करेगा। मौनके बिना की जानेवाली क्रियाओमे चित्तकी एकाग्रता नही रहती और बिना एकाग्रताके अन्यमनस्क पुरुषके द्वारा किए गए भोजन, मैथुन, मलमूत्रत्याग, स्नान, वमन, पलायनादि कार्य अत्यन्त शारीरिक हानिको पहुँचाते है तथा ऐसे ही अन्य-मनस्कके सामायिक व पूजादिक कार्य उद्देश्यको पूरा नही करते। इस तरह लौकिक और पारलौकिक हानिको रोकनेवाले होनेसे मौनको उक्त कार्योंमे अवश्य धारण करना चाहिए। १४७। १४८।

प्रश्न —**किमर्थं जप्यते माला तद्रहस्यं गुरो ! वद ।**

हे गुरुवर ! श्रावक लोग मालाका जाप किया करते हैं उसका क्या प्रयोजन है, कृपा कर कहे—

(अनुष्टुप्)

संरम्भसमारम्भारम्भादिभेदाद्धि सर्वदा ।
वाक्कायचित्तचाञ्चल्यात् क्रोधादीनां वशङ्गता ॥१४९॥
अष्टोत्तरशतं पापं कुर्वन्ति प्रत्यहं जनाः ।
तन्नाशाय जप भक्त्या कुर्वन्तु स्वात्मचिन्तनम् ॥१५०॥ युग्मम् ॥

संरम्भेत्यादिः—प्रतिदिन श्रावक गृहाश्रमे मनसा वाचा कायेन च आरम्भपरिग्रहादिसवधिकार्याणि कर्त्तुमुत्सहते । स किल सरम्भ त्रिविध । तथा च तत्कर्तुं तत्कारणभूतसाधनाना सञ्चय करोति । स किल त्रिविध समारम्भ । तदनन्तर यदा किल कार्यं करोति स किल त्रिविधयोगसवधात् त्रिविध आरम्भ । तथा नवविधोऽप्येष क्रोधवशात् मानवशात् मायाकषायवशात् लोभवशाच्च क्रियते अत एष षट्त्रिंशद्विध स्यात् । षट्त्रिंशद्विधेऽपि पापे स्वय कृते अन्येन कारिते तथा अन्यकृते सति तदनुमोदिते च अष्टोत्तरशतसख्याकं पाप जना कुर्वन्ति अतस्तन्नाशाय तत्प्रमाणमणियुक्ता मालामादाय जिननामजप श्रावका भक्त्या कुर्वन्तु स्वात्मचिन्तनञ्च कुर्वन्तु । १४९ । १५० ।

किसी भी कार्यके करनेका इरादा (विचार) करना **संरंभ** है । उस कार्यके योग्य साधन सामग्रीका सग्रह करना **समारंभ** है । साधनोकी सहायतासे विचारित कार्यको प्रारभ करना **आरंभ** है । ये सरभादि तीनो कार्य मनमात्रसे भी होते हैं, वचनमात्रसे भी होते हैं और कायसे भी होते हैं अत तीनो भगोंके साथ सरभादिका सयोग होनेसे नव भग बनते है ।

ये नव भगवाले कार्य क्रोधके वशसे हो तो **क्रोधके नव भंग** हुए और ये ही नव भग वाले कार्य मान कषायके वश होकर किये जायँ तो वैसे ही **नव भग मानकषाय** के हुए । माया और लोभ कषायके आवेशमे भी ये नव हो सकते है, अतः **मायाके भी नव** और **लोभके भी नव भंग** हुए । सब मिलकर ९×४=३६ **भग पाप कार्यके** हुए ।

किसी भी कार्य को स्वय करना **कृत** कहलाता है । दूसरोसे कराना **कारित** कहलाता है और प्रेरणाके बिना भी यदि कोई स्वेच्छासे उक्त कार्य करे और दूसरा केवल उसका समर्थन करे तो वह **अनुमोदना** कहलाती है । वे ३६ भगवाले पाप कृतसे भी होते हैं, कारितसे भी होते हैं और अनुमोदनासे भी होते हैं अतएव उनको एकत्रित करने पर ३६+३६+३६=१०८ एकसौ आठ भग कार्यके हुए । इन एकसौ आठ भगोके द्वारा पचेन्द्रियोके विषय पोषणार्थ हिंसादि पाँच पाप गृहस्थ द्वारा हो जाते हैं । कुछ ज्ञातभावसे होते है और कुछ अज्ञात आदि भावसे होते हैं । उन सब पापोसे बचनेके लिए अथवा उनका नाश करनेके लिए ही १०८ बार पञ्च परमेष्ठी भगवान्का नामस्मरण उतनी मणिवाली मालासे किया जाता है । जप मालामे १०८ मणियाँ इसीलिए रखी जाती हैं । मालाके प्रारभमे या

अन्तमे दोनो ओरके धागोमे पिरोये गए तीन दाने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रयके स्मरणार्थ हैं। इनसे कम मणिवाली माला जपके योग्य नही मानी गई है। यदि मालामे पूर्ण १०८ मणियाँ न हो तो सुमेरुके ३ दानोके सिवाय १०८ के आधे ५४ या चतुर्थांश २७ मणिकी भी माला उपयोगमे लाई जा सकती है, पर उसे दो बार या चार बार फेरकर १०८ की सख्या पूरी कर दी जानी चाहिए। स्वात्मबोधको प्राप्त करनेके लिए स्वात्मबोध प्राप्त करनेवाले भगवान्का नामस्मरण ही एकमात्र हेतु है, अत माला जपनेका प्रयोजन अपने पापोका नाश करना है।

माला जपते समय श्रावकको विचार करना चाहिए कि मैंने क्या-क्या पाप आज किए हैं। उनकी आलोचना करे। अपने पापो पर पश्चात्ताप करे। अपनी कमजोरी पर दुखी हो। पापोसे छूटने के लिए निष्पाप रूप भगवान्का नामस्मरण कर विचार करे जो मैं पापोसे छूट जाऊँ। भविष्यमे मैं पापोसे कैसे बचूँ इसका विचार करे। ऐसा करनेवालेके पुराने पापोका क्षय होता है और नवीन पापका बध नही होता।

भगवान्का दर्शन, पूजन, स्वाध्याय, सामायिक, आलोचना, स्तुति, वन्दना और जप आदि समग्र धर्मकार्य स्वात्मबोध प्राप्त करनेके लिए ही किए जाते हैं। जो लोग इन कार्योंको उनके प्रयोजनका विचार किए बिना करते है वे उसके यथार्थ फलको प्राप्त नही होते। उनके प्रत्येक धर्मकार्य केवल रूढि-परक हैं। उनसे परम्परा तो चलती है पर चालकका स्वत' का लाभ जैसा चाहिए वैसा नही होता है।

जैसे स्नान एक कार्य है, भोजन एक कार्य है, दन्तधावन एक कार्य है व टोपी लगाना एक कार्य है इसी प्रकार दर्शन-पूजन करना, सामायिकपाठ, आलोचनापाठ व स्तुतिपाठ पढना एक कार्य है। जिनकी ऐसी दृष्टि है उन्हे जप आदिसे कोई लाभ प्राप्त नही होता। अतएव प्रत्येक धर्मक्रिया करते समय उस कार्यके मूलोद्देश्यको सदा सामने रखना चाहिए। यही बात जपके सबधमे भी है। गृहस्थको गृहाश्रममे २४ घटे आरंभादिकके कार्य लगे हैं और उनके पापका सञ्चय भी अवश्य होता है। उसके दूर करनेका एकमात्र उपाय जिनेन्द्र पूजन, नामस्मरण और गृह-रहित तपस्वियोको नवधा भक्ति-पूर्वक दान देना ही है। जपके समय अपने दैनिक कृत्योका हिसाब सही-सही हो जाना ही उसकी सफलता है।१४९।१५०।

प्रश्न —**श्राद्धेभ्यो ध्यानभेदानामुपदेशो विधीयते।**

यहाँ पर श्रावकोको ध्यानसबधी उपदेश भी आर्य आचार्य देते हैं—

(अनुष्टुप्)

रौद्रार्त्ते दु खदे ध्याने त्यक्त्वा कुर्वन्तु शक्तितः।
धर्मध्यान सदा श्रीद शुक्लध्यानस्य भावनाम्॥ १५१॥

रौद्रार्ते इत्यादिः—चतुर्विध भवति ध्यानम्—आर्त्त रौद्र धर्म्यं शुक्लञ्चेति। तत्र आद्ये दुर्ध्याने दु खदे ससारकारणे स्त। परे च धर्म्यशुक्ले मोक्षहेतू भवत। तस्मात् कारणात् दु खदे आर्त्तरौद्रे ध्याने त्यक्त्वा श्रीद कल्याणप्रद धर्मध्यान शक्तित सदा कुर्वन्तु तथा मोक्षस्य साक्षात् कारणस्वरूपस्य शुक्लस्य भावना कुर्वन्तु॥ १५१॥

किसी इष्ट पदार्थ या व्यक्तिके वियोगमे शोकरूप चिन्तवन करना **इष्ट वियोगज** आर्त्तध्यान है। इसी प्रकार किसी अनिष्ट कारक पदार्थ या व्यक्तिके सयोग होने पर उसके वियोगके लिए दुखी होना बार बार चिन्तवन करना **अनिष्टसयोगज** नामका दूसरा आर्त्तध्याय है। बीमारी आदि शारीरिक बाधा या मानसिक बाधा आने पर उसके दूर करनेके लिए जो एकाग्रचिन्ता रहती है वह **पीड़ाचिन्तन** नामक तीसरा आर्त्तध्यान है। भविष्यकालके लिए नाना प्रकारके भोगोकी इच्छा करना **निदान** नामका चौथा आर्त्तध्यान है। ये चार प्रकारके आर्त्तध्यान दुर्ध्यान है, अत त्याज्य हैं।

इसी प्रकार चार प्रकारका रौद्रध्यान भी त्याज्य है। हिंसामे, हिंसाके कार्योमे और उसके कारणोमे प्रसन्नता होना और उसीकी एकाग्र चिन्ता करना हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान है। इसी प्रकार मिथ्या भाषणमे, कपट करनेमे, दूसरोके ठगनेमे, धोखा देने और विश्वासघात करनेमे आनद मानना उसमे एकाग्र होना मृषानन्द नामका दूसरा रौद्रध्यान है। चोरी करनेमे, चोरीके उपाय बतानेमे, चोरीके उपाय ढूँढनेमे और उनकी चर्चाओके सुननेमे आनन्द मानने सबधी चित्तकी एकाग्रताको स्तेयानदी नामक तीसरा रौद्रध्यान कहते हैं। इसी प्रकार धनधान्यादि परिग्रह या स्त्री परिग्रहकी चिन्तामे एकाग्र होना परिग्रहानन्द नामका चौथा रौद्रध्यान है।

ये चारो प्रकारके आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान ससारी प्राणियोके सदा बने रहते है। उनका मन सदा पापोमे, पापोंके स्मरणमे और भविष्य कालमे भी नाना प्रकारके पापोपायोके सग्रहमे तल्लीन रहता है। वे उनमे ही आनन्द ढूँढते है अत इन दुर्ध्यानोके कारण ये चतुर्गतिके दुखोंके पात्र होते हैं अत. आत्महित वाछक धर्मज्ञ श्रावकोका कर्त्तव्य है कि इनका दूरसे ही परिहार करें तथा इनसे बचनेका सतत प्रयत्न करें और धर्मध्यानका आराधन करे।

धर्मध्यान भी चार प्रकारका शास्त्रकारोने बताया है। उनका स्वरूप निम्न प्रकार है। सर्वप्रथम, आज्ञाविचयधर्मध्यान है। जिनेन्द्र भगवान्के उपदेश और उनकी आज्ञाओके सबधमे अपने ध्यानको एकाग्र करना, उनका विचार करना और उनके प्रतिपालनकी चिन्ता करना यह सब आज्ञाविचय है। ससारके स्वरूपका चिन्तवन कर उसके दु खोसे स्वय भयभीत हो अपनेको व ससारके अन्य दुखी प्राणियोको ससार परिभ्रमणके घोर दुखोसे बचानेके उपायोका चिन्तवन करना उपायविचय या अपायविचय नामका दूसरा धर्मध्यान है। ससारमे प्राणी कर्मोदय जनित दुखोसे पीडित है अत शारीरिक या मानसिक पीडा आनेपर उद्विग्न हो उठता है घबडाने लगता है तथा सक्लिष्ट परिणामी भी हो जाता है। ऐसे समय कर्मके उदय उदीरणा आदिके कार्योंका विचार करनेसे बहुत कुछ धैर्य प्राप्त होता है तथा उस दु खको सहनेकी सामर्थ्य प्राप्त होती है, सक्लेश परिणाम घटते हैं तथा पापबध न्यून होता है। इन कर्म विपाकोका चिन्तन करना ही विपाकविचय नामक तीसरा धर्मध्यान है। संसारके स्वरूपका विचार करना कि लोक कितना बडा है, कहाँ पर क्या क्या रचनाएँ हैं, नरक कहाँ है, स्वर्ग कहाँ है, कहाँ भोगभूमि है तथा मुक्तिस्थान कहाँ है इत्यादि लोकालोकके स्वरूपका चिन्तवन करनेसे आत्माको अपनी यथार्थ स्थितिका बोध होता है और वह विकृतावस्था छोड स्वभावावस्थामे आनेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार लोकके सस्थानादिका चिन्तन करना सस्थानविचय नामा चौथा धर्मध्यान है।

शुक्लध्यानके भी ४ भेद है। पर पदार्थोसे आत्माके पृथक्त्वका विचार करना पहिला 'पृथक्त्ववितर्क वीचार' नामक शुक्लध्यान है। परका सबध छोडकर एकमात्र चैतन्य चमत्कारस्वरूप आत्ममात्रका

एकाग्र चिन्तवन करना यही एकत्व वितर्कवीचार नामका दूसरा शुक्लध्यान है। ये दोनो श्रुतकेवलीके ही होते हैं। तीसरा शुक्लध्यान सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति है जो केवली भगवान्‌के ही होता है। योगोके चाञ्चल्यको न्यून करना ही इस ध्यानका तात्पर्य है। चौथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक शुक्लध्यान है। इसका तात्पर्य है जो सम्पूर्ण योगोकी चञ्चलता वन्द हो जाय सर्व योग निरोधरूप होनेसे यह अयोग केवली भगवान्‌के ही होता है। इस ध्यानके समय मन, वचन तथा कायसंवधी सर्व योग वन्द हो जाता है। श्वासोच्छ्वासका चलना, नाडीगमन, हृदयस्पदन, रक्तसंचालन आदि सम्पूर्ण कायक्रियाएँ वद हो जाती हैं। सर्व आस्रव रुक जाता है और अ इ उ ऋ लृ इन पाँच अक्षरोके उच्चारणमे जितना समय लगता है उतनेमे ही जीव ससार अवस्थाका सदाके लिए परित्याग कर शाश्वत सुखका स्थान निरास्रव निर्बन्ध स्वरूप मुक्ति स्थानको प्राप्त हो जाता है।

श्रावकका कर्त्तव्य है कि आर्त्त और रौद्र रूप दोनो दुर्ध्यानोका त्याग करे और धर्मध्यानका आराधन करे तथा शुक्लध्यानको प्राप्त करनेकी भावना करे। यही आत्मकल्याणका मार्ग है। १५१।

प्रश्न —**निर्जीवदेहदहनादिविधि कथं मे कार्यो कृपाश्रय ! गुरो! गृहिभिः स्वशान्त्यै ॥**

हे गुरुदेव ! मृतदेहका सस्कार किस विधिसे करना चाहिये जिससे कि गृहस्थ अपवित्रतासे दूर होकर आत्मशान्त्यर्थं धर्मका पालन कर सके—

(वसन्ततिलका)

श्राद्धैश्च शास्त्रविधिना विमले वनादौ
निर्जीवदेहदहनादिविधिर्विधेयः ।
हाहादिरोदनकृतिर्न मनाग्विधेया
पश्चाद्यतो न हि भवेत् किल कर्मवन्धः ॥ १५२ ॥

श्राद्धैश्चेत्यादिः—शास्त्रविधिना जीवजन्तुबाधारहिते विमले निर्जीवे एकान्ते वनादौ प्रदेशे नेत्रास्खलन-नाडिकासञ्चालन-हृदयास्पदनादिभिर्निश्चितस्य निर्जीवदेहस्य श्राद्धै दहनादिविधि अग्निना सस्कारो विधेय । शोका-विष्टै तै हा हा इति दैन्येन रोदनकृति मनागपि न विधेया यतस्तत्करणे किल पापवन्ध एव भवति । १५२ ।

शास्त्रोक्त विधिके अनुसार परीक्षित मृत देहको नेत्रकी स्थिरता, नाडीका न चलना व हृदयस्पदन न होना आदि चैतन्याभाव सूचक लक्षणोसे निर्जीव पहिचान कर एकान्त जीव-जन्तु बाधारहित निर्मल वन आदि प्रदेशमे अग्नि द्वारा सस्कारित करना चाहिए। साधर्मी भाइयोका कर्त्तव्य है कि लौकिक सम्मान की व व्यवस्थाकी दृष्टिसे मृतको सामूहिक रूपसे स्मशानमे ले जाँय। वहाँ वायुके सञ्चार तथा जलस्नानादि द्वारा उसकी बार बार परीक्षा हो जाने पर ही उसका निर्जन्तु काष्ठादिकी अग्निसे सस्कार करें। मृत मनुष्यके नजदीकी और स्नेही बन्धु ही प्रथम अग्नि सस्कार करें। इस नियमका पालन करनेसे कभी रुग्णावस्था व दुर्बलावस्थासे मूर्च्छित व्यक्तिका किसी शत्रुभाववाले व्यक्ति द्वारा जीवितावस्थामे ही अग्निदाह हो गया ऐसी शकाको स्थान नही रहता। अग्निदाह समाप्त होने पर तृतीय दिवस या पञ्चम दिवस भस्म तथा अस्थियोको भूमिमे गड्ढा कर उसमे गाड देना चाहिए। नदी आदि जलाशयमे उस क्षार पदार्थको नही डालना चाहिए क्योकि ऐसा करनेसे नदीके असख्य प्राणियोका—जल जन्तुओका घात

होता है। अनेक लोग गङ्गादि नदीमे अस्थि विसर्जन पुण्य मानते है। वे समझते है कि गगादि स्नानसे आत्मा पवित्र होती है अत मृत देहको भी गगा स्नान कराना पवित्रताका हेतु होगा और मृतात्माका उद्धार होगा। यह वात नितान्त असत्य है। कारण गगादि नदीका जल शारीरिक मैलको धो सकता है। आत्माकी मलीनता तो पापोंके गलनेसे ही जा सकती है। जैसे कुरतेमे लगा हुआ मैल धोतीके धोनेसे नही छूट सकता, वैसे ही शरीरका मैल धोनेसे आत्माका मैल—पाप नही धुल सकता, अत गगादिमे अस्थिविसर्जन करना व्यर्थ है। यह असत्कल्पना उन ठगो द्वारा बना दी गई जो उन तीर्थों पर इन कार्योंसे ही रुपया पैदा करते हैं। मरणके बाद जीव अपने कर्मानुसार ३ समयके भीतर जन्म ले लेता है उसका क्या उद्धार होगा ?

इष्टवियोगजन्य दु ख अवश्य मोही जीवोको होता है। उस दुखमे अनेक जन अपने व ससार के स्वरूपको भूलकर अत्यन्त उद्विग्न हो उठते हैं और हाहाकार मचाते है। वे यह नही सोचते कि जीवनके साथ मरणका अविनाभावी सबध है। जो जन्म लेता है उसका मरण अवश्यभावी है। और जो अवश्यभावी है वह हमारे हाहाकारसे नही मिट सकता। अत' ससारकी विनाशशीलताका विचार कर शोकको दूर करना चाहिए। यह विचार करना चाहिए कि यह जीव अनादि कालसे कर्मबद्ध हो नाना जन्मोमे भ्रमण करता फिरता है। यह मनुष्ययोनि भी उन अनन्त भवोमे से एक है। विना मरणके पुनर्जन्म कैसे सभव है ? और ससार तो जन्म-मरणोंके समूहका ही नाम है। स्वोपार्जित कर्मको यह जीव अकेला ही भोगता है, कोई दूसरा इसका साथी नही है। जब यह उत्पन्न होनेके समय अकेला ही आया है तब अकेला ही तो जायगा। जिस देहके साथ यह उत्पन्न हुआ था वह देह भी तो साथ नही जाती। तब अन्य भाई-बधु आदि कहाँ तक उसका साथ दे सकते हैं।

यथार्थ दृष्टिसे विचार किया जाय तो भाई, बहिन, माता-पिता, पुत्र, मित्र, स्त्री और पति आदि लौकिक सगे सबध है वे सब कल्पित हैं। यहाँ अकेला उत्पन्न होनेपर भी प्राणी दूसरे प्राणियोसे केवल जन्म निमित्तसे सबध जोड लेता है। जब जन्म ही मरणावस्थाको प्राप्त हो गया तब जन्मसबधी कल्पित सबंध भी तो स्वय समाप्त हो गए अत शोक कैसा ? ये कल्पित सबध भी तो कुछ न कुछ स्वार्थको लेकर होते है। जिन-जिनका स्वार्थ एक साथ बँधा है वे परस्पर सम्बन्धी कहलाते हैं। माता-पिताका स्नेह कब तक हृदयमे बसता है जब तक उनसे अपना प्रतिपालन होता है। जब पुत्र समर्थ हो जाता है तब पत्नीका दास हो जाता है और माता-पिताका धन ले लेता है। उन्हे केवल दो रोटीका मुहताज वना देता है। पत्नीका स्नेह कवतक रहता है जब तक विषयवासना सधती है। यदि वह न सधे तो परस्पर कलह होने लगती है। भाई-भाईका प्रेम कवतक है जब तक धनका बाँट नही है, उसके वाद पडोसी जैसा व्यवहार रह जाता है। इत्यादि ससार और सगे सबधियोका यथार्थ रूप देखकर और विचार कर मोहका त्याग करे। हाहाकार न करे। किन्तु अपने कर्त्तव्यका पालन करे। अपने मृत सबधीके पुत्र, पुत्री अबोध हो तो उनका पालन करे। उसकी सपत्तिकी नि.स्वार्थ समुचित व्यवस्था करे। उसके कुटुबकी व्यवस्था करे। यह सब कर्त्तव्यकी दृष्टिसे करना चाहिए। रोग-शोक आदिको छोड कर्त्तव्य पालन करना ही सच्ची मानवता है। १५२।

प्रश्न —**किं सूतकविधेश्चिन्ह वर्तते मे गुरो वद।**

हे गुरुदेव ! सूतक क्या है, उसका स्वरूप क्या है, उसका पालन करनेका क्या श्रम है, कृपा कर कहे—

(अनुष्टुप्)

मरणे सूतक प्रोक्तं बन्धोर्मातुः पितुः कृते ।
द्वादशाहप्रमाणमन्येषां हीनं यथाक्रमम् ॥ १५३ ॥
जन्मन्यपि तथा प्राहुर्दशदिनप्रमाणकम् ।
स्ववंशिनां तथान्येषां हीनं ज्ञेय यथाक्रमम् ॥ १५४ ॥

मरण इत्यादि—स्ववशजस्य बन्धोर्मातु पितुश्च मरणे सति द्वादशदिनप्रमाण सूतक भवति । एव द्वादशदिनप्रमाण सूतक प्रपितामहपर्यन्तमेव । तदनन्तर वशस्य परम्पराया यथाक्रम हीनदिनप्रमाण सूतक ज्ञेयम् । एवमेव बालकस्य जन्मनोऽपि सूतक भवति किन्तु तद् दशदिवसपर्यन्तमेव । सूतकमिद पुत्रस्य पौत्रस्य प्रपौत्रस्य च भवति । तदनन्तर वशपरम्पराया यथाक्रम हीन ज्ञेयम् ।१५३।१५४।

अशुद्धिका नाम अशौच है । जिससे यहाँ किसीका मरण हो तो उस मृत शरीरके निमित्तसे उसके गृहमे अपवित्रताका वास हो जाता है और वह अपवित्रता केवल स्नान तथा वस्त्र धोनेसे नही मिटती, बल्कि यथाकाल दूर होती है । आठ प्रकारकी लौकिक शुद्धियोमे कालशुद्धिको भी श्री अकलक देवने स्थान दिया है । इस अशौचकी शुद्धि कालसे ही होती है । यह अशौच बालकके जन्म निमित्तसे भी होता है ।

मृतकके अग्निदाहमे असख्य प्राणियोकी हिंसा होती है । मृतशरीर अन्तर्मुहूर्तके बाद ही अनन्त जीवोकी उत्पत्तिका स्थान हो जाता है । उन जीवोकी हिंसा श्रावकके लिए अग्नि सस्कारमे अनिवार्य होती है इस लिए भी उसे इस निमित्तसे अशौच प्राप्त होता है । इसी प्रकार जन्मके समय बालकके साथ जो माताके उदरसे जर आदि निकलती है वह भी अनन्त जीवोकी उत्पत्तिका स्थान है उसे भी भूमि आदिमे गडवाकर नष्ट करना पडता है जिसमे उन प्राणियोको हिंसा बच नही सकती । इस पापके कारण उस समय भी अशौच प्राप्त होता है ।

मृतकके वस्त्रादिके सबधका तथा परम्परा सबधका विछिन्न होना तत्काल सभव नही है । इसी प्रकार प्रसूताके अपवित्र वस्त्रोका सबध तथा जन्मे हुए बालकका सबधसे छूटना शक्य नही है । कही कही किसी किसी देशमे इनका बहुत सावधानीसे परहेज रखा जाता है पर यह सर्वत्र नही होता और न सभव ही है । मरण समय शोकातुरताके कारण और पुत्रोत्पत्तिके समय हर्षातिरेकके कारण परहेज कम होता है अत यह अपवित्रता भी बिना काल शुद्धिके दूर नही होती भले ही उसके पूर्व घरकी स्वच्छता तथा वस्त्रोकी स्वच्छता कर ली गई हो ।

शोकातिरेक और हर्षातिरेक दोनोमे रागद्वेषकी प्रबलता मनमे उत्पन्न हो जाती है । रागद्वेषका अतिरेक भी एक महान् अशौच है । तात्कालिक मरण और जन्मकी घटनाओसे वह अशौच शीघ्र नष्ट नही होता । उसे शान्त होनेमे कुछ काल लगता है उसे ही कालशुद्धि या सूतक शुद्धि कहते हैं । जिनके यह रागद्वेषका अतिरेक हो उनको मन्दिर आदि पवित्र स्थानोमे जाना तथा पूजनादि धार्मिक क्रियाएँ करना वर्जित है । यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि ऐसे समय धार्मिक कार्योंको वर्जन कर और भी अनर्थ किया जाता है । धर्मकार्यके लिए यह रुकावट कैसी ? धर्मसे तो अशुद्ध व्यक्ति भी शुद्ध बन जाता है । इस प्रश्नका समाधान यह है कि प्रत्येक व्यक्ति जो धर्मस्थानोमे धर्मलाभार्थ जाता है उसका सबध उस

तक ही सीमित नही है, किन्तु उसके निमित्तसे अनेक दर्शनार्थी, पूजार्थी, स्वाध्यायार्थी भाइयोंसे भी उसका सम्बन्ध है जो कि उक्त लाभके लिए जिन मन्दिरोमे जाते हैं। उक्त अशौचके समय सम्वन्धित व्यक्ति मन्दिरमे जाकर भी अपनेको नही सम्हाल पाता बल्कि अपने शोकके कारण अन्य उपस्थित व्यक्तियोको भी शोकाविष्ट बना देता है। तद्वत् हर्षातिरेकवाला मन्दिरमे स्थित प्रत्येक साधर्मीके सामने अपने हर्षकी चर्चा कर बैठता है। इन दोनो कार्योंसे दर्शनार्थी और पूजनार्थी भाइयोका समय भी व्यर्थ जाता है, वे भी उसके शोक या हर्षके प्रवाहमे वह जाते है। अत सूतकके दिनोमे अशौच मान कर समष्टिगत धार्मिक कार्योंसे दूर रहकर व्यक्तिगत सामायिकादिस्तुति व पाठादि धार्मिक कार्योंके द्वारा धर्मका साधन करना चाहिए।

मृत रोगीकी बीमारी भी यदि कोई छुआछूतकी हो या राजरोग हो तो उसके सम्पर्कमे रहनेवाले वस्त्रादिकी तथा सम्वन्धित व्यक्तियोकी शुद्धि जब तक न हो जाय तब तक सम्पर्क रखनेसे बीमारीके फैलने या बढनेका शक बना रहता है, अत लौकिक लाभकी दृष्टिसे भी सूतक विधिको मानना लाभदायक है। मरणका सूतक वशकी तीन पीढी तक अथवा खुदकी पीढी जोडकर चार पीढी तकके लोगोको १२ दिनका लगता है। तथा जन्मसम्बन्धी सूतक दश दिन प्रमाण लगता है। इसके बाद भी पीढियोमे क्रम क्रमसे दोनो सूतक हीन होते जाते हैं। इन दिनोमे श्रावकको अशौच सम्बन्धी सभी नियमोका नियमित पालन करना चाहिए। अन्यथा अनेक प्रकारकी हानि होना सम्भव है।१५३।१५४।

प्रश्न :—वद सूतकचिह्नं किं वा तत्प्रयोजनं गुरो।

हे गुरुदेव। सूतकका चिह्न क्या है। तथा सूतक माननेका प्रयोजन क्या है कृपाकर कहे—

(अनुष्टुप्)

मृतस्य देहससर्गात् वस्त्रपात्रगृहादिकम्।
स्याद् दुर्गन्धमयं हेय तच्छुद्धयै सूतकस्य वा ॥ १५५ ॥
की मिथो मोहनाशाय तदेव क्रियते विधिः।
नृणां वृत्तिः पशोर्भिन्ना बोधार्थमिति धार्मिकैः ॥ १५६ ॥ युग्मम् ॥

मृतस्येत्यादि—मृतप्राणिन देह स्वय रोगाणा मन्दिरमस्ति। तथा मरणानन्तर तु शरीर तत्कालत एव गलति तथा जीवराशयस्तत्र समुत्पद्यन्ते। अत दुर्गन्धमयमपि भवति। तत्सम्पर्कात् वस्त्रादिक पात्रादिक गृहादिकञ्च दुर्गन्धमय भवति। तदशुद्धयर्थं सूतक क्रियते। तथा मिथ परस्पर या मोहस्य परम्पराऽस्ति यया स जीव विकलीक्रियते तन्नाशाय कालस्यापेक्षा वर्तते अत सूतकस्य विधि क्रियते। नराणा वृत्ति पशुतो भिन्ना एव इति परिज्ञानार्थं धार्मिकै सूतकस्य विधि क्रियते।१५५।१५६।

मृत मनुष्योका शरीर एक तो स्वय रोगोका मन्दिर है अत वैसे ही अपवित्र रहता है। उससे सम्वन्धित वस्त्र, पात्र और गृहादिक भी गलित शरीरकी दुर्गंधिके समान दुर्गन्धमय रोगकारक बन जाते हैं, अत उन अशौचसे बचनेके लिए सूतक विधिके नियमोका पालन आवश्यक है। गलित शरीरमे असख्य जीवराशि उत्पन्न होती है, उनका विनाश भी रुक नही सकता। इसलिए तथा परस्परमे जो मोहका अतिरेक है उसे दूर करनेके लिए भी काल अपेक्षित है। अत जन्म मरणका अशौच उक्त कालकी मर्यादाके भीतर बताया गया है।

मनुष्यकी प्रत्येक वृत्ति विवेकपूर्ण है पशुओकी तरह अविवेक पूर्ण नही है इस वातका बोध भी इन आवश्यक नियमोंसे ही मालूम पडता है, अत इनका पालना आवश्यक कर्त्तव्य है। जो लोग इन शास्त्रोक्त लाभदायक नियमोका पालन नही करते वे शारीरिक और धार्मिक हानिको उठाते हैं अत पूर्वज आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सूतक पातककी विधिका यथायोग्य पालन करना ही श्रेयस्कर है। जन्म सबधी अशौचको सूतक तथा मरण सबधी अशौचको पातक कहते हैं। लोकमे दोनोको सूतक शव्दसे व्यवहार करते हैं अत यहाँ दोनो को सूतक शब्द लिखा गया है। १५५। १५६।

प्रश्न —श्रीदं न गृह्णाति यथार्थधर्मं स कीदृशो मे वद विश्वशान्त्यै।

हे गुरो! कल्याणकारक धर्मको जो नही धारण करता वह मनुष्य कैसा है? विश्वशान्तिके लिए उसका स्वरूप वताइये—

(अनुष्टुप्)

करोति केवल कौ यो धर्मं रूढ़िवशात्सदा।
न जानाति गुणान् दोषान् धर्मस्यापि स्वबुद्धितः ॥ १५७ ॥
नेत्रवानपि चान्धः स बुधोऽपि मूर्ख एव सः।
स कलहप्रियो मन्ये स्वर्मोक्षसौख्यदूरगः ॥ १५८ ॥ युग्मम् ॥

करोतीत्यादिः—य मूर्ख धर्मस्य स्वरूप न जानाति अथवा जानन्नपि तस्य विश्वकल्याणकारकस्य धर्मस्य स्वबुद्धित श्रद्धान न करोति। अधर्मस्य दोषानपि यो न वेत्ति। तथा च केवल वशपरम्परागतत्वात् लौकिकरूढिवशादेव धर्मं पालयति न वेत्ति तत्स्वरूप स कलहप्रिय स्वर्गसुखतस्तथा मोक्षसुखतोऽपि अत्यन्त दूरे एव इति अह मन्ये। १५७। १५८।

धर्म और अधर्मके स्वरूपको और उसके गुण दोषोको विचार कर जो अधर्मका त्याग कर धर्मका पालन करता है वह मनुष्य बुद्धिमान् है। किन्तु जो धर्माधर्मके स्वरूपको नही जानता अथवा जानकर भी स्वयकी बुद्धिसे विवेकको प्राप्त न होकर केवल रूढिके वश यह समझकर धर्मका पालन करता है कि यह तो मेरा वश परम्परागत धर्म है अत पालना चाहिए, वह मनुष्य धर्मात्मा नही है। वह केवल पर्यायबुद्धिवाला है। जैसे वह जैन कुलमे उत्पन्न होनेसे जैन धर्मको कुलधर्म मानता है इसी प्रकार विधर्मियोंके कुलमे उत्पन्न होनेपर वह उसे भी कुलधर्म मानकर पालन करता। जिस पर्यायमे जीव जाता है उसे ही अपनी करके मान लेता है, इसमे विवेकका कार्य कहाँ है। जो विवेकसे जैनधर्मको आत्मधर्म मानकर पालन करेगा उसका ही कल्याण होगा।

जो धर्मके स्वरूपको जानकर भी उसे लौकिक रूढि मात्रसे पालता है, आचार्य कहते हैं वह नेत्रवान् होते हुए भी अधेके ही समान है। वह केवल कलहप्रिय है, धर्मप्रिय नही। वह धर्मके सुन्दर फल स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्तिके मार्गसे बहुत दूर है ऐसा हम मानते हैं। अत विवेकी मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह जो कुछ भी कार्य करे उसे विवेककी कसौटी पर कस लेवे और हितकर सिद्ध होनेपर उसे आचरणमे लावे। अविवेकी मनुष्य ठगाया जाता है वह हित मार्गके स्थानमे रूढि या परम्परा को ही धर्म मानकर कभी-कभी अधर्म या अहितके मार्गको ही हितकर मान बैठता है अत विवेकपूर्ण क्रिया ही श्रेयस्कर है। १५७। १५८।

प्रश्न—कीदृक् तर्हि गुरो ग्राह्यो धर्मो मे सिद्धये वद ।

हे गुरुदेव ! मुझे अपने कल्याणको सिद्धिके लिए कैसा धम ग्रहण करना चाहिए, कृपाकर बताइए—

(अनुष्टुप्)

कौ वीतराग एवास्ति सद्धर्मो विश्वरक्षकः ।
सोऽपि तत्रैव विज्ञेयो यत्रेर्ष्याद्या न दुःखदाः ॥१५९॥

काविल्यादिः—यत्र दु खदा ईर्ष्याद्या क्रोधादय आत्मविकारा न स्युः स एव धर्म । स एव विश्व-रक्षक । ईर्ष्याद्या एव परस्पर सघर्षमुत्पादयन्ति । सघर्षत एव अशान्तिर्भवति । अशान्तिस्तु विश्वनाशिका । तस्मात् कारणात् विश्वकल्याणार्थं तु अशान्तेर्मूलकारणाना पारस्परिकस्वार्थसघर्षाणा तदुत्पादकानामीर्ष्यादीना-मात्मविकाराणा परिहार कर्तव्य । स एव वीतरागधर्म । तेनैव धर्मेण जगति सुखस्य शान्तेश्च समृद्धिर्भवति । अत स एव धर्म ग्राह्य । १५९ ।

धर्म शब्दका अर्थ अपना कर्त्तव्य है। जब कि यह परीक्षित, स्वानुभूत तथा सुनिश्चित है। ससारका प्रत्येक प्राणी सुख और शान्तिको पसन्द करता है, वह दु खमय तथा अशान्तिमय जीवन नही चाहता, तब यह भी सुनिश्चित है कि जिस मार्गसे उसे सुख और शान्ति प्राप्त हो वही उसका कर्तव्य है और वही कर्तव्य उसका धर्म है।

ससारी प्रत्येक आत्मामे कुछ गुण भी हैं और कुछ दोष भी। गुण आत्माका स्वभाव है, और दोष आत्माके गुणोका विकार है। आत्मा जितना अपने स्वभाव रूपको प्राप्त करेगा उतना ही अपने धर्मके निकट आयगा और जितना विभाव रूप परिणत होगा उतना ही आत्मधर्मसे दूर होगा। ईर्ष्या, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर आदि आत्माके विकारी भाव हैं। इनके होनेपर आत्मा अपनी स्वतत्र सत्ताकी परसे भिन्नताका भान नही करता। उसकी दृष्टि परपदार्थ पर रहती है। उसकी प्राप्तिमे लाभ और अप्राप्तिमे अलाभ मानता है। ये परपदार्थ सघर्षके कारण हो जाते हैं। इनकी प्राप्तिके लिए अनेक मिथ्यात्वी मोही प्राणी सदा लालायित रहते हैं और उसके लिए लडाई, झगडा, ईर्ष्या, द्वेष, मोह, मत्सर आदि किन्ही भी दुर्गुणोसे नही डरते।

सम्यग्दृष्टि पुरुष निर्मल दृष्टि होनेसे सदा आत्मगुणोकी प्राप्तिके लिए ही प्रयत्नशील होते हैं। वे अपने विकृत भावोका विश्लेषण करते है और उनसे दूर रहनेका प्रयत्न करते है। पर पदार्थोंको वे "पर" मानकर उनके लिए कभी किसीसे सघर्ष नही करते। उन्हे आत्माकी स्वतन्त्र सत्तामे—उसकी अमरता पर विश्वास है, अत. आत्माके मिथ्या तोषके लिए पर पदार्थको प्राप्त करनेका प्रयत्न विल्कुल नही होता। वे परसे राग द्वेप मुक्त होकर वीतराग स्वरूप परम धर्मको ही पालन करते हैं। विश्व-शातिका यही सर्वोत्कृष्ट मार्ग है अन्य नही, अत धर्मका स्वरूप जानकर उसे ग्रहण करना चाहिए।१५९।

प्रश्न—के वीतरागधर्मस्य रक्षका स्युर्गुरो वद ।

हे गुरुदेव ! वीतराग धर्म तो उपेक्षकोका धर्म सिद्ध हुआ, उसकी रक्षा कौन करता है ? गुरु उत्तर देते हैं—

(अनुष्टुप्)

श्रीवीतरागधर्मस्य स्वर्मोक्षसुखदायिनः ।
कौ त्रिषष्टिशलाकादिपुरुषा सन्ति रक्षकाः ॥१६०॥
नीतिज्ञा निर्मदाः स्वस्था वाभवन्विश्वनायकाः ।
तदनुकरणं कार्यं ज्ञात्वा शान्त्यै विचक्षणैः ॥१६१॥
श्रीवीतरागधर्मस्य यतः स्यात्सर्वभूतले ।
प्रचारः कार्यरूपेण स्वात्मचर्चा गृहे गृहे ॥१६२॥ विशेषकम् ॥

श्रीवीतरागेत्यादिः—वीतरागधर्म एव मोक्षप्रदायक स पूर्वं स्वर्गादिसुखप्रदायकोऽस्ति । तद्धर्मप्रतिपालका तद्वृद्धिकारकास्तत्प्रचारकाश्च त्रिषष्टिसख्याका शलाकापुरुषा भवन्ति । चतुर्विंशति तीर्थकरा द्वादश चक्रवर्तिन नव नारायणा नव प्रतिनारायणा नव बलभद्राश्चेति प्रमुखा श्रेष्ठपुरुषा शलाकापुरुषा कथ्यन्ते । तीर्थंकरा किल प्रथममेव स्वतपोबलेन ज्ञानावरणादिघातिचतुष्टय हत्वा केवलज्ञानमुत्पाद्य जगति तत्त्वदेशनाङ्कुर्वन्ति । जगद्धितैषिणस्ते विश्वनायका रागद्वेषमदाद्यष्टादशदोषविरहिता अनात्मार्थमेव विश्वशान्त्यै धर्मोपदेश कुर्वन्ति । भूपतय चक्रवर्तिनस्तु तद्धर्मं पालयन्ति प्रजाजनेषु तदानुकूल्येनैव व्यवस्थाङ्कुर्वन्ति यत स्यात् सर्वत्र शान्ति । तद्वत् स्वस्वसमये प्रतिनारायणा समुत्पद्यन्ते तेऽपि यथायोग्य धर्ममनुपालयन्ति । त्रिखण्डभूपतयस्ते आर्यखण्डे म्लेक्षखण्डद्वये च विद्यमानान् नृपतीन् साधयन्ति तान् विनिहत्य नारायणा किल खण्डत्रयस्याधिपतयो भवन्ति । तद्भ्रातरस्तु बलभद्रा निर्मदा नीतिसञ्चालका भवन्ति । यदाज्ञा उल्लङ्घयितुमसमर्था एव भवन्ति नारायणा । अत्यन्त स्नेहो भवति परस्पर उभयोरपि । इति नारायणा बलभद्राश्च सद्धर्ममनुपालयन्ति । यथा किल एतैर्महापुरुषै धर्म आराधित यथा च प्रसारित यथा वर्धित यथा लोके स्थिरीकृतस्तत्प्रसादाच्च साक्षात्परम्परया वा स्वात्मसुखमासादित तथैव तेषामनुकरण सर्वैरपि कार्यम् । एव कृते सति जगति सघर्षाभावे सति सुखदायिनी शान्तिर्भविष्यति । सर्वप्रकारेण सुखसमृद्धिकारकस्य श्रीवीतरागस्वरूपस्य वीतरागप्रणीतस्य वा सद्धर्मस्य कार्यरूपेण सर्वत्र भूतले प्रचार कर्त्तव्य यत सर्वत्र गृहे गृहे स्वात्मचर्चा एव स्यात् । स च सम्यक् स्वार्थ । ग्राह्यस्तु स विश्वकल्याणकारक । धनादिना खलु य स्वार्थ साध्यते स विश्वघातक एव । तन्नाश एव सम्यक्स्वार्थ । तत्साधनङ्कर्तव्यमेव । तेनैव लोकहितम्भवति इति ज्ञातव्यम् ।१६०।१६१।१६२।

इति श्रीकुन्थुसागराचार्यविरचिते श्रावकधर्मप्रदीपे पण्डितजगन्मोहनलालसिद्धान्तशास्त्रिकृताया प्रभाख्याया व्याख्याया च चतुर्थोऽध्याय समाप्त ।

भगवान् वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित रागादि दोषरहित स्वात्मधर्म स्वरूप सद्धर्म ही आत्माको ससारके बधनसे मुक्तिप्रदान करनेमे समर्थ है। वही सद्धर्म यदि पूर्णमात्रामे न हो सका और मुक्ति प्राप्त न हुई तो ससार अवस्थामे भी उसके प्रसादसे नरकादि दुखोका विनाश होकर स्वर्गादिमें सुखोकी प्राप्ति होती है। इस सद्धर्मके प्रमुख उपासक और निर्देशक तो भगवान् तीर्थंकर देव हैं जो प्रत्येक उत्सर्पिणी या अवसर्पिणीकालमे २४ होते हैं। वे अपने तपोबलसे घातिया कर्म ज्ञानावरणादिको नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त कर जगत्‌के हितके लिए ही तत्त्वोपदेश करते हैं। उन तीर्थंकरोंके कालमे मध्य मध्यमे (१२) चक्रवर्ती होते हैं जो षट्खण्ड भूमिके साधक होते हैं। समस्त भरत क्षेत्रके ३२ हजार मुकुटबद्ध राजा जिनके चरणोमे नमस्कार करते हैं उन चक्रवर्तियो द्वारा धर्मका

पालन होता है। वे धर्मानुकूल विश्वशान्तिके लिए ही जगत्का शासन करते है तथा तीर्थंकरोकी तरह ही प्राय तप करके मुक्तिको प्राप्त करते है।

अपने अपने समयमे चक्रवर्तीकी तरह तीन खड भूमिके अधिपति ९ प्रतिनारायण होते हैं ये भी यथायोग्य धर्मका पालन करते हैं तथा प्रजाजनोमे धर्मकी वृद्धि करते है। राज्य कारणोंसे इनका विनाश करनेवाले नारायण भी इनके ही समयमे होते हैं। उनकी भी सख्या ९ है। इनके बडे भाई बलभद्र कहलाते है। नारायण और बलभद्रमे अत्यन्त गाढ स्नेह होता है। ये सब २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ प्रतिनारायण, ९ नारायण और ९ बलभद्र कुल ६३ नररत्न प्रमुख शलाका पुरुप हैं जिनके द्वारा धर्मकी सदा रक्षा और वृद्धि होती आई है। जिसतरह उन्होने सद्धर्मका अनुपालन, प्रवृत्ति, प्रचार और वृद्धि की है ऐसी ही सबको करनी चाहिए। ऐसा होने पर ही जगत्मे सघर्षका अभाव होकर सुख और शान्तिकी वृद्धि हो सकेगी।

साराश यह है कि प्रजाजनोमे इतना ही नही विश्वके प्राणियोमे सुखशान्तिकी समृद्धि एकमात्र वीतराग धर्मसे ही हो सकती है, अत उसका कार्यरूपमे पालन व प्रचार सबको करना चाहिये, जिससे घर घरमे आत्मचर्चा सुनाई देवे। यह ही सच्चा स्वार्थ है। यह स्वार्थ ग्राह्य है। धनादिके रूपमे जो स्वार्थ है वह दु स्वार्थ है। वह सघर्षका कारण है। अशान्तिका मूल है। उसका त्याग ही सम्यक् स्वार्थ है, जो कि विश्वका कल्याणकारक है। उससे ही लोकका हित हो सकता है, अत सदा उसका पालन व प्रचार करना श्रेयस्कर है।१६०।१६१।१६२।

इस प्रकार आचार्य श्री कुन्थुसागरविरचित श्रावकधर्मप्रदीप व पण्डित जगन्मोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्री कृत प्रभानामक व्याख्यामे चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

प्रश्न —द्वितीयप्रतिमाचिह्नं किमस्ति मे गुरो ! वद ।

हे गुरुदेव ! दार्शनिक श्रावकका स्वरूप ज्ञात किया । अब दूसरी प्रतिमाका स्वरूप कृपाकर कहिए—

(अनुष्टुप्)

पञ्चाणुव्रतपूर्त्यर्थं त्रीणि गुणव्रतानि वा ।
चतुःशिक्षाव्रतान्येव गृहीत्वा स्वात्मचिन्तनम् ॥१६३॥
कुर्वन्ति ये यथाशक्ति दयाधर्मप्रभावनाम् ।
द्वितीयप्रतिमायास्ते भवन्ति स्वामिनः सदा ॥१६४॥ युग्मम् ॥

पञ्चेत्यादि.—तृतीयाध्याये पञ्चपापाना स्वरूप प्रतिपादितम् । तदेकदेशपरित्यागिन खलु श्रावका भवन्ति । श्रावकस्य देशव्रतान्येवाणुव्रतानि । तद्‌गुणवृद्धयर्थं खलु दिग्विरतिदेशविरत्यनर्थदण्डत्यागरूपाणि गुण-व्रतानि सन्ति । अणुव्रताना महाव्रतत्वापादनाय अभ्यासरूपाणि किल चतु शिक्षाव्रतानि ध्रियन्ते । इत्यनेन प्रकारेण द्वादश सख्याप्रमाण गृहिव्रत गृहीत्वा ये स्वात्मचिन्तन कुर्वन्ति ते स्वशक्त्यनुसार अहिंसामहाधर्मस्यैव प्रभावना कुर्वन्ति । त एव गृहिण द्वितीयप्रतिमाया स्वामिनो भवन्ति इति संक्षेपतः द्वितीयप्रतिमाया स्वरूप-मस्ति । १६३ । १६४ ।

तीसरे अध्यायमे पाँच पापोका स्वरूप निरूपण किया है । उन पापोका त्याग ही यथार्थमे व्रत है । यद्यपि पाँचो पापोका सम्पूर्ण त्याग गृहस्थके नही होता, तथापि एकदेशरूप त्याग गृहस्थ अवश्य कर सकता है । श्रावकके इस एकदेश पाप परित्याग रूप व्रतोको ही अणुव्रत कहते हैं । इन अणुव्रतोंसे दोष न लगें और गुणोकी वृद्धि हो इसके लिए तीन गुणव्रत अर्थात् दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डत्याग इनका पालन किया जाता है । इसी प्रकारसे अणुव्रतोको महाव्रत बनानेके लिए उसके अभ्यासस्वरूप ही सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसविभाग ऐसे ४ व्रत शिक्षाव्रतके नामसे गृहस्थके लिए बताए गए है । जो इन सम्पूर्ण व्रतोका निर्दोष निरतिचार पालन करते है तथा जो इस प्रकार पर पदार्थोंके सम्पर्कसे दूर रहकर स्वात्मचिंतवनकी ओर सम्मुख होते हैं वे ही द्वितीय प्रतिमाके धारक हैं ।

सभी व्रतका पालन एकमात्र महान् परमधर्म अहिंसा व्रतके पालनके लिए ही किया जाता है । असत्य, चौर्य, कुशील और परिग्रह ये चारो हिंसामूलक कार्य हैं । हिंसामूलक होनेसे ही इनकी पाप सज्ञा पडी है । रागादिपरिणामोंके द्वारा आत्मस्वभावका हनन ही हिंसा है । इस निमित्तसे राग, द्वेष, क्रोध और लोभ इनको हिंसाका पर्यायवाची कहते हैं । इन दुर्गुणोके कारण ही असत्य भाषण चौर्य और कुशील आदि

पाप होते हैं, अत इनके त्यागरूप व्रतोसे एक अहिंसा परमधर्मकी ही प्रभावना होती है। ऐसा करने-वाले महानुभाव गृही ही द्वितीय प्रतिमाके आराधक है ऐसा जानना चाहिये ।१६३।१६४।

प्रश्न —अणुव्रतानि हि कानि सन्ति गुणव्रतानि वा।
वद शिक्षाव्रतानीति ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वत ॥

हे गुरुदेव, अणुव्रत क्या हैं, कौन हैं, तथा गृणव्रत और शिक्षाव्रत कौन हैं ? मैं उनका यथार्थ स्वरूप जाननेकी इच्छा करता हूँ, कृपाकर कहे—

(अनुष्टुप्)

अहिंसा सत्यमस्तेयं परदारविवर्जनम्।
परिग्रहपरित्यागः ज्ञेयान्यणुव्रतानि हि ॥ १ ॥
दिग्देशविरती चैवाऽनर्थदण्डव्रतं तथा।
गुणव्रतानि चैतानि गुणवृद्धेस्तु हेतुतः ॥ २ ॥
सामायिकोपवासौ तु व्रत भोगोपभोगयोः।
वैयावृत्यं च चत्वारि नित्य शिक्षाव्रतानि तु ॥ ३ ॥
श्रावकाणां व्रतान्येतान्यथ विस्तारतस्तथा।
वक्ष्येऽह क्रमतोऽग्रे हि सावधानतया शृणु ॥ ४ ॥ कलापकम्। क्षेपकम्।

अहिंसेत्यादिः—अहिंसाव्रत सत्यव्रत अस्तेयव्रतं परदारविवर्जन स्वीकृतपरिग्रहस्य परिमाणञ्चेति पञ्चाणुव्रतानि भवन्ति। दिशासु गमनागमनविरतिरूपा दिग्विरति। तदन्तर्गतदेशेषु पुनरपि अल्पकालीना गमनागमन-विरतिरूपा देशविरति। स्वीकृतेष्वपि विषयेषु यदनावश्यक, तस्य परित्यागोऽनर्थदण्डविरत्ति। एतानि त्रीणि गुण-व्रतानि सन्ति। त्रिकाले समताभ्यासरूप सामायिकव्रत, पर्वणि प्रोषधोपवास, स्वीकृतेष्वपि भोगोपभोगेषु यथावश्यक परिहाररूप भोगोपभोगपरिमाण, वैयावृत्यञ्च इति चत्वारि शिक्षाव्रतानि सन्ति। एतानि द्वादशसख्यकानि एकदेशविरतिरूपत्वात् श्रावकस्य व्रतानि सन्ति। एतेषा विस्तरत स्वरूप क्रमशोऽग्रे वक्ष्यते। तत् सावधानतया शृणु ।१।२।३।४।

अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, परस्त्रीसेवात्याग और परिग्रह परिमाण ये पाँच व्रत अणुव्रत हैं। तथा दशो दिशाओमे गमनागमन परिमाणरूप दिग्व्रत, तथा उसीके भीतर अल्पकालके लिए निश्चित्त देशका ग्रहण रूप देशविरति और स्वीकृत विषयोमे अनावश्यक विषयोके त्यागरूप अनर्थ-दण्डविरति ये तीन गुणव्रत हैं।

प्रात मध्यान्ह और सायकाल त्रिकालमे समताके अभ्यासरूप सामायिक, पर्वके दिनोमे प्रोष-धोपवास, स्वीकृत परिग्रहमेसे अनावश्यक भोग और उपभोगोका त्यागरूप भोगोपभोग परिमाणव्रत तथा धर्मात्माओकी सेवारूप वैयावृत्यव्रत ये चार शिक्षाव्रत हैं। ये सब मिलाकर श्रावकोके १२ व्रत हैं। इनका विस्तारसे वर्णन आगे ग्रथकार करेंगे, उन्हे दत्तचित्त होकर सुनो ।१।२।३।४।

प्रश्नः—अहिंसाव्रतचिह्नं किं केऽतिचारा गुरो वद।

हे गुरो ! अहिंसा व्रतका क्या स्वरूप है और उसके दोष कौन हैं ? कहिए—

(अनुष्टुप्)

जीवस्थान गुणस्थानं मार्गणास्थानकं तथा ।
योन्यादि निश्चयाद् बुद्ध्वा त्रसजीवादिरक्षणम् ।।१६५।।
कार्यं नित्य यथाशक्ति स्थावराणामपि तथा ।
अहिंसाणुव्रत पूतं यतः स्याच्छांतिसौख्यदम् ।।१६६।। युग्मम् ।।

जीवस्थानमित्यादि:—चतुर्दशसु जीवस्थानेषु चतुर्दशसु गुणस्थानेषु चतुर्दशसु मार्गणास्थानेषु च क्व क्व जीवानामवस्थानम्भवति । क्वोत्पद्यन्ते त्रसजीवा इत्येवप्रकारेण जीवाना निवासस्थान उत्पत्तिस्थानञ्च ज्ञात्वा त्रसजीवाना सर्वप्रकारेण रक्षण यथायोग्य स्थावरजीवानामपि रक्षण कार्यम् । एतदेव गृहस्थाना शान्तिद सौख्यद पवित्र अहिंसाव्रत भवति ।१६५।१६६।

मिथ्यादर्शन, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यक्त्व, देशविरति, प्रमत्तविरति, अप्रमत्तविरति, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसापराय, उपशातकषाय, क्षीणमोह, सयोगी और अयोगी ये चौदह गुणस्थान हैं। मोह और योगके तथा उसके क्रमश क्षीण होनेसे ये गुणस्थान बनते हैं। इन विभिन्न परिणामवाले जीव गुणस्थानोमे पाए जानेवाले जीव हैं।

बादर एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सज्ञी व असज्ञी पचेन्द्रिय, इन सातके पर्याप्त और इनके ही अपर्याप्तके भेदसे चौदह प्रकारके जीवसमासोमे भी जीव व्यवस्थित हैं। चारो गति, पाँचो इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, सज्ञा, आहारक ये १४ मार्गणा हैं। इनके भेद प्रभेदोमे भी जीवोकी स्थिति है।

उक्त प्रकार जीवोकी व्यवस्था जानकर तथा कहाँ-कहाँ किन जीवोकी उत्पत्ति होती है इसे भी आगमसे ज्ञानकर जो जीव यथाशक्ति स्थावरोकी प्रतिसमय रक्षा करते हुए त्रसहिंसाको सकल्पसे नही करता वह जीवनमे शान्ति और सुख प्रदान करनेवाले पवित्र अहिंसाव्रतका पालन करनेवाला है ।१६५।१६६।

अथाहिंसाव्रतातिचाराः

(वसन्ततिलका)

आहारपानपरिरोधननिन्द्यकृत्य ।
बन्धो वधश्च गुरुभारकरोपणादि ।।
छेदो न धर्मरसिकैर्विषयादिवृद्ध्यै ।
कार्यः सदा भुवि यतः स्वपदे निवासः ।।१६७।।

आहारेत्यादि.—आहारपानपरिरोधननिन्द्यकृत्य स्वाधीनाना नरतिरश्चामाहारपानपरिरोधन समयमुल्लघ्य भोजनादिदान अहिंसाव्रतस्य अतिचार स्यात् । तेपा प्राणपीडाकारकत्वात् तत्कार्यं निन्द्यमेव । बन्धो रज्ज्वादिना-शृखलया-वचनेन-यन्त्रमन्त्रादिना-अन्येन केनापि प्रकारेण वा नियतस्थाने नियमित बन्धनकरण द्वितीयोऽतिचार । वध कषायावेशत प्राणिना वेत्रादिभि ताडन तृतीयोऽतिचारोऽस्ति । गुरुभारकरोपणादि न्यायातिक्रमेण तत्साम-

थ्यादधिकभारस्य तदुपरि रोपण सेवकादिभिरपि निरवच्छिन्नरूपेण रात्रिंदिव सेवाग्रहणादिकमपि अतिभारारोपण नाम अहिंसाव्रतस्य चतुर्थोऽतिचार स्यात्। तेषा कर्णनासिकादिच्छेदनेन स्ववशीकरण पञ्चमोऽतिचार स्यात्। सर्वाण्यपि उल्लिखितकार्याणि स्वविषयरागात् अन्यस्योपरि क्रोधाद्यावेशात वा क्रियमाणानि तत्सम्बन्धप्राप्ताना नराणा स्त्रीणा बालाना तिरश्चा वा अतिदु खाधायकानि भवन्ति अतस्तानि अहिंसाव्रताराधकस्य तद्व्रतस्य छिद्ररूपाण्येव। १६७।

अपने अधीन रहनेवाले पशु, पक्षी व मनुष्यादिकोको यथा समय भोजन व पान प्रदान करना अहिंसाव्रतीके लिए आवश्यक कर्त्तव्य है। समय टाल करके उनको भोजन पान देना उन्हे कष्ट पहुँचाना है जो कि उसके व्रतके लिए अनुचित है। तथापि यदि कोई व्रती इसका ध्यान न रखे प्रमादसे अथवा अपने कार्यकी अधिकतासे भूल जाय और समयका उल्लघन कर उन्हे भोजन पान दे तो वह अहिंसाव्रती के लिये अतिचार है।

अपने आर्थिक वैषयिक प्रयोजनके कारण मनुष्यो या पशुओको अथवा मनोरजनके लिए शुक सारिका आदिको पिंजडे आदिमे अथवा रस्सी, साकल, यत्र, मत्र द्वारा या केवल वचनोके द्वारा किसी नियत स्थानमे रोककर रखना व यथेच्छ गमनागमन न करने देना यह परिरोधन नामक द्वितीय अतिचार है।

अपने वशमे रखनेके लिए यदि पशु पक्षीके लिए बाधनेकी आवश्यकता अनुभवमे आवे और वे सहजमे बधनादि तोडकर भाग जा सकते हैं ऐसी आशका हो तो लोग उनके नाक कान छेद देते है और उनमे रस्सी डाल कर बाध देते हैं ताकि भागने की चेष्टा करने पर उनके उन मुलायम अगो को पीडा हो और उस पीडाको न सह सकनेके कारण वे बधन तुडा कर न भाग सकें। यह छेदन नामका तृतीय अतिचार है।

अपने उक्त प्रयोजनो की सिद्धिके लिए मनुष्यो, पशुओ अथवा पक्षियो को वेत-दण्ड आदिके द्वारा मारना या ताडना देना वध नामक चतुर्थ अतिचार है।

अतिभारारोपण यह अहिंसा व्रतका पाचवाँ अतिचार है। भारवाही लोग बैलो पर, गाडियोमे, घोडो पर, तागा, टमटम आदिमे, गधोपर तथा ऊँटोपर उनकी सामर्थ्यसे अधिक बोझ लाद कर उन्हे कष्ट देकर अपना अल्प प्रयोजन साधते है। यह अन्याय कार्य इस व्रतका पाचवा अतीचार है।

नगरमे या ग्राममे समर्थ लोग अपने कार्योको सम्पन्न करनेके लिए नौकर रखते हैं, मुनीम रखते हैं अथवा क्लर्क रखते हैं। इन कार्योकी सेवा का भार उनपर इतना अधिक रख देते हैं कि जिसे वे वहन नही कर पाते या बडे कष्टसे वहन कर पाते है। दिनमे रात्रिमे १० घटे, १२ घटे, १४ और १६ घटे भी काम लिया जाता है। दो आदमी के करने योग्य कार्य का भार एकही आदमीसे लिया जाता है। यह सब अतिभारारोपण अतिचार ही है।

इन सम्पूर्ण कामोको लोग अपने वैषयिक साधनके लिए अथवा आर्थिक प्रयोजनको लक्ष्यमे रखकर लोभके आवेशमे करते हैं और कार्योकी साधनाके लिए क्रोधादि कषायोका भी अवलबन करते हैं। किन्तु ये सब हिंसा आपादक कार्य हैं। जब तक अहिंसाव्रती इन कार्योको एक हद तक करता है और अपना व्रत भग न हो जाय इसका ध्यान रखता है तबतक उक्त कार्य अतिचार है। किन्तु व्रत रक्षा की हार्दिक चिन्ताके अभावमे दुष्टता या तीव्र लोभवश किए गये ये कार्य अनाचार सज्ञाको भी प्राप्त हो जाते हैं, अतः इनसे बचना ही श्रेयस्कर है। १६७।

प्रश्नः—सत्याणुव्रतचिह्नं किं तदतिचारकाश्च के।

हे गुरु! सत्याणुव्रतका क्या लक्षण है और उसके अतिचार कौन कौन हैं? कहिए—

(अनुष्टुप्)

न रागादिवशं गत्वाऽसत्यवाक्यं कदापि कौ।
स्वान्यतापकरं सत्यमपि प्राणहरं मिथ ॥ १६८॥
बोधद सुप्रियं वाक्यं सत्यं वाच्यं हित मितम्।
स्यात्सत्याणुव्रतं शुद्धं शान्तिदं सर्वभूतले ॥ १६९॥ युग्मम्॥

न रागादीत्यादिः—रागद्वेषलोभमोहाद्यावेशात् मिथ्यावचन कदापि न वाच्यम्। यतस्तत्स्वस्यापि परस्यापि च सन्तापकरम्भवति। यद्यपि मिथ्यावचनेन तात्कालिकक्षणिकलाभ प्रतीयते किन्तु परिणामकाले तत् परहानिकरन्तु भवत्येव स्वस्यापि पश्चात्तापकर भवति। अतएव कदापि भ्रमकारक मिथ्यावचन न वाच्यम्। अपि तु तदेव वाच्य यत् सत्य स्यात्। न केवल सत्य किन्तु प्रियमपि स्यात्। न केवल सत्य प्रियं वा अपि तु हितकारकमपि स्यात्। तत्स्वपरसन्तोषोत्पादक वचन स्वल्पशब्दै परिमितैर्वाक्यैरेव वाच्यम्। अप्रिय अहितकारक असन्तोषदायक मौखर्य वचन तु याथातथ्यप्रकाशकमपि न सम्यक्। अप्रशस्तवचनेष्वेव तदन्तर्भावात्तन्मिथ्यावचनमेव। न च वाच्यम् सत्याणुव्रतिना एवम्प्रकारक वचनमिति। यत् किल वचन स्वस्य अन्यस्यापि प्राणहरं स्यात् तत्सत्यमपि मिथ्या एव। नैतेन वच.न स्वस्य परस्य वा कल्याणम्भवति। एवप्रकारे प्रसङ्गे समुपस्थिते याथातथ्यप्रकाशने स्वस्य परस्य वाऽकीर्तिरपवादश्च प्राणहारकस्स्याद्यदि तर्हि सक्लेशपरिणामपूर्वकमरणेन नरकादिगमनमेव स्यात्। तेन दुर्भवपरम्परा जायते अतएव न वाच्यमेवम्प्रकार वचनमिति। किन्तु सापराधेष्वपि तदपराधहारक तत्र पश्चात्तापकारक पुण्योत्पादकं व्रतशीलेषु उत्साहोत्पादक वचनमेव वाच्यम्। तेनैव स्वपरकल्याणञ्जायते। एवम्प्रकारेण वचनप्रयोग भूतले शान्तिदायको भवति। १६८। १६९।

श्रावकका दूसरा अणुव्रत सत्य है। जैनाचार्योंने सत्य शब्दका अर्थ 'प्रशस्त वचन' किया है। जैसेका तैसा कहना सत्य है। मात्र इस व्याख्या को उन्होने सत्यकी सही व्याख्या नही माना। काणे मनुष्यको 'काणा' कहकर बुलाना या पुकारना यद्यपि जैसे को तैसा कहनेसे 'सत्य वचन' होना चाहिए पर जैनाचार्य उसे 'असत्य' वचन मानते हैं। कारण यह कि यह वचन पर को पीडाकारक है। वचन का प्रयोग कर्त्ता उसके अनादर भावसे तथा परिणाम दुखी करने या चिढानेके अभिप्रायसे वैसा बोलता है अत ऐसा वचन दुर्वचन होनेसे अप्रशस्त है—निंद्य है और इसी कारणसे वह असत्य है। सत्यव्रती ऐसा वचन नही बोलता। यह बात पहिले भी कही गई है।

जो वचन स्वपर हितकारक हो, सुननेमे प्रिय मालूम हो, थोडे शब्दोमे कहे गए हो इस प्रकार इन तीन विशेषणोंसे सहित होते हुए जो यथार्थ वस्तुके परिचायक हो वे सत्य या प्रशस्त वचन हैं ऐसा जैनाचार्योंका अभिमत है। जो वचन मिथ्या हो, स्वपरहितकारक न होकर हानि कारक हो, भ्रमोत्पादक हो, सशय उत्पन्न करनेवाले हो, कषायोत्पादक हो, मिथ्यामार्गके पोषक और प्रेरक हो, सदाचारके विरोधक हो, धर्म मार्गके विपरीत हो, किसीके प्राणहर्त्ता हो, समाजमे सक्लेश और क्षोभको उत्पन्न करनेवाले हो, लोक, समाज व देशके हितनाशक हो वे सब वचन तथा वचन प्रतिपादक चेष्टाए "असत्य" हैं। सत्याणुव्रती ऐसे वचनोको राग, द्वेष, ईर्षा, लोभ, क्रोध व अभिमान आदिके वशीभूत होकर कभी नही बोलता।

वह ऐसे वचनोको ही सत्य मानकर उनका प्रयोग करता है जो सुननेवालेके तथा बोलनेवालेके प्राण-हर्त्ता न हों, अकल्याण कर्त्ता न हो, अधर्म व असदाचारमे लेजानेवाले न हो, सुननेमे कर्णको प्रिय लगें, हृदयको प्रिय लगें, जगत्मे किसीके लिए भी अशान्तिदायक न हो और सम्यग्ज्ञानके उत्पादक हो।

उक्त गुणोसे रहित किन्तु ऊपर कहे हुए असत्यके दोषोसे सहित वचन यदि स्थितिको स्पष्ट करने वाले भी हो तो भी वे सक्लेश, सन्ताप, हिंसा तथा पापके उत्पादक होनेके कारण 'असत्य वचन' हैं। उनका प्रयोग सत्याणुव्रतीके लिए वर्जित हैं।१६८।१६९।

अथ तदतिचारा –

अब सत्याणुव्रतके अतिचारोका निरूपण करते है।

(उपजातिः)

मिथ्योपदेशो न रहस्यभेदो न कूटलेखो न च मन्त्रभेदः।
न्यासापहारश्च तथा न कार्यो व्रतस्य शुद्धिर्यदि वाञ्छनीया ॥ १७० ॥

मिथ्योपदेश इत्यादि—मिथ्योपदेश जिनवचनविरुद्धशास्त्रोपदेश । रहस्यभेद स्त्रीपुरुषाभ्या अन्येन केनापि रहसि विहितस्याचारस्य प्रकाशनम्। कूटलेख कपटभावेन द्व्यर्थप्रतिपादनपर लेखनिर्माणम्। न्यासापहार स्मृतिभ्रशात् स्वकीय न्यासमशतो याचत पुसोऽपूर्णन्यासनिवर्तनम्। मन्त्रभेद इङ्गितेनाकारेण द्वाभ्या वा परस्य मनोभाव बुध्वा दुरभिप्रायेण सर्वेषा पु सा पुरस्तात् प्रकाशनम्। एव सत्याणुव्रतस्य पञ्चातिचारा परिवर्जनीया यदि व्रतस्य शुद्धि वाञ्छनीया वर्तते। १७०।

मिथ्याशास्त्रोका पठन पाठन तथा उपदेश करना मिथ्योपदेश नामक प्रथम अतिचार है। प्रमादके कारण यह सभव है। आर्थिक लाभ और आजीविकाके निर्वाहके लिए जिन प्रतिपादित मार्गके विरोधक असन्मार्गके प्रतिपादक मिथ्यात्वपोषक ग्रन्थोका पढना, पढाना या समाजमे उनका प्रचार करना तथा यह समझना कि मैं केवल अपनी आजीविकाके लिए इस मार्गका अवलम्बन कर रहा हूँ, मेरी श्रद्धा तो जिन मार्ग पर ही हैं, सत्यव्रतीके लिए व्रतभङ्ग कारक है।

यही कार्य यदि जिनमार्गमे अश्रद्धा तथा मिथ्यामार्गमे श्रद्धा होनेके कारण किया जाय तो वह सम्यक्त्वका विघातक होने से अनन्त निगोदका कारक महान् असत्य है। उसके होनेपर वह व्यक्ति महान् अव्रती तथा मिथ्यादृष्टी होगा। केवल मिथ्याको मिथ्या मानकर भी वह उसे सच्चा माननेवाले तत्सप्रदायके व्यक्तियोके लिए केवल स्वजीविकाके लिए उपदेश करता है अथवा लिखता है, मिथ्यात्व-पोषक ग्रथो की टीकादि लिखकर आजीविका करता है तो ऐसा करनेवाला वह सदोषी व्रती है। व्रतीको ऐसी आजीविका न करनी चाहिए। यह पहला अतिचार है।

दूसरा अतिचार है रहस्यभेद। अर्थात् कोई व्यक्ति अपना कार्य साधना चाहते हैं जो आप पर या अन्य किसी पर प्रकट नही किया जा सकता। तथापि उनकी चेष्टासे उनके अभिप्रायको समझ कर उसे जनतामे प्रकट कर उन्हे नीचा दिखाना व उनको हानि पहुँचाना रहस्यभेद है। यह उसी दशामे अतिचार है जब कि हम उस अभिप्रायका भेदन केवल उनकी हानिके लिए करते या कौतुक वश करते हैं।

कूटलेख—किसी विषयको प्रतिपादन करनेके लिए ऐसी शब्दावली या वाक्यावलीका प्रयोग करना जिससे पढनेवाला सहसा उसके इस अभिप्राय को जो वह निज स्वार्थ वश निकालना चाहता

हैं न समझ सके किन्तु दूसरा ही अर्थ समझे। रुपया पैसा आदिके व सुवर्ण भूमि आदिके सबधमे ऐसे स्टाप या अन्य प्रकारके कपट पूर्ण लेख लिखाना जिससे दूसरे प्रकारके निजस्वार्थसाधक भी अर्थ निकाले जासकें ऐसे परवञ्चक शब्द पूर्ण लेख कूटलेख हैं। इन लेखोको लिखने या लिखानेवाला प्रतिवादीकी सरलताका अनुचित लाभ उठाना चाहता है। वह अवसर पडने पर अपने लेखका भिन्नार्थ उसे समझा कर उसे अपने स्वार्थ साघनके लिए मजबूर कर देता है। एक उदाहरण द्वारा यह विषय स्पष्ट हो जायगा—मान लीजिए कि एक मनुष्य एक ज्योतिषीके पास गया और यह बोला कि मेरी पुत्रवधू गर्भिणी है। उसके पुत्र होगा या पुत्री ? यदि हमारे प्रश्नका सही समाधान आप देंगे तो मैं आपको १००) पारितोषिक दूँगा। ब्राह्मण यह समझ कर कि यदि मेरा कथन मिथ्या निकल गया तो १००) का नुकसान होगा, बोला हम लिखकर रख देते हैं, यथा समय आप इसे देखकर निर्णय कर मेरा पारितोषिक देदेना। प्रश्नकर्त्ताने स्वीकार कर लिया। उसने लिखा "पुत्र होगा न पुत्री होगी।" ब्राह्मणका यह लेख कपटपूर्ण था। उसने इस शब्दावलीका जानबूझकर प्रयोग-किया यह समझ कर कि चाहे पुत्र हो या पुत्री हो या नपु सक, इस वाक्यसे तीनो अर्थ समय पर निकाले जा सकते है। अर्थात् यदि पुत्र हुआ तो पढ दूगा—पुत्र होगा, न पुत्री होगी। यदि पुत्री हुई तो कहूगा पुत्र होगा न, पुत्री होगी। यदि दैवात् नपुसक ही हुआ तो सीधा अर्थ है कि न पुत्र होगा न पुत्री अर्थात् नपु सक होगा। प्रत्येक प्रकारके अर्थमे पारितोषिक मैं ही पाऊँगा। जैसे यह एक उदाहरण है ऐसे स्वार्थ साधक अन्य प्रकारके कपटपूर्ण स्वार्थ साधक द्व्यर्थक लेख कूटलेख हैं। यद्यपि यह प्रयोग विश्वासघातकारक होनेसे अनाचार रूप भी कहा जा सकता है तथापि प्रयोगकर्त्ता इस प्रयोगको करते हुए भयभीत है कि मैं झूठा न समझा जाऊँ, मेरा व्रत भग न हो, इसलिए स्पष्ट मिथ्या प्रवाद न करके गूढ शब्दावली का उपयोग करता है। इतनी व्रतचिन्तकताके कारण उसका सुधार सभव है अत. यह अतिचारमे गिना है।

इसी प्रकार सत्याणुव्रतका 'मन्त्रभेद' चतुर्थ अतिचार है। किसी व्यक्तिकी गुप्तवार्ताको, जिसे वह अन्यको नही बताना चाहता, बतानेमे अपनी हानि देखता है। उससे ज्ञातकर उसे हानि पहुँचानेके लिए अन्यत्र फैला देना चतुर्थ अतिचार है। उदाहरण जैसे यदि किसी व्यक्तिने यह विचार किया कि अमुक स्थानपर एक लाभका सौदा है पर अन्य व्यापारी जान लेंगे तो वह लाभ मुझे न हो सकेगा। इस अभिप्रायको रखकर प्रसगसे आपसे वार्तालाप करते-करते उस बातको कह गया। साथ ही आपसे यह भी प्रार्थना करली कि इसे गुप्त रखें। यदि आप उस वार्ताको गुप्त न रखकर किसी अन्य सबधित व्यापारियोको वह जाहिर कर पूर्वोक्त व्यक्तिको हानि पहुँचानेका प्रयत्न करते हैं तो आपका वह वचन प्रयोग सत्य होते हुए भी सत्यका दोष है। उसकी गणना अतीचार मे होगी। यदि किसी चोर या डाकूका अभिप्राय किसीको लूट लेनेका हो, किसीकी इज्जत खराब करनेका हो, व्यभिचारका हो, स्वय फाँसी लगानेका हो, प्रकारान्तरसे मरणका हो तब उसकी चेष्टासे अभिप्राय जानकर सबधित व्यक्तिको सचेत कर देना सत्यका अतिचार नही है, क्योकि यह कार्य दूसरेको हानिसे बचानेका है न कि नुकसान पहुँचानेका।

न्यासापहार—अर्थात् किसीकी धरोहरके कुछ अशको भूलसे पचालेनेके अभिप्रायको रखते हुए सफाईके सद्वचन कहना। जैसे कोई व्यक्ति आपके पास २००) रुपया अमानत रखकर चला गया। दो साल बाद वापस आने पर वह विस्मृत हो गया कि हमने इनके पास दो सौ रखे थे। उसने आकर कहा कि भाई हमारी अमानत आपके पास १००) रखी है, दे दो। उत्तरमे रखनेवाला सत्यव्रती यह

बोला कि जो आपका रखा हो, अवश्य ले लें। उसका यह उत्तर यद्यपि सद्वचन रूप है परन्तु अन्तरगमे वह जानता है कि मेरे पास २००) है। यह भूलसे १००) माँगता है सो यदि भूल जाय तो १००) का लाभ ही रहेगा। पर हम तो मिथ्या नही बोलते। हमने तो उसे सत्य ही कहा कि जो आपका हो लेलें। यदि वह २००) माँगता तो हम २००) अवश्य दे देते। उसने अपनी गलतीसे कम माँगा तो हमपर कोई दोष नही। ऐसी गलत समझसे उसे चोरीका तो दूषण लगेगा ही पर वचन बोलनेकी अपेक्षा यह न्यासापहार कारक वचन सुननेमे सद्वचन होते हुए भी सत्यका दोष है।

इस प्रकार दुरभिप्रायपोषक सत्यवचन भी सत्याणुव्रतीके व्रतकी शुद्धि नही रखते। उसे सदभिप्राय रखते हुए ऐसे वचनोका प्रयोग करना चाहिए जिससे न व्रत अपवित्र हो और न आत्मशुद्धिका घात हो ॥१७०॥

प्रश्न —**अचौर्याणुव्रतं किं स्यादतिचाराश्च तस्य के ?**

हे गुरो! अचौर्याणुव्रत तथा उसके अतिचार क्या हैं, कृपया कहे—

(वसन्ततिलका)

ग्रामे पुरे वनपथे पतित न दत्तम्
कौ स्थापित परधनं यदि विस्मृत वा।
तत्त्याग एव सुखदं व्रतमुत्तम स्यात्
श्राद्धस्य धर्मरसिकस्य किलैकदेशम् ॥ १७१ ॥

ग्राम इत्यादिः—ग्रामे-नगरे-वने-पथि-निवासस्थले-नदीतीरे-कौ पृथिव्या-अन्यत्रापि वा क्वचित् परेण विसृष्ट विस्मृत निक्षिप्त स्थापित धनादिक कदापि न ग्राह्यम्। तच्चौर्यमेव महत्पापम्। तत्त्यागकरणमेव सुखदायक स्यादचौर्यव्रतम्। धर्मपरिपालकस्य श्रावकस्य अचौर्यव्रतस्यैकदेश तत् स्यात्किलाचौर्याणुव्रतम् ॥ १७१ ॥

किसी भी स्थानविशेषमे चाहे गाँवमे हो अथवा नगरमे या वनमे, मार्गमे, धर्मशालामे, रेलमे, मोटरमे, नदीतीरमे या अन्यत्रापि कही पर दूसरेके द्वारा भूले हुए, रखे हुए, छोडे हुए, स्थापित किए हुए या भूमिमे गाडे हुए उसके धनको लेलेना चौर्य पाप है। उसका त्याग ही उत्तम व्रत है। धर्मप्रेमी श्रावकको भी इस व्रतका एकदेश परिपालन करना चाहिए। उसे ही अचौर्याणुव्रत कहते हैं ॥ १७१ ॥

तदतिचाराः—

अब उस व्रतके अतिचार लिखते है—

(इन्द्रवज्रा)

चौरप्रयोगो लघु-दीर्घमाने चौरार्थवाञ्छा नृपनीतिभङ्गः।
दुःखप्रदो न प्रतिरूपयोगः कार्यो यतः स्याद् भुवि सर्वशान्तिः ॥ १७२ ॥

चौरप्रयोग इत्यादि—अचौर्याणुव्रतधारिणा चौर्यपरित्यागे कृतेऽपि यदि स्वायत्ताना स्वसम्बन्धिना पुरुषाणा चौर्यस्य कृते विविधप्रकारेण प्रयोग क्रियते वा प्रतिपाद्यते तदा स चौरप्रयोगो नाम स्यादतिचारस्तद्व्रतस्य। व्यापारादिकार्येषु तुलादिमानस्य ग्रहणेऽधिकप्रमाण विक्रये तु हीनप्रमाण वा लोभावेशात् क्रियते तदा लघुदीर्घमानकरण नाम

तदपि तद्व्रतस्य दूषणमेव । तृतीयप्रकारस्तु स्यादेव यत् केनचित् चौर्येण धनमानीतम् । व्रतिना तु ज्ञात यद्धनमेतत् चौर्येणैतेन समानीतमस्ति तथापि विचार्यते तेन यन्नाह चौर न मया प्रेरित । स तु स्वकृतपापपरिणामानुसारेणैव चौर्यं कृतवान् । तस्मात् स एव तस्य पापस्य भागी । अह तु मूल्यप्रदानेनैव व्यापारमार्गमनुसृत्यैव तद्द्रव्य स्वीकरोमि इति न मे कश्चिद्दोष । इत्यादिविचारजालेषु आत्मान पाशयित्वा अल्पमूल्येन तद्धन गृह्णाति अतएव तदपि चौरार्थ-वाञ्छा नाम अचौर्यव्रतस्य दूषणमेव । यत्र राज्ये वास स्यात् व्रतिन तत्र राजकीयकरस्यापलाप । अथवा युद्धरते राज्ञि शासनकार्ये मन्दसरे तु सन्धि दृष्ट्वा तया परिस्थित्यानुचितलाभग्रहणेच्छया नृपनीतिभङ्ग नाम चतुर्थोऽतिचार स्यात् । व्यापारयोग्यवस्तुषु तत्प्रतिरूपवस्तूनाम्मेलन बहुमूल्येषु अल्पमूल्यवस्तुमेलनेऽपि बहुमूल्यमेवैतत् इति सत्या-पलापेन प्रकारान्तरेण छद्मना परधनापहरण प्रतिरूपयोग नाम व्रतस्य पञ्चमोऽतिचार स्यात् । सर्वाण्यपि कार्याण्येतानि शान्तिभङ्गकारकानि सन्ति । अचौर्यव्रतधारिण प्रकारान्तरेण चौर्यदूषणोत्पादकानि च सन्ति । ततस्तद्व्रतनैर्मल्याय परिहर्त्तव्याश्चैतेऽतिचारा । १७२ ।

अचौर्य व्रतधारी स्वकृत चोरीके अभावमे भी यदि दूसरोके द्वारा चोरी कराता है । उन्हे चोरीके उपाय बताता है तो वह चौर-प्रयोग नामक अतिचार है । दूसरा अतिचार है लघु-दीर्घमान अर्थात् व्यापार कार्यमे जिन मापने तौलनेकी निर्णायक वस्तुओका प्रयोग होता है उन्हे देनेके समयके लिए हीन प्रमाणका रखना और खरीदनेके लिए अधिक प्रमाणका रखना और इस पद्धतिसे प्रकारान्तरसे पर का धनापहरण करना दूसरा अतिचार है ।

तीसरा दोष यह है कि यदि हमे यह ज्ञात हो जाय कि यह द्रव्य अमुक व्यक्ति चोरीसे लाया है और हम उसकी कमजोरीको जानकर उसका अनुचित लाभ उठाना चाहे । उसे डराकर धमकी देकर उसी मालको कम मूल्यपर उससे ले लें तो यह चोरीके द्रव्यकी वाछा नामक तीसरा अतिचार होगा ।

राज्य द्वारा बनाए हुए व्यापारोंके नियमोको भङ्ग करना, राजकीय करका छिपा कर न देना तथा बिक्री कर, नगर निगम कर और आयकरसे मुक्ति पानेके लिए हिसाब गलत बनाना, छल करना तथा राज्यके युद्धरत होनेपर, पर चक्रके द्वारा आक्रमण होनेपर अथवा परचक्रके आक्रमणकी आशका होनेपर यदि शासक शासनके कार्यमे आन्तरिक व्यवस्थामे ढीलें पड जायँ तो उस सधिका दुरुपयोग करना, मनमाने भावसे सौदा बेचना और सामग्रीका अतिसग्रह कर उसे रोककर रख लेना, यह सब अपराध नृपनीति भङ्ग नामक अचौर्य व्रतका चतुर्थ दोष है ।

पाँचवें प्रकारका दोष यह है कि बहुमूल्य वस्तुमे अल्प मूल्यकी नकली चीजें मिलाकर बहुमूल्यके भावमे बेचना यह "प्रतिरूपक व्यवहार" नामक अतिचार है । इस प्रकार ये पाँचो अतिचार शान्तिके घातक हैं ।

स्वोपार्जित न्यायवृत्तिसे प्राप्त द्रव्य द्वारा अपना व स्वायत्त जनोका भरण-पोषण करना, अन्याय व अनीतिसे दूर रहना यह अचौर्य व्रतका तात्पर्य हैं । जब तक उक्त उद्देश्यको सामने रखकर कार्य किया जायगा तब तक कोई दोष व्रतीको प्राप्त नही होता ।

ससारमे कषायोदयकी विचित्रता है, अत व्रती भी कभी-कभी अपनी व्रत भावनाको भूल जाता है और चौर्यसे दूर रहकर भी लोभावेशमे कुछ ऐसे कार्य करने लगता है जिनमे साक्षात् चोरी तो नही होती परं प्रकारान्तरसे उन कार्योंसे परधनापहरण हो जाता है । दूसरेको मजबूर करना, उसके सामने कठिनतर स्थिति उत्पन्न कर देना, उसे ऐसी परिस्थितिमे डाल देना कि जिससे बिना पैसा

ठगाए उसका जीवन निर्वाह कठिन हो जाय तो यह सब कार्य अचौर्य व्रतके लिए लाछन स्वरूप है। परधनापहरणकी वाछाके बिना ये कार्य नही होते। इस कारण ये अचौर्य व्रतके दूषण माने गए हैं। यद्यपि इन कार्योंमे कपट-व्यवहारकी प्रबलता है और कपटका पाप और भी अधिक है। तथापि यह कपट उसने इसलिए स्वीकार किया है कि मेरा व्रत बना रहे। यदि सीधे तरीकेसे परधनापहरण होता है तो चोरीका पाप होगा, अत वह छलसे अपनेको ही ठगता है और व्यर्थ पापका बन्धन करता है। अत व्रतीका कर्त्तव्य है कि मूल भावनाकी ओर सदा ध्यान रखकर व्रतका पालन करना चाहिए तब ही वह निर्दोष होता है, अन्यथा व्रतकी आत्मा (असली रूप) नष्ट होकर निर्जीव (मृत) व्रत रह जाता है जिसका कुछ अर्थ नही होता। वह अनर्थका ही हेतु हो जाता है।१७२।

स्वदारसन्तोषव्रतका स्वरूप

(उपजाति)

विहाय यश्चान्यकलत्रमात्र सुपुत्रहेतोः स्वकलत्र एव।
करोति रात्रौ समयेन सङ्गं ब्रह्मव्रतं तस्य किलैकदेशम् ।।१७३।।

विहायेत्यादि—मोहनीयस्योदयात् किल परसमागमेच्छोत्पद्यते। तथापि यो बुद्धिमान् योग्यसन्तान-वृद्धयर्थं सधर्मिण कन्याया धर्मसाक्षिक पाणिग्रहण करोति तत्रैव सन्तोषवृत्तिमाचरति स्वप्नेऽपि न परस्त्रीरभिवाछति स किल स्वदारसन्तोषव्रती। तस्य किल ब्रह्मचर्यव्रतस्यैकदेश स्यादेव। अत य श्रावकोऽन्यकलत्रमात्र विहाय स्वकलत्र एव सुपुत्रहेतो रात्रौ समयेन योग्यवेलाया सङ्ग करोति तस्यैकदेश ब्रह्मव्रत भवति।। १७३ ।।

स्त्रीके लिए पुरुष समागमकी इच्छा और पुरुषके लिए स्त्री समागमकी इच्छा अथवा स्वात्म-भिन्न किसी भी पर पदार्थके ग्रहण करनेकी इच्छा मात्र मोहनीय कर्मके उदयका दुष्परिणाम है। जो पुरुष विवेकी हैं वे कर्माधीन उक्त वृत्तिको स्वीकार करके भी उसमे श्रेष्ठ मार्गका अवलम्बन करते हैं। वे अपनी कुलपरम्पराको चलानेके हेतु सधर्मा योग्य कन्याका धर्मसाक्षिसे पाणिग्रहण करते हैं और पञ्च देव और अग्निकी साक्षीसे प्रतिज्ञापूर्वक ग्रहीत स्वकलत्रमे ही श्रेष्ठ सन्तानको जन्म देते हैं। स्वप्नमे भी परस्त्रियोके प्रति गमन नही करते हैं। ऐसे सन्तोषी व्यक्ति ही स्वदारसन्तोषव्रती हैं। इसी प्रकार जो कन्याएँ अपने माता पिता आदिकी अनुमति पूर्वक पञ्च, देव तथा अग्निकी साक्षीसे योग्य कुलीन वरका पाणिग्रहण कर उसे अपना पति स्वीकार करती हैं तथा अन्य पुरुषोकी ओर स्वप्नमे भी विकार भाव नही लाती वे शीलशिरोमणि उत्तम गृहिणी हैं।

जिनमे उक्त प्रकारसे एकदेश ब्रह्मचर्यव्रत है वे शीलवान् स्त्री पुरुष ही उत्तम पात्र दिगम्बर जैन साधुओके लिए दान देनेके विशेष अधिकारी हैं जो दान कल्याण परम्पराका हेतु है।

कामवासना ही एकमात्र ससार की जड है। सम्पूर्ण पापोका मूल स्रोत यहाँसे ही प्रारम्भ होता है। कामवासनाके कारण ही मनुष्य स्त्री परिग्रह को स्वीकार करता है। स्त्री परिग्रहसे सन्तान वृद्धि होती है। उस सन्तानकी अभिवृद्धि और परिपोषणके हेतु अति परिग्रह का सञ्चय होता है। परिग्रह सञ्चयके दुष्कर्ममें ही पारस्परिक सघर्षका अवसर आता है जिससे हिंसापाप का जन्म होता है। परिग्रहके लिए ही असत्यवादिता का अवलम्बन करता है। उसके लिए ही नीति अनीतिका विवेक त्याग येन केन प्रकारेण पर धनका भी अवलम्बन कर चोरीका पाप करता है। इस प्रकार पाचो

पापोकी जननी कामवासना है। यदि कामवासना शान्त हो जाय तो समस्त पापारम्भ समाप्त हो जाँय। पर वासना शान्त कैसे हो यह एक टेढा प्रश्न है।

आचार्योंने ससारी प्राणियोकी इस कमजोरीको दूर करनेका मार्ग भी प्रदर्शित किया है। वह मार्ग है स्वदारसन्तोषव्रत। जो विवेकी इसे स्वीकार कर लेते हैं वे न केवल काम वासनाको तिलाञ्जलि देते है, बल्कि पाचो इन्द्रियोके विषयोकी वासनाओ पर भी नियन्त्रण रखते हैं। उनको कोई भी वासना अनैतिक मार्ग पर नही ले जा सकती। इस व्रतसे मनुष्य मनुष्य बनता है। उसकी आसुरी वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। अनेक घोर दुष्कर्म जो परस्त्रीसेवियोसे होते हैं उनसे वह बच जाता है।

परस्त्री और परपुरुषसेवी अनीति व अनाचार के जन्मदाता हैं। उनके उस महत्पापका फल न केवल उन्हे बल्कि सबधित अनेकानेक प्राणियोको भोगना पडता है। गर्भस्राव, भ्रूणहत्यायें, बालहत्याएँ, और अनाथ सन्तानकी वृद्धि, इस अनैतिक वासनासे ही होते हैं। मर्यादा रहित ये अविवेकी स्त्री-पुरुष काम वासनाके शिकार सदा बने रहते हैं। ये अपनी माता, भगिनी व कन्या अथवा पिता, भाई और पुत्र को भी पवित्र दृष्टि से नही देख सकते। इनको देखकर भी उनको कामका विकार उत्पन्न हो जाता है। इतना ही नही, वे दुर्वासना के कारण उनसे भी अनुचित सम्बन्ध करते हुए पाये जाते हैं। इस प्रकार पशुके समान अविवेकी नरनारियोका न तो कोई भाई हो सकता है और न कोई भगिनी, न कोई माता हो सकती है और न कोई पुत्र। ये सब सम्बन्ध केवल स्वदार और स्वपतिसतोषवाले पुरुष और स्त्रियोमे ही सभावित होते हैं। इस प्रकार असदाचारी ससारके सम्पूर्ण सम्बन्धोको समाप्त कर अपने ससारको केवल वासनामय बना लेता है। वासनामय ससारका फल यदि कोई हो सकता है तो वह नरक निगोद ही हो सकता है। यदि इन्हे ही वह प्राप्त न हो तो और कौनसे पाप इनसे बढकर हो सकते हैं जिनका प्रतिफल नरकादि हो।

अनैतिक आचारवाले स्त्री पुरुष मोक्षमार्गके राही परम दिगम्बर जैन मुनियोको आहार आदि दानके विशेष अधिकारी नही माने गए। जिनके ब्रह्मचर्यका एकदेश व्रत है अर्थात् जो स्वदार सतोषी हैं अथवा जिन्हे पातिव्रत्य धर्मकी अपेक्षा है वे ही स्त्री पुरुष शास्त्रोमे मुनिदानके विशेष अधिकारी माने गए हैं, अत सबसे बडी हानि असदाचारियोको यह उठानी पडती है कि वे धर्मके आयतनोसे भी वञ्चित हो धर्ममार्गसे पराङ्मुख होकर ससार गर्त्तको बढाते हुए पथ-भ्रष्ट हो अपना विनाश स्वय उपस्थित कर लेते हैं। अत स्वप्नमे भी पर-पुरुष या पर-स्त्रीका जो सेवन नही करते वे विवेकी ब्रह्मचर्यके एकदेशका पालन कर व्रती सज्ञाको प्राप्त होते हैं। १७३।

परस्त्री त्याग अथवा स्वदारसतोषव्रतके दोष

(अनुष्टुप्)

तीव्रकामाभिलाषाद्यतिचारा दुःखदाः खलाः।
त्याज्याः स्वानन्दतुष्टेन दीपेनेव कुकज्जलम् ॥ १७४ ॥

तीव्रेत्यादिः—यथा दीपक स्वप्रकाशरूपेऽवतिष्ठमान अन्तर्दोषान् कज्जलाकारेण सदा वमति तथैव स्वात्मानन्दरसिकेन ब्रह्मचर्यैकदेशव्रतिन स्वस्त्रियामपि तीव्राभिलाषो न कर्त्तव्य। कामस्य प्रवृद्धपरिणाम सदा-

नर्थकारक एव भवति । स एव महान् दोष व्रतभङ्गस्य हेतुर्भवितुमर्हति । यदि व्रतिनोऽन्तरङ्गे सदैव कामसन्ताप स्यात् तर्हि न स्यात्तस्य स्वात्मोपलब्धि । तदभावे तु न स्यात्तद्व्रतमिति । तीव्राभिलाषेणैव परविवाहकरण-इत्वरिका-गमन-अनङ्गक्रीडादयो दोषा मञ्जायन्ते । व्रतातिचारा खलु दुर्जना इव तीव्रदुःखदायिनो भवन्ति । व्रताना नाशकर्त्तारस्तेऽनेकानि पापान्युत्पादयन्ति । तस्मात् स्वदारसन्तोषव्रतिना स्वस्त्रियामपि केवल सन्तानोत्पत्त्यर्थमेव न तु भोगाभिलाषेण गमन कर्तव्यम् । योग्यसन्ताने कुलवृद्धिकारके सति भोगत्याग एव श्रेयान् । अन्यथा अन्तर्वर्ति-कज्जलमपरित्यज्य यथा दीपक स्वप्रकाश नाशयति स्वयमपि कलकरूपो भवति तथैव स्वान्तर्दोषातिचारै ब्रह्मव्रतैक-देशिनोऽपि स्वानन्ददोषनाश स्यात् । जगति चापवाद स्यात् । अत दीपकेन कज्जलमिव सदातिचाराणा परिहार कार्य्य । १७४ ।

स्वदार सन्तोषव्रती यदि कामकी तीव्र अभिलाषा रखे और सदा चित्तको मलीन रखे तो वह व्रती होकर भी दोषी है । उसका यह भी कर्त्तव्य है कि जिस प्रकार दीपक अपने सुन्दराकार प्रकाशके द्वारा सदा देदीप्यमान रहता है और अपने अन्दर विद्यमान कृष्णवर्ण कज्जलको सदा वमन करता है, त्याग करता है, उसी तरह अपने आत्मानन्द स्वरूपसे प्रकाशमान व्रतीको भी अपने अन्तर्दोषोका सदा निरीक्षण करते हुए उनका वमन करना चाहिए तथा नवीन दोष उत्पन्न न हो इसका प्रयत्न करना चाहिए ।

कामातुरता व्रतभङ्गका प्रधान हेतु है । कामातुर अपना व्रत सदा सुरक्षित नही रख सकता । कामसन्तापसे सतप्त पुरुषको कर्त्तव्याकर्तव्यका बोध नही रहता । उचित अनुचितका ज्ञान नही रहता । दृष्टि दूषित हो जाती है । मन सदा भटकता रहता है । अपने आपको वशमे नही रख सकता । पागलोकी तरह प्रलाप करता है । न कहने योग्य अयोग्य वचन बोलता है । कुचेष्टाएँ करता है । नीच सगति करता है । परस्त्रीसेवीमे जितने दुर्गुण होते है वे सब कामातुरको प्राप्त होते है । कामातुरतासे ही तो लोग परस्त्री गमन करते है । कामातुरके लिए स्त्रीमात्रमे एक ही सबध प्राप्त है और वह है भोगदृष्टि । माता, बहन, कन्या ये केवल कथनके लिए शब्दमात्र हैं । उन शब्दोमे अन्तर्निहित पवित्र भावनाका उसे दर्शन भी नही होता । कामातुरता सम्पूर्ण अनर्थोकी जड है, अत स्वस्त्री सन्तोषव्रतीको उक्त दोषको सर्प, विप, अग्नि, सिंह और शार्दूल आदि भयकर जीवोसे भी महान् भयकर समझकर उससे सदा दूर रहना चाहिए ।

परविवाहकरण, इत्वरिकागमन और अनङ्गक्रीडा आदि समस्त दोष कामकी तीव्र अभिवाछासे ही उत्पन्न होते है । व्रतके अतिचार दुर्जनकी भाँति सदा पीडा और धोखा देनेवाले है । वे व्रतका नाश करते है और स्वय अनेकानेक पापोको उत्पन्न करानेवाले हैं । स्वस्त्री व्रतीको उत्तम सन्तानकी प्राप्तिके हेतु अथवा शरीरमे होनेवाले मदावेशको मिटानेके हेतु ही स्वस्त्रीगमन स्वीकार करना चाहिए । योग्य सन्तानसे कुलवृद्धि होती है । योग्य सन्तान धर्म परम्पराको चलानेके लिए समर्थ होती है । इसलिए अन्तर्वर्ती कज्जलको सतत वमन करने वाले और सदा प्रकाशमान अपने निज स्वरूपमे स्थित रहने वाले दीपकके समान स्वानन्दतुष्ट आत्मरसभोगी स्वदारसतोषीको अपने अन्तर्वर्ती अतिचारोका परिहार कर अपने स्वरूपमे रहना उचित है । तब ही वह निर्दोष व्रती रह सकता है । १७४ ।

प्रश्न —**परिग्रहपरिमाणव्रतचिह्न गुरो वद ।**

हे गुरु देव ! परिग्रह परिमाण व्रतके क्या चिह्न है कृपा कर कहे । ऐसा प्रश्न करनेपर गुरु उपदेश

करते हैं—

(अनुष्टुप्)

घनादीनां यथाशक्ति प्रमाण प्रविधाय य ।
आशाग्निशमनार्थं तु करोति दानपूजनम् ।। १७५ ।।
परिग्रहपरिमाणव्रत स्यात्तस्य सौख्यदम् ।
ध्यानस्वाध्यायलीनस्य सारासारविचारिणः ।। १७६ ।।

घनादीनामित्यादि—ज्ञानदर्शनादीन्येव हि जीवस्य निजद्रव्याणि, न तु गृहादीनि । तानि तु निजस्वभावाद् भिन्नानि परद्रव्याणि । परद्रव्यग्रहणन्तु न न्याय्यम् । तस्य परिहार एव कर्त्तव्य । यदि प्रत्याख्यानावरणस्य चारित्र-मोहनीयभेदस्योदयात् परिहर्त्तु मसमर्थस्स्यात्तर्हि परपदार्थाना एकदेशतस्तु त्याग कर्त्तव्य एव । जन्ममृत्युजराकीर्णे भवे आशया जीवति निराशया तु म्रियते । मुक्तिमार्गे तु आशा एव मृत्यु आशारहितत्वमेव कल्याणहेतु । आशाग्नि तु सदा दहति असन्तोपभावनाङ्कुष्टरूपामुत्पादयति । निराशा तु शीतलजलेन्दुपादहिमस्पर्शचन्दनानुलेपनशीतलच्छाया-परिग्रहादिवत् हृदि शान्ति सन्तोप च पूरयति । तस्मात्कारणात् आशाग्निशान्त्यर्थं घनधान्यादीना यथाशक्ति हीनकरण-मेवोचितम् । तदेव परिग्रहपरिमाणव्रतमस्ति । परिमिते परिग्रहेऽपि प्रतिदिन जिनपूजने मुनिदाने स्वाध्यायशालाया शास्त्रदाने विद्यादाने छात्राणामाहारभैषज्यपुस्तकादिवितरणे गृहविहीनेषु घनादिरहितेषु सार्धर्मिजनेषु च द्रव्यदान गृहस्थस्य देशव्रतमस्ति । तद्व्रतमेव गृहस्थाना सुखप्रदायकमस्ति । यथासमय स्वव्रतानुकूल निर्दोपपद्धत्या स्वल्पद्रव्यस्य अर्जनादिक विधाय ध्यानस्वाध्यायजिनपूजनादिकार्येषु तत्त्वोपदेशाध्यात्मचिन्तादिविचारेषु च शेषसमयस्योपयोग कर्त्तव्य । एवविधाचारेण गृहिणा लौकिकव्यवहारेष्वपि सौख्यम्भवति । पारलौकिकोऽपि लाभ स्यात् । तृष्णाग्नि-नाशात् परमसुख च भजति अत कर्त्तव्यमेव परिग्रहपरिमाणव्रतमिति । १७५ । ७६ ।

जिन्हें हम लाकर सग्रह करें ग्रहण करें वह "परिग्रह" है। आत्मामे ज्ञान दर्शन आदि अनन्त गुण हैं। वही आत्माका निज भण्डार है। उसे छोडकर धनधान्यादिका जो यावन्मात्र सग्रह है वह सब पाप है। यह आत्मा अनादिकालसे इसी परद्रव्य ग्रहणके कारण पराधीन हो रहा है। जब तक यह परद्रव्यग्रहणको त्यागकर स्वस्वरूपको प्राप्त नही करता तब तक सुखी नही हो सकता। अत यह बात निश्चित हो जाती है कि जिस किसी प्रकार हो प्रत्येक जीवका कल्याण परपदार्थ ग्रहणमे नही, उसके त्यागमे है। यदि चारित्रमोहनीयके भेद प्रत्याख्यानावरणका तीव्रोदय हो और पर पदार्थसे मोह न छूटे तो भी उसका एकदेश त्याग अर्थात् क्रमिक त्याग करना चाहिये। इस क्रमिक त्यागको ही देशव्रत या परिग्रह प्रमाणाणुव्रत कहते हैं।

धन-धान्य, खेत, मकान, रुपया, सोना, चाँदी, धातु तथा वस्त्र आदि पदार्थोंका अपनी आवश्य-कताके अनुसार प्रमाण करके शेषका त्याग करना यह त्यागकी विधि है। इस त्यागसे आत्मामे अनन्त आशाओंका अन्त हो जाता है और असन्तोष और तृष्णा सन्तोष सुखमे परिणत हो जाती है। यह व्रतका अनुपम लाभ है। आशा अग्नि हैं। ससारज्वालासे दग्ध प्राणी आशासे जीवित है। निराशासे मृत्युको प्राप्त होते हैं। किन्तु मुक्तिमार्गमे निराशासे ही जीवित रहते हैं और आशासे मृत्युको प्राप्त होते हैं।

आशा रूपी गढा प्रत्येक प्राणीके हृदयमे अथाह है, उसका अन्त नही है। उसमे कितना भी डालो उसकी पूर्ति नही होती। सन्तोषरूपी अमृतकी एक बूदसे ही वह पूर्ण भर जाता है और आत्मामे शीतल जल, चन्द्रकिरण, चन्दनानुलेपन, हिमस्पर्श और शीतल छायाकी प्राप्तिके सदृश शान्ति प्राप्त हो जाती है, अत गृहीत परिग्रहमे न्यूनता करना कल्याणकारी है।

अपनी परिमित तृष्णा पूर्त्यर्थ अथवा गृहकी सामान्य आवश्यकताकी पूर्तिके हेतु व्यापारादिसे धनार्जन कर शेष समयका देवपूजन, स्वाध्याय तथा अध्यात्मचिन्ता आदिके द्वारा सदुपयोग करना चाहिए। साथ ही अपने अर्जित धनका उपयोग केवल स्वविषयोपभोगमे नही करना चाहिए बल्कि जिनपूजन, मुनियोको आहारादिदान, स्वाध्यायशाला, पुस्तकदान, विद्यादान, शिक्षार्थियो आदि को आहार, औषधि, शिक्षासाधनोका प्रदान करना, निर्धन साधर्मी भाइयोको यथायोग्य सहायता देकर उन्हे धर्ममे दृढ रखना तथा धर्मोत्साह वढाना आदि उत्तमोत्तम कार्योमे करना लौकिक दृष्टिसे भी सुखदायक है और पारलौकिक लाभके लिए भी वह हेतुभूत है। इसलिए तृष्णाके दु खको न्यून करनेके लिए परिग्रहप्रमाणव्रतको स्वीकार करना श्रेष्ठतर कार्य है। १७५। १७६।

परिग्रहपरिमाणव्रतस्यातिचाराः

(अनुष्टुप्)

धनादीनां कृतस्यैव प्रमाणस्य बहिर्न च।
गन्तव्य तत्त्वतो भव्यैर्यतः स्यात् सौख्यदा गतिः ॥ १७७ ॥

धनादीनामित्यादिः—व्रताना रक्षण सदा कर्त्तव्यम्। तद्रक्षणाय व्रतातिचारान् दूरीकृत्य स्वकृतनियमेषु व्यवहार कर्त्तव्य। तत्प्रमाण खलु धनादीना परिग्रहाणां पूर्वं स्वीकृत न तद्वहिर्गन्तव्य प्राणान्तेऽपि। एव कृत एव सौख्यदा गतिर्भवति। तदभावे तु नरकादिकुयोनिषु दु खान्युत्पादयन्ति प्राणिन ॥ १७७ ॥

धन्य धान्यादि दस प्रकारका परिग्रह है। परिग्रहप्रमाण व्रतमे उनका प्रमाण इस प्रकार किया था कि मै अपने जीवनमे इतने मकान रखूगा, इतना सोना रखूगा, इत्यादि प्रमाण द्वारा गृहीत्त सम्पत्तिमे ही अपने जीवनका निर्वाह करता था। यदि कदाचित् लोभवश या परिस्थितिवश गृहस्थको ऐसा प्रसग आवे कि उसकी इच्छा अपने परिग्रहकी मर्यादाके उल्लघन करनेकी हो जाय तो उसे अपनेपर नियन्त्रण करना चाहिए और कदाचित् भी अपनी मर्यादाका भग प्राणान्त होनेपर भी नही करना चाहिए। इस प्रकार दृढतासे व्रत पालन करनेवाला मनुष्य स्वर्ग गतिमे सुखपूर्वक जीवन यापन करता है। अन्यथा इस लोकमे अपवादादि तथा परलोकमे नरकादि गतिका उसे पात्र वनना पडता है। अत' अतिचार पिशाचोसे सदा व्रतका रक्षण करना चाहिए। कैसी भी अवस्थामे अपने व्रतमे अतिचार नही लगना चाहिए। अतिचार धीरे धीरे व्रतको समाप्त कर देते हैं और तब व्रती अव्रतकी भूमिकामे आ जाता है। एक बार व्रतसे छूटा प्राणी दुबारा व्रतकी भूमिकामे वडी कठिनतासे आरोहण करता है और हतोत्साह होजाता है। अत व्रतोमे सदा उत्साह रहे इसके लिए यह आवश्यक है कि अतिचारोसे सर्वथा व्रतोको बचाये। १७७।

प्रश्न—दिग्व्रतलक्षणं किं स्यात्तदतिचाराश्च के वद।

दिग्व्रतका क्या लक्षण है और उसके अतिचार कौन हैं ? कृपाकर कहे—

(वसन्ततिलका)

पापस्य दुःखजनकस्य निरोधनार्थं ।
कृत्वा प्रसिद्धनगरादिदिश प्रमाणम् ।।
द्रव्यार्जनाय न हि गच्छति तद्वहिर्य ।
स्याद्दिग्व्रतं ह्यनुपम सुखदश्च तस्य ।। १७८ ।।

पापस्येत्यादिः—पञ्चाणुव्रतनिर्देशानन्तर तद्व्रतपरिरक्षणार्थं तत्र गुणवृद्धचर्थञ्च दिग्विरत्यादीनि गुणव्रतानि सन्ति । तत्र दिग्व्रतस्य स्वरूपमिदम्—दु खोत्पादकस्य दु खजनकस्य पापस्य हिंसादिपापपञ्चकस्य समुत्पत्तिर्यतो न स्यात् एव विचार्य दशस्वपि दिक्षु गमनागमनयोर्मर्यादा कार्या । यस्या दिशि यावति क्षेत्रे गमनेन गृहस्थस्य सामान्यतया निर्वाह् स्यात् तत्पर्यन्तमेव गमनस्य नियमे कृते तद्वहिर्न गन्तव्यम् । अस्य व्रतस्य एप एव विधिर्यत् किल अस्या दिशि अमुकनगरपर्यन्तम् द्वितीयस्या दिशि प्रसिद्धपर्वतपर्यन्त अथवा क्रोशादिप्रमाणेन गमनागमनस्य मे मर्यादा । व्यापारादिकार्येणापि सीम्न वहिर्न स्याद् गमन मे । एव कृते श्रावकस्य एकदेशरूपाण्यपि व्रतानि सीम्नो बहि प्रदेशेपु महाव्रतानीव भवन्ति । १७८ ।

पञ्चाणुव्रतोंके स्वरूप निर्देश करनेके बाद आचार्य दिग्व्रतादि तीन गुणव्रतोका स्वरूप लिखते हैं । इन गुणव्रतोसे पञ्चाणुव्रतोकी रक्षा होती है और उनमे गुणवृद्धि होती है ।

दशो दिशाओमे प्रसिद्ध प्रसिद्ध स्थानोको निश्चित करके उन स्थानोके आश्रयसे कि मैं इस दिशामे इस पर्वत पर्यन्त ही अपने व्यापारादि गार्हस्थिक प्रयोजनोसे आना-जाना, कार्य करना कराना, अन्य किसीको प्रेरणा करना आदि करूँगा इस क्षेत्रके बाहर मैं न जाऊँगा ।

इस व्रतका तात्पर्य स्पष्ट है । व्रतीका ध्येय यह है कि यद्यपि मेरे अणुव्रत है । अर्थात् एकदेश पाप मेरे जीवनमे विद्यमान है उसका त्याग मेरे सभव नही है तथापि यदि कुछ निश्चित क्षेत्रमे ही मै अपना निर्वाह कर सकता हूँ तो अपनी आजीविका आदिके लिए सारे ससारमे क्यो दौडा दोडा फिरूँ । सर्व क्षेत्र को पापमय क्यो बनाऊँ । यदि मैं अपने कार्यक्षेत्रकी सीमा बाव लेता हूँ तो उस क्षेत्रके बाहर मेरे सव पापोका पूर्ण त्याग बन जाता है । इस ध्येयको सामने रखकर व्रती दिग्व्रतको ग्रहण करता है ।

वह अपने जीवनभर उन उन सीमाओका उल्लघन व्यापार, लोभ, सुरक्षा और भोगोपभोग आदि किन्ही कारणोके उपस्थित होने पर भी नही करता । अपनी सीमाके भीतर ही भीतर व्यापार करता है । यदि विपत्ति आजाय तो उसके भीतर ही अपनी रक्षाका उपाय करता है और यदि सभव न हो तो समाधिमरण स्वीकार कर लेता है, मर्यादाको लाघता नही । मर्यादाके बाहर यदि कोई लाभका सौदा मिलता है तो न लायगा न मँगायगा । यदि कोई अपना यहाँ शत्रु हो या मित्र हो तो वैर या स्नेहके वश भी वहाँ न जायगा । यदि कर्जदार कर्ज लेकर भाग जाय तो वह सन्तोष रखेगा पर सीमाका उल्लघन न करेगा । यदि सीमा बाहर उत्तमोत्तम भोगोपभोगकी प्रचुर सामग्री सहज ही उपलब्ध होती हो तो वह इच्छा निरोध करेगा, सीमा बाहर न जायगा ।

इस तरह इस व्रतके पालनसे गृहस्थको निर्लोभ वृत्ति आती है । रागद्वेष हीन होता है । धनकी स्पृहा कम होकर व्रतके प्रति श्रद्धा बढती है । भोगोपभोगमे तृष्णा घटती है । सकल्प विकल्प घटते

हैं। अत: दु:खोसे वचनेके लिए अपने शारीरिक पाप कार्योकी क्षेत्र मर्यादा हो जानेसे वह पाप और उसके फलसे कुछ अशोमे बच जाता है। इस व्रतका परिपालन सुखदायी है, अहिंसादि व्रतोका पोषक है, अत अणुव्रतीको यह व्रत पालना गुणकर है। १७८।

दिग्व्रतके अतिचारोका निरूपण—

(अनुष्टुप्)

ऊर्ध्वाद्यतिक्रमा निन्द्या न कार्या दुःखदाः सदा।
यतः स्वस्थो भवेत्स्वात्मा संसारार्णवपारगः ॥१७९॥

ऊर्ध्वेत्यादि.—दिग्व्रतस्य पचातिचारा ग्रन्थान्तरेषु निरूपिता सन्ति। तद्यथा—ऊर्ध्वदिशाया अतिक्रम प्रमादात् कषायावेशात् विस्मरणाद्वा कृतमर्यादात ऊर्ध्वमपि गमन वायुयानादिना मर्यादातिक्रमेण भ्रमण पर्वतादिषु उन्नतेषु कीर्तिस्तभादिषु आरोहण न कर्त्तव्यम्। कृते सति दिग्व्रतस्य प्रथमोऽतिचार स्यात्। उक्त कारणैरेव अधोदिशायामपि कूपादिके खन्यादौ अवतरण अधोऽतिक्रम द्वितीयोऽतिचार स्यात्। पूर्वादिष्वपि अखिलास्वपि दिक्षु मर्यादीकृतक्षेत्राद्वहि केनापि कारणेन गमन तिर्यग्व्यतिक्रमो नाम तृतीयोऽतिचार स्यात्। पूर्वदिशि अनावश्यकतया क्षेत्रमर्यादातो हीनगमन शेषक्षेत्रप्रमाण प्रयोजनवशादुत्तरदिशि सयोज्य तत्र लोभाद् गमन क्षेत्रवृद्धिर्नामा चतुर्थोऽतिचार स्यात्। क्षेत्रव्रतस्य विस्मरण तु पचम। इत्येव पञ्चातिक्रमा लोके शास्त्रे च निन्दनीया सन्ति परलोके च व्रतस्यैकदेशभङ्गरूपत्वात् दु:खफलोत्पादका सन्ति अत तदेव कर्त्तव्य यदात्मा आत्मन्येव स्थिरीभूय ससारसमुद्रस्य पार गच्छेत्। १७९।

दिग्व्रतके ग्रन्थान्तरोमे पाँच अतिचार बताए है। ये अतिचार व्रतका एकदेश भग कर देते हैं। व्रत भ्रष्ट मनुष्य ससारसे पार नही हो सकता। आत्मा स्वात्मरूपसे विचलित हो जाता है, इसलिए ऐसे निन्दनीय अतिचारोसे सदा दूर रहना चाहिए। वे अतिचार ये हैं—प्रमाद या विस्मरणसे ऊर्ध्वदेशका, उल्लघन कर देना। अर्थात् जितनी मर्यादा पहिले की थी कि मैं ऊर्ध्व दिशामे ४० या ५० या ६० या १०० फुट ऊपर चढूगा उस मर्यादाको लाघ जाना यथा—वायुयानसे भ्रमण करते समय पर्वतके ऊपर, मीनार या कीर्तिस्तम्भादिकोके ऊपर चढते समय यह मर्यादा टूट सकती है। इसी प्रकार उक्त कारणोसे ही अधोदिशाका उल्लघन करना दूसरा अतिचार है। पूर्वादि आठ तिर्यग्दिशाओका उल्लघन करना तिर्यग्दिशाव्यतिक्रम नामक तृतीयातिचार है। चौथा अतिचार है क्षेत्रवृद्धि। वह इस प्रकार कि पूर्वादि दिशाओमे किसीने १००-१०० योजनकी मर्यादा ले रखी है। कुछ समय बाद पूर्वमे तो १० योजनका ही काम पडा पर उत्तरमे १५० योजन जाना आवश्यक ज्ञात हुआ। तब पूर्वमे से ५० घटाकर उत्तरमे ५० योजन जोडकर यह समझना कि हमने व्रत भग नही किया यह चतुर्थ क्षेत्रवृद्धि नामा अतिचार है। व्रतकी मर्यादाका स्मरण न रखना लापरवाही करना यह विस्मरण नामका पाँचवाँ अतिचार है। इस प्रकार ये पाँच अतिचार त्याज्य हैं। तब ही व्रत निर्दोष रह सकता है। १७९।

देशावकाशिकव्रतका स्वरूप—

(आर्या)

दिग्व्रतनियते देशे परमितकालं पुनश्च सङ्कोचः।
देशावकाशिकाख्य तद्व्रतमुदितं विशेषज्ञैः ॥१८०॥

दिगित्यादिः—दिग्व्रतनियते दिग्व्रतनिर्धारिते देशे प्रदेशे परिमितकाल निर्धारितसमय यावत् पुनश्च सकोच स्वल्पीकरणं देशावकाशिकाख्य देशावकाशिकसज्ञ तद्व्रत स्यादिति विशेषज्ञैर्जिनागमरहस्यज्ञैर्विपश्चिद्भि-रुदित कथित प्रतिपादितमिति यावत् । १८० ।

दिग्व्रतमे आजन्मके लिए दशो दिशाओमे आवागमनके क्षेत्रकी मर्यादा ली थी । देशव्रती यह सोचता है कि पूर्व दिशामे १०० योजनकी मर्यादा है तथापि आज या दो चार दिन तक पूर्व दिशामे १०० योजन जाना नही है, अत यदि मर्यादाका सकोच कर लिया जाय तो कोई हानि नही है ऐसा विचार कर दिग्व्रतकी मर्यादाके भीतर ही भीतर अपनी आवश्यकताको देखकर तदनुसार आने जानेके लिए क्षेत्रकी मर्यादाका १ दिन २ दिन, अथवा १० दिन के लिए प्रमाण कर लेता है वह देशावकाशिकव्रत कहलाता है ।

देशव्रती देशव्रतकी मर्यादाका कभी उल्लघन नही करता । भोगोपभोगके साधनोकी प्राप्तिके लिए अथवा व्यापारादि कार्य करनेके लिए अपनी मर्यादाके भीतर ही प्रयत्न करता है, उसके बाहर नही ।

इस कार्यके करनेसे उसके कषायोमे और भी क्षीणता आती है, लोभवृत्ति घट जाती है, उदारता आ जाती है, त्याग और सयमकी भावना जागृत हो उठती है । अत पचाणुव्रतोकी स्थितिको पुष्ट करके उनमे गुणवृद्धि करनेवाले ये व्रत हैं, अत ग्राह्य हैं । १८० ।

देशावकाशिक व्रतके अतिचारो का वर्णन—

(अनुष्टुप्)

आनयनाद्यतिचारास्त्याज्याः सन्तापकारका ।
यतः स्यात्स्वात्मशुद्धिस्ते निवासोऽपि निजात्मनि ॥१८१॥

आनयनेत्यादि—आनयन प्रैष्यप्रयोग शब्दानुपात रूपानुपात पुद्गलक्षेपश्चेति पञ्चातिचारा देशावकाशिकव्रतस्य सन्ति । तत्स्वरूपञ्च यथा—एतद्व्रतान्तर्गतक्षेत्रमर्यादातो वहि क्षेत्रेषु स्वगमनागमनाभावेऽपि तत कस्यचिदिष्टस्य वस्तुन आनयन नाम प्रथमोऽतिचार । वहि क्षेत्रे कस्यचित्पुरुषस्य प्रेषणम् । त्व तत्र गच्छ एव कुरु इत्येव प्रकारेण प्रयोग प्रैष्यप्रयोगो नाम द्वितीयोऽतिचार । आनयनप्रेष्यप्रयोगाभावेऽपि स्ववाक्येन वाह्यक्षेत्रस्थितान् जनान् यद्याज्ञापयति यदेव कुरु तदेव शब्दानुपात तृतीयोऽतिचार । शब्दोच्चारणाभावे केवल हस्तसज्ञादिना स्वाभिप्राय विज्ञाप्य वाह्यक्षेत्रे तत्रस्थितेन पुरुषेण कार्यानुष्ठापन रूपानुपात चतुर्थोऽतिचार । तत्रैव क्षेत्रे पुद्गलाना लोष्टादीना लिखितपत्रादीनाञ्च क्षेपण पुद्गलक्षेप पञ्चमोऽतिचार । इति पञ्चातिचारा देशावकाशिकस्य सन्ति । एतैर्व्रत दूष्यते । स्वहितैषिणा सन्तापकारकाणामतिचाराणा त्याग कर्त्तव्य । १८१ ।

आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेपण ये पाँच अतिचार ग्रन्थान्तरोमे लिखे गए हैं । उन सबको आदिपदसे स्वीकार करते हुए, आचार्य प्रतिपादन करते हैं, कि देशव्रतमे जो जो क्षेत्र मर्यादा दिग्व्रत की विशाल मर्यादामे और भी सकोच कर बाँधी गई है, वह जितने समयके लिए है उतने समय तक अपने क्षेत्रके बाहरके प्रदेशमे न तो किसी व्यक्तिको भेजकर कार्य कराना चाहिए और न किसी वस्तुको मर्यादाके बाहर क्षेत्रमे भेजना चाहिए । यदि ऐसा करे तो क्षेत्रमर्यादा करनेका वास्तविक प्रयोजन नष्ट हो जाता है । अत व्रत लेनेकी जो मूल भावना है उसकी रक्षा करनेके लिए इन दोषोका त्याग करे । क्षेत्रकी मर्यादाके भीतर ही भीतर लेना, देना, व्यापार व्यवहार आदि करना चाहिए । भले ही उसमे कष्ट हो, पर उसको सहन कर शान्त रहना चाहिए, यही तो व्रत है ।

इसी प्रकार अमर्यादित क्षेत्रसे कोई वस्तु या व्यक्तिको बुलाना अथवा आदेश देकर उस क्षेत्रमे स्थित पुरुषसे ही उस क्षेत्रके व्यापारादि कार्यको कराना यह भी दोषकारक है। यदि किसीको न भेजे, न बुलावे, न शब्दोच्चारण पूर्वक आदेश दे, पर केवल अपने सकेत द्वारा बहि क्षेत्रमे स्थित अपने कार्यकारी व्यक्तिको स्वाभिप्राय समझा दे तो भी रूपानुपात नाम अतिचार है। मर्यादा बाहर कोई वस्तु फेंकना पत्र भेजना इत्यादि पुद्गल द्रव्यका भेजना और उससे कार्य करना यह भी अतिचार है।

ये सब अतिचारोके उदाहरण मात्र हैं। शास्त्रकारोने प्रत्येक व्रतके जो ५-५ अतिचार बताए है वे उदाहरण मात्र है ऐसा समझना चाहिए। उन जैसे अन्य कार्य भी उसी कोटिमे गिने जांयगे। जैसे तार व टेलीफोन द्वारा समाचार भेजना शब्दानुपात है। चिट्ठी भेजना, पार्सल भेजना मनीआर्डर भेजना आदि पुद्गलक्षेप है। इत्यादि अनेकानेक कार्य हैं जिनका नाम भले ही स्पष्ट न आया हो पर वे सब इन अतिचारोमे अन्तर्गर्भित हो जाते हैं। अथवा न भी हो सकते हो तो भी वे व्रतकी मूल भावनाको नष्ट करनेके कारण अतिचार ही हैं।

ये सब अतिचार व्रतघातक होनेसे तथा आत्माके लिए पापोत्पादक होनेसे सन्ताप उत्पन्न करने वाले है। इन सहित व्रती न तो आत्मशुद्धिको प्राप्त होता है और न निजात्माका निवासी होता है इसलिए आत्महितैषीको इन अतिचारोसे दूर रहकर स्वात्मशुद्धि व स्वहित करना चाहिये। १८१।

अनर्थदण्ड नामक गुणव्रतका स्वरूप इस प्रकार है—

(वसन्ततिलका)

स्वान्यात्मदुःखजनिका न च पापशिक्षा
देया कदापि न च हिंसकवस्तुदानम्।
त्याज्यं तथा स्वहितशून्यधन ह्यनर्थ—
त्यागव्रतं स्वसुखदश्च भवेद्व्रतस्ते॥ १८२॥

स्वान्येत्यादि—गार्हस्थिकप्रयोजन विनापि यत् किल आरम्भादिक क्रियते तत् अनर्थदण्ड'। एकदेशव्रतधारिणो यद्यपि नारम्भस्य त्याग तथापि तज्जनितदोषस्तु तस्य स्यादेव। न तु स एवभूतान् आरम्भजनितान् दोषान् परिहर्तुं शक्तस्तथापि स एव व्रतयति यत्प्रयोजनं विना भूम्यादिखनन जलपातन पवननि सारण अग्निसचार वनस्पतिच्छेदन आरम्भादीना पापहेतुकानामुपदेश हिंसाया साधनभूताना शस्त्रादीना आदानप्रदानकरण कुत्सितपुस्तकाना पठन पाठनञ्च कस्यचित् वधस्य बधनस्य धनक्षयस्य पुत्रादिवियोगस्य चिन्ता वाछा वा पञ्च अनर्थदण्डा। प्रयोजनवशात् तत्करणे यद्यपि न काचिद्धानिस्तथापि तदेकदेशव्रतिना मर्यादामतिक्रम्य ते परिहरणीया।१८२।

गृहस्थ एकदेशव्रतका धारी है, अत गार्हस्थिक प्रयोजनसे जो आरम्भ, उद्योग, और व्यापार आदिके कार्य हैं उनका त्याग उसने नही किया है। तथापि उसके व्रतमे इस अनर्थदण्डव्रतसे विशेषता आजाती है। जिन कार्योके बिना किए भी उसका निर्वाह हो जाता है उन कार्योके आरम्भसे बचना यह अनर्थ-दण्डव्रत हैं। जिन गृहस्थारम्भोका उसके त्याग नही है उनके करनेमे व्रतभग भले ही न हो पर पाप तो होता ही है। उतना त्याग और हो जाय तो अणुव्रत महाव्रत जैसे बन जाते हैं। अत· जब तक

उसके महाव्रत धारण करनेकी सामर्थ्य भीतरसे नही उत्पन्न हुई तव तक अणुव्रतधारी यह विचार रखता है कि मै अत्यावश्यक होने पर ही आरम्भ कार्य करू̃। यदि विना आरम्भके भी मेरा निर्वाह हो सकता हो तो मै उन आरम्भोको जो व्यर्थ ही पापवधके हेतु हैं न करू̃। ऐसा करना भी व्रत सज्ञाको प्राप्त कर लेता है और उसे ही अनर्थदण्डव्रत कहते है।

विना प्रयोजन भूमि खोदना, पानी सीचना, हवा करना, अग्नि जलाना या वुझाना, वृक्ष काटना, उसके पत्र व फलफूलोका तोडना, तथा किसीको अनेकानेक आरभोको करनेका उपदेश देना, पापारम्भकी क्रिया सिखाना, हिंसाके साधनोका प्रदान करना, स्वय हिंसा झूठ चोरी आदिका त्याग होते हुए भी अपने पुत्र मित्रादिको जिन्हे उक्त पापोका त्याग नही है उन्हे यह समझकर कि मैं स्वय तो करता नही हूँ और इन्हे त्याग नही है अत इनको लाभ मिल जाय इस अभिप्रायसे पापारम्भके उपायोका वताना, कामवर्द्धक, हिंसा पोषक, चोरी विश्वासघात छल ठगोरीके विविध उपाय वतानेवाली पुस्तकोका पठन पाठन करना, अथवा ऐसे खेल तमाशे सिनेमा नाटक आदि देखना, किसीका अहित हो जाने पर हर्ष मानना, चोरी हो जाने पर प्रसन्न होना, अथवा किसीके वध वन्धन हो जाने का विचार करना, चोर कथा आदि विकथा करना, विना प्रयोजन वाजारमे हाटमे गली कूचोमे वेश्या व्यभिचारिणी कुट्टनी आदिके निवासस्थानो की ओर व चोर व्यभिचारी जुआरी लोगोके अड्डो पर चक्कर लगाना अनर्थदण्ड हैं। इत्यादि कार्य अपने तथा दूसरोके हितके विरुद्ध होनेसे नही करने चाहिए। इनसे कर्त्ताका कोई लौकिक प्रयोजन भी नही सधता किन्तु पापका वृथा वध हो जाता है। अत निष्प्रयोजन पापसे वचना चाहिए। १८२।

अनर्थदण्ड व्रतके अतिचार ये हैं—

(अनुष्टुप्)

कन्दर्पकौत्कुच्याद्यतिचारा भ्रान्तिकारकाः।
त्याज्या ज्ञात्वेति भव्यैः स्यात् स्वस्थः स्वात्मा सदा सुखी ॥१८३॥

कन्दर्पेत्यादिः—कन्दर्प नाम रागोद्रेकात् मनोविकारोत्पादकवचनव्यवहार। कौत्कुच्य नाम शरीरस्य कुत्सिता चेष्टा नेत्रगात्रसचारण विटपुरुषाणा वेश्यादीना अनुकरण विदूषकत्वव्यापार नानाप्रकारेण कामोत्पादिका चेष्टा। अधिकतया वाग्व्यापार प्रयोजनेन विनाऽपि वचनाधिक्यप्रयोग मौखर्यम्। भोगोपभोगयोग्यानामपि वस्तूना स्वप्रयोजनमतिक्रम्य सग्रह अतिप्रसाधनम्। प्रयोजनेन विनापि विविधकार्याणा लाभादिकमविचार्य करण असमीक्ष्याधिकरणम्। इत्यनेन प्रकारेण अनर्थदण्डव्रतस्य पञ्चातिचारा निर्दिष्टा। वस्तुतस्तु अनर्थदण्डानामनन्तत्वात् तद्गणना न स्यात्। अनादित एव सग्रहवृत्तित्वात् असख्यलोकप्रमाणकषायाशैरभिभूतत्वाच्च लोकाना निष्प्रयोजन अनेकानि पापानि भवन्ति। अत भव्यपुरुषैस्तु एतेऽनर्थदण्डा त्याज्याः यत आत्मा सदा स्वाधीन सुखी च स्यात्। १८३।

हँसी करना, रागोत्पादक व्यग वचन बोलना, कामोत्पादक दुश्चेष्टाओका वर्णन करना कन्दर्प है। उक्त अभिप्राय पूरक शारीरिक दुश्चेष्टाएँ कौत्कुच्य है। जिन वचनो या चेष्टाओसे दूसरे प्राणियोको क्रोध, अभिमान, माया, लोभ आदि कषायोकी प्रवलता हो उठे, झगडे हो जाँय, मार-पीट हो जाय, कलह विसवाद हो जाय, वैर वढ जाय वे भी इन दोनो अतीचारोमे सम्मिलित है। वाचालता

करना बिना प्रयोजन किसीकी भी बातचीतके मध्यमे अधिकतासे बोलना मौखर्य है। अपने भोगो-पभोगके योग्य भी हो ऐसे गृह, आभूषण, सोना, चाँदी, रुपया, वस्त्र अथवा अन्य अनेक प्रकारके साधनोका अपनी आवश्यकताकी पूर्ति हो जानेके बाद भी लोभवृत्तिसे तथा अनादिकालीन परिग्रह सज्ञा, मैथुन सज्ञा, आहार सज्ञा तथा भय संज्ञा इन चतुर्विध सज्ञाओके सस्कारसे अधिकाधिक सग्रह करना तथा यह वस्त्र अच्छा लगता है इस भावसे अनेक फैशनोके पदार्थोंका, जिनसे आवश्यकताकी पूर्ति नही होती किन्तु केवल रागभाव प्रबल होता है, सग्रह करना अतिप्रसाधन नामक अतिचार है। पाँचवाँ है असमीक्ष्याधिकरण अर्थात् बिना विचारे विना देखे शोधे अनावश्यक रूपसे भी विविध प्रवृत्तियाँ करना। ये पाँच उदाहरण रूपसे अनर्थदण्ड व्रतके अतिचार बताए गए हैं। वास्तवमे असख्यात लोक प्रमाण कषायें जीवोमे हैं जिनकी पूर्ति न कभी हुई और न होगी। जीव अनादिसे ही उन कषायो द्वारा अभिभूत है, अत शारीरिक आवश्यकता न भी हो तो भी वह विविध प्रवृत्तियाँ, विविध चेष्टाएँ और विविध वाग्व्यापार करता है। इस भ्रातिको छोडकर ऐसा कार्य करना चाहिये जिससे आत्मा सदा सुखी और स्वाधीन रहे।१८३।

हे गुरुदेव ! सामायिकका स्वरूप क्या है और उसके अतिचार कौन है, कहिए—

(वसन्ततिलका)

वाक्कायचित्तचलनञ्च निरुद्धय साम्य
धृत्वात्मबाह्यसकले भवदे पदार्थे।
लीनो भवेन्निजपदे हृदि यः स धीरः
सामायिकव्रतयुतो भवति प्रकामम् ॥१८४॥

वागित्यादि—मनोव्यापारेण वाग्व्यापारेण कायव्यापारेण च यत् किलात्मनश्चलन तदेव कर्मास्रवकारण भवति। योगचञ्चलतया आत्मभिन्नेषु अखिलेष्वपि पदार्थेषु न साम्यबुद्धिर्भवति किन्तु इष्टानिष्टापत्तित रागद्वेषावुत्पद्येते। रागद्वेषौ तु बन्धनहेतू। स एव ससार। ततस्तान् योगान् एकस्मिन्नात्मस्वरूपे वा निरुद्धय यदि लीन स्यात् तर्हि तस्य धीरवीरस्य सर्वत्र इष्टानिष्टबुद्धेरभावो भवति साम्यभावश्चोत्पद्यते। तदेव सामायिकम्। तत्कर्त्ता च सामायिकव्रती ॥१८४॥

मन-वचनव्यापार और कायके अवलबनसे आत्मप्रदेशोमे हलचल होती है। यही हलचल आत्माको कर्माधीन करनेमे हेतु है। जब ससारके पदार्थोंकी ओर आत्माका उपयोग होता है तब उस अनात्म-योगीके उन पदार्थोंमे आत्मसुख प्राप्त करनेकी कल्पना उठती है। जो पदार्थ इन्द्रिय विषयोके लिए साधक पडने लगते हैं उन्हे इष्ट मानकर सग्रह करता है और जो असाधक हो उनसे दूर रहना चाहता है। प्रत्येक पदार्थमे उसे भेददृष्टि प्राप्त हो जाती है। यदि एक आमका फल हाथ आया तो उसमे रसभागसे प्रीति और छिलका आदिके प्रति अप्रीति पैदा हो जाती है। इसी प्रकार प्रीतिदायक व्यक्तिसे प्रीति और अन्यसे अप्रीति। कभी कभी इष्ट पदार्थके अनेक ग्राहक होनेसे भी पारस्परिक सघर्षकी स्थिति आ जाती है। ससारमे यह प्रवृत्ति जीवकी अनात्मबुद्धि होनेके कारण अनादि से है।

सामायिक व्रतसे यह रोग दूर हो जाता है। सामायिक व्रती आत्मभिन्न इन पदार्थोको ही आत्म-हितके बाधक मानकर उस ओर अपने मन, वचन और कायका व्यापार नही जाने देना चाहता। तीनो योगोकी प्रवृत्ति आत्मतत्त्व या परमात्मतत्त्वके स्वरूपालिगनमे ही करता है। यदि वह इस प्रयोगमे सफल होता है तो आत्मबाह्य पदार्थोमे उसे कोई पदार्थ इष्ट या अनिष्टकर प्रतीत नही होते। उनमे कोई भेदभाव नही होता। सव पदार्थोमे साम्यभाव उत्पन्न हो जाता है। वह समझता है कि ये अनात्म-भूत पदार्थ हैं इनमे राग और द्वेष क्यो ? पर पदार्थ मानकर उनके प्रति उपेक्षा और आत्मतत्त्वको निजस्वरूप मानकर उसके प्रति उपादेयताका भाव जागृत होता है। इस साम्य परणतिका नाम ही सामायिक है। यह व्रत जिसे हो वह समझदार पुरुष सामायिक व्रतका व्रती है। यह व्रती सदा अपनी दृष्टिमे यह रखता है कि आत्मबाह्य पदार्थोमे कदाचित् भी राग द्वेष न हो। सवको एक ही दृष्टिसे देखता है कि ये पर हैं मेरे लिए अनुपादेय हैं। सवपर समान भावका नाम ही साम्य है। उसी साम्य भावकी प्राप्तिका प्रयत्न सामायिक है ॥१८४॥

नाम संस्मरण रूप सामायिकसे गार्हस्थिक दैनिक पापोका नाश होता है यह वतलाते है—

(अनुष्टुप्)

सरम्भादिकभेदाद्वा कायकृतादिभेदतः ।
क्रोधादिसंयुता जीवा पापश्चाष्टोतर शतम् ॥१८५॥
प्रतिदिन प्रकुर्वन्ति दु खद तत्त्वतस्सदा ।
तन्नाशाय जपं कुर्याद् भक्त्या ह्यष्टोत्तरं शतम् ॥१८६॥युग्मम्॥

संरम्भेत्यादिः—कार्यकरणस्य विचार संरम्भ । तत्साधनानामेकत्रीकरण समारम्भ । तत्कार्यस्य प्रारम्भ एव आरम्भ । एतान् योगत्रयेण मनुष्य यदि स्वय करोति तदा तत्कृतमिति कथ्यते । अन्येन कारयति तदा कारित-मिति। अन्यैस्तु क्रियमाणेषु कार्येषु तत्प्रशसन अनुमोदना। इत्यनेन प्रकारेण सरम्भादित्रय त्रियोगेन करोति कारयति अनुमोदते च इति ससविंशतिप्रकाराणि पापानि कषायचतुष्काधारेण करोति चेत् अष्टोत्तरसख्यकानि पापानि भवन्ति गृहाश्रमे प्रतिदिनमिति। तत्प्रक्षालनाय प्रतिदिन परमात्मनः तन्नामानि अष्टोत्तरशतान्येव जाप्यानि। जपमालाया अष्टोत्तरशतगोलकाना सख्या भवत्यत एव ।१८५।१८६।

गृहाश्रममे प्रतिदिन जो पुण्य या पापके कार्य होते हैं उनका विभाजन १०८ प्रकारका किया गया है। उन १०८ प्रकारके पापोके प्रक्षालन हेतु १०८ बार परमात्माका नाम स्मरण करना आवश्यक है। १०८ पाप कौन-से हैं उनका विवरण किस भाँति है, आगे यह बतलाते हैं—

सर्वप्रथम मनुष्य उद्देश्य बाँधता है, कार्य करनेका सकल्प करता है। इस उद्देश्य बधन या सकल्प करणको सरम्भ कहते हैं। सकल्पके बाद उसे पूरा करनेके लिए उस कार्यके पूर्ण करने योग्य साधनोको एकत्रित करनेको समारम्भ कहते हैं। साधनोंके सगृहीत हो जानेपर उस कार्यका प्रारम्भ हो जाता है उसे शास्त्रकार आरम्भ कहते हैं। इस तरह इन तीनोको यह प्राणी मन, वचन व कायकी सहायतासे करता है, दूसरोसे कराता है अथवा करनेवाले व्यक्तिके कार्यकी अनुमोदना करता है। इस प्रकार ३ × ३ × ३ = २७ प्रकारके इन पापोको क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंके वश

करता है। इस कारण पापोके भेद २७×४=१०८ हो जाते है। जितनी सख्यामे गृहाश्रममे ये पाप संभव हैं उतने दाने ही एक जपमालामे नियत किए गए हैं। यद्यपि जैनेतर बधु भी १०८ दानेकी माला जपते हैं, पर मालामे १०८ दानोके रहनेका क्या हेतु है यह उन्हे ज्ञात नही। जैनाचार्योंने उसका उक्त प्रकारसे स्पष्ट विवेचन किया है। इन १०८ विधिसे होनेवाले दुखदायी ससार परिभ्रमणके हेतुभूत पापोसे बचनेके लिए सामायिक व्रती सामायिकके समय जपमालाके आश्रयसे अथवा अपनी कराङ्गुलियो-की सहायतासे १०८ बार परम पूज्य परमात्माका नाम स्मरण करे तो उसके दैनिक पापोका दैनिक प्रक्षालन हो जाता है। पापोका पहाड एकत्रित नही होता, अत सामायिकव्रतीका प्राथमिक कर्त्तव्य जिनेन्द्रके नामोका सस्मरण है ।१८५।१८६।

नामस्मरणके बाद सामायिकमे क्या करना चाहिए—

(अनुष्टुप्)

सत्प्रतिक्रमणं पश्चात् कार्यं निष्कामतो जनैः ।
स्वात्मशुद्धिर्यतः स्यात् कौ प्रेमवृद्धिः परस्परम् ।।१८७।।
वस्त्वन्यत्स्वात्मनो भिन्नं त्यक्त्वा ज्ञात्वेति चिह्नतः ।
स्वात्मन्येव निवासः स्यात् परं सामायिकं व्रतम् ।।१८८।। युग्मम् ।।

सदित्यादि॰—सासारिकप्रयोजनमन्तरेण केवल स्वात्मदोषशोधनाय प्रतिक्रमण कर्त्तव्यम्। ये किल दोषा सजातास्तेषा स्मरण तदा भवति। व्रती तु विचारयति यत् यन्मया पाप कृत तन्मे मिथ्या भवतु। अद्यप्रभृति एवविध-पाप न करिष्यामि। कृतपापतो मे मुक्ति स्यात्। इत्येव प्रतिक्रमो विधेय। प्रतिक्रमेण वैर दूरीभवति मैत्री वर्धते। विना प्रतिक्रमेण गृहस्थाना मुनीना च व्रतानि न निर्मलानि भवन्ति। प्रतिक्रमण व्रतिना अत्यावश्यक कर्म। तस्मात् प्रतिदिन तत् कर्तव्यमेव। स्वात्मनो भिन्नाना वस्तूना स्वरूप सम्यक् परीक्ष्य तेभ्यो विरज्य स्वात्मन्येव स्वात्मनो निवास सामायिक व्रतम्भवति ।१८७।१८८।

प्रत्येक व्रतीके लिए प्रतिक्रमण एक आवश्यक कर्म है। बिना प्रतिक्रमणके मुनि या श्रावक अपने व्रतोमे जीवित नही रह सकता। उसकी पदमृत्यु बहुत शीघ्र हो जायगी। प्रतिक्रमण व्रतीके लिए रसायन है। दिव्यौषधि है। आत्मदोषोका स्मरण कर उसे दूर करनेकी भावनासे व्रती जब अपने आप यह सकल्प करता है कि मैं इन पापोसे मुक्त हो जाऊँ। मुझसे अब ऐसे पाप न बने ऐसा प्रयत्न करूँगा तब वह प्रतिक्रमणका कर्त्ता माना जाता है। यदि हम अपने पापोपर स्वय पश्चात्ताप करें तो हमारा वैरी भी शान्त हो जाता है। वह हमे क्षमा कर देता है। परस्पर प्रेमकी वृद्धि होती है, अत व्रती को प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए।

अपनी आत्मासे भिन्न मूर्तीक या अमूर्तीक पर पदार्थोंका विचार कर व चिह्नोसे उनकी परीक्षा कर उनमे न उलझना तथा उन्हे आत्महितका बाधक समझ उनकी उपेक्षा करना और स्वात्मचिंतन कर स्वात्मामे लीन होना उसमे ही निवास करना सामायिक व्रत है। इस सर्वोच्च अवस्थाकी प्राप्तिके लिए ही नाम स्मरण तथा प्रतिक्रमणका उपदेश दिया गया है ।१८७।१८८।

सामायिकके कारणीय कार्योंको ५ भागोमे आचार्य विभक्त करते हैं। उनका वर्णन आगे दिया-जाता है।

(अनुष्टुप्)

सिद्धार्हद्वन्दनां कृत्वा भक्त्यात्मनः स्पृहोज्झनात्।
स्वात्मोत्थरसपानं हि श्रीद स्याद्वन्दनाव्रतम् ॥१८९॥

चतुर्विंशतिदेवानां गुणान् स्तुत्वाऽऽत्मनोऽर्थतः।
स्तुतिव्रत वर स्याद्धि चिद्रूपोत्थान्नभक्षणम् ॥१९०॥

द्रव्यादौ स्वकृत त्यक्त्वा विभावमात्मनस्तमः।
स्थितिरेवात्मसौख्ये हि स्यात्प्रतिक्रमणं व्रतम् ॥१९१॥

सावद्यद्रव्यसंजातं दोषं मुक्त्वात्मनः स्पृहाम्।
शुद्धद्रव्ये स्थितिं कुर्यात् प्रत्याख्यानव्रत भवेत् ॥१९२॥

स्वात्मास्ति शुद्धचिद्रूपो भिन्नो मे देहतः सदा।
मत्वेत्यात्मनिवासः स्यात्कायोत्सर्गव्रत वरम् ॥१९३॥ कुलकम् ॥

सिद्धार्हदित्यादिः—जिनवन्दना जिनस्तुति प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान कायोत्सर्गश्चेति पञ्चाङ्गानि सामायिकस्येति निरूपितानि आचार्येण। तद्विस्तर १—लौकिकलाभादिकमनपेक्ष्य सम्यक्त्वोत्पन्नजिनभक्तितोऽर्हता सिद्धानामात्मरूपाणा वन्दना करणीया। अर्हन्त सिद्धाश्च द्रव्यकर्मभावकर्मविमुक्तत्वात् शुद्धस्वात्मस्वरूप प्रपन्ना तेषा स्वरूपचिन्तनाद् भाक्तिकस्य स्वात्मामृतरसस्य स्वादनम्भवति। तदानन्द एव-तस्य कल्याण-प्रदोऽस्ति। इदमेव प्रथम वन्दनाव्रतमस्ति। २—वृषभादिमहावीरपर्यन्ताना वर्तमानचतुर्विशतितीर्थंकराणाम् अतीतानागततीर्थंकरगणाञ्च गुणान् स्मार स्मार स्वात्मन्यपि गुणाश्चैते स्वरूपेण सन्त्येव इति जिनस्तुति-प्रकरणेन स्वात्मगुणज्ञान प्रकारान्तरेण स्वात्मोत्थगुणा एव वान्यानि तद्भक्षणात् आत्मक्षुन्नाश स्तुतिव्रत भवति द्वितीयमिति। ३—यन्मया पूर्वं कृतोऽपराध स मे मिथ्या भवतु। मम कृतदोपप्रक्षालनम्भवतु। इत्येव प्रकारेण दिवसदोषान् रात्रिदोषान् ईर्य्यापिथदोषान् पक्षदोपान् चातुर्मासदोपान् वार्षिकदोषान् मरणकाले जीवन-दोषाश्च स्वात्मनो निन्दागर्हाऽलोचनपूर्वक प्रक्षायलति विशोधयति चेति सप्तविध प्रतिक्रमण भवति स्वदोपशान्त्यर्थं सामायिकेऽपि तत्स्यात् इति तृतीय प्रतिक्रमण व्रतम्। ४—भूतकाले कृतकर्मण निन्दया गर्हया च विशोधन कृत्वा वर्तमानदोपाश्च आलोचनया विशोध्य भाविकाले एतादृगपराधो न स्याद् इति विचारणया दोपाणा त्याग प्रत्याख्याननामक चतुर्थं व्रत स्यात्। ५—शरीरस्यापि ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वमापन्न प्रलम्बितभुजयुग्म ऊर्ध्वजानु चतुरङ्गुलान्तराङ्घ्रियुग्म सुस्थितो भूत्वा पञ्चनमस्कारमन्त्रस्मरण अष्टोत्तरशतवार चतु पञ्चाशद्वार सप्तविंशति-वार नववार वा तत्कायोत्सर्गो नाम पञ्चम व्रतम्। प्रतिक्रमणे प्रत्याख्याने कायोत्सर्गे स्तुतौ वन्दनाया वा निजविकृत-परिणामाना परित्यागाय सावद्यद्रव्यनिमित्तेन वा समुत्पन्नदोपनिराकरणाय देहात्मभेदज्ञानात् स्वपरस्वरूप सम्यग्ज्ञात्वा स्वस्वरूपग्रहणे प्रयत्न क्रियते। तस्यैव स्मरण तस्यैव जप तस्यैव वन्दना तस्यैव स्तुतिरिति स्वात्मोपलब्ध्यै सर्वानप्युपायान् करोति। सामायिकाद्यावश्यकाना पण्णामेवात्र सामायिके वर्णन कृतम्। सामायिक

तु मुख्यं इतरे पञ्चावश्यकास्तु तदङ्गीभूतास्तस्मात्तेषामत्र सामायिकव्रत एव समावेश कृत इत्येव पञ्चाङ्गसमेत सामायिक करणीयम् । तदेव सामायिक व्रतमिति ।१८९।१९०।१९१।१९२।१९३।

जिनवन्दना, जिनेन्द्रकी स्तुति करना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये पाँच सामायिक के अग आचार्यों ने उपदेशित किए है। इसका स्वरूप इस प्रकार है—

१—लौकिक लाभ प्रतिष्ठा अथवा अन्य प्रयोजनको अपेक्षा न करके केवल श्रद्धावश उत्पन्न हुई जिनभक्तिके कारण अर्हन्त और सिद्ध परमात्माकी वन्दना करना चाहिए। ये दोनो परमेष्ठी क्रमश बहुदेश या सर्वदेश रूपसे द्रव्यकर्म और भावकर्मसे रहित होकर शुद्ध स्वात्मस्वरूपको प्राप्त कर चुके हैं। इनके स्वरूप चिन्तनसे भक्त पुरुषोको स्वात्माके स्वरूपका दर्शन होता है। शुद्धान्तस्स्वरूप परमात्मा हमारे आत्माके प्रतिबिम्ब जैसे हैं। उन्हे देखकर हम आत्मस्वरूपकी पहिचान करते हैं। आत्मोत्पन्न अमृतरसका स्वाद हमे उनके दर्शनसे प्राप्त होता है, अत' जिनकी वन्दना कल्याणप्रद है।

२—ऋषभदेवसे महावीर पर्यन्त वर्तमान चौवीस तीर्थंकर भगवान अथवा भूतकाल या भाविकाल मे होनेवाले चौवीसो तीर्थंकर अथवा विदेहक्षेत्रोमे विद्यमान सीमधरादि बीस तीर्थंकर हैं। इन सबके गुणोका बार बार स्मरण कर यह विचार करना कि मेरे आत्मामे भी ये गुण विद्यमान हैं। मेरा शुद्ध स्वरूप तो इसी प्रकार है। इस तरह जिनेन्द्र की स्तुतिके आधारसे अपने स्वरूपका चिन्तवन करना आत्माकी बुभुक्षाको आत्मगुण रूपी अन्न भक्षणसे शान्त करना ही जिनेन्द्र स्तुति है।

३—तीसरा अग है प्रतिक्रमण। इसका स्वरूप इसप्रकार है यह विचार करना कि मुझसे जो प्रमादवश अपराध हुए हैं वे दूर हो। मेरे दोष मुझसे प्रथक् हो। मैं निर्दोष बनूँ। इसप्रकारके विचारोसे अपनी आत्माके कृत अपराधोकी आलोचना पूर्वक उनसे अपनेको मुक्त करनेकी भावना करना प्रतिक्रमण है। व्रती पुरुषको दिनमे जो दोष प्राप्त हुए हो उनको दूर करने का परिणाम दैवसिक प्रतिक्रमण है। रात्रि सबधी दोषोको दूर करना रात्रिकप्रतिक्रमण है। इसीतरह पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक और वार्षिक दोषोको दूर करना उक्त नामके प्रतिक्रमण हैं। जीवनके अन्तमे जीवनभरके दोषोकी विशुद्धिके लिए भी प्रतिक्रमण किया जाता है। उक्त सातो प्रसगोपर अपने दोषोका स्मरण कर आत्मनिन्दा पूर्वक उनका विशोधन करना सात प्रकारका प्रतिक्रमण है।

४—अतीत कालके दोषोको जैसे निन्दा गर्हापूर्वक तथा वर्तमान दोषोको आलोचना पूर्वक विशुद्ध करके फिर यह विचार करना कि भविष्य कालमे मै इसप्रकारके दोषोको अपनेमे न लगने दूँगा। ऐसे प्रयत्नका नाम प्रत्याख्याननामा चतुर्थ अग है।

५—अपने शरीरसे ममत्व परिणाम (यह मेरा है ऐसा परिणाम) त्यागकर निर्मोह भावको प्राप्त कर स्थिर होकर पञ्चनमस्कार मत्रका ध्यान करना कायोत्सर्ग नामा पाँचवाँ अग है। दोनो हाथ नीचे उन्मुक्त छोडना, दोनो पैरोंके बीच ४ अगुल मात्र अन्तर रखकर खडे होना तथा काष्ठ या पाषाणकी तरह स्थिर होकर जपना यह कायोत्सर्गकी मुद्रा है। मुख्य प्रयोजन कायोत्सर्गका कायसे भी निर्ममत्व होना है। इसमे नवबार, सत्ताईस बार, चौअन बार या एक सौ आठ बार भी जाप किया जाता है। सामायिकके इन पाँचो अगोंके करनेमे मुख्यहेतु क्या है इस प्रश्नका विचार करना आवश्यक है।

सामायिक का उद्देश्य है समता परिणामोकी प्राप्ति अर्थात् रागद्वेषसे रहित आत्मपरणति स्वरूप बनना। उक्त पाँचो अग उसके शरीरभूत हैं। उनके बिना समता परिणाम उत्पन्न नही हो सकते।

जब व्रती यह विचार करता है कि मेरा स्वरूप यथार्थतया श्रीजिनेन्द्रके शुद्ध स्वरूपकी तरह रागद्वेषसे विमुक्त है, निरञ्जन है, निराकार है और द्रव्य भाव कर्मसे रहित है, तब ही उसे अपने अतीत अपराधो की याद आती है। वह अपने अतीत दोषो पर विचार करता हुआ उनसे उन्मुक्त होना चाहता है। उसे यह अनुभव होने लगता है कि जबतक मैं उक्त दोषोसे रहित नही हूँ तबतक शुद्ध कैसा ? यह तो मात्र विडम्बना होगी, अत आत्मग्लानि उसे उत्पन्न होती है। वह सतत विचारता है कि इन दोषोसे मै कैसे छूटूँ। जबतक इनसे नही छूटा तबतक शुद्धि कैसी ? इस प्रतिक्रमणसे उत्पन्न उलझनको प्रत्याख्यान सुलझा देता है।

वह भविष्यमे मैं किसी प्रकारसे ऐसे अपराध न करूँगा, अपने मे यह कालिमा न लगने दूँगा ऐसा दृढ निश्चय करता है। इसीका नाम है दोषोका त्यागरूप प्रत्याख्यान।

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यानमे, कायोत्सर्गरूप ध्यानमे तथा जिन वन्दना जिनस्तुति आदि कार्योंमे व्रती अपने विकृत परिणामोका त्याग करता है। सावद्य कार्योंके निमित्तसे जो दोष उत्पन्न हो गए हैं उनका निराकरण करता है। स्वपरभेद विचार द्वारा परित्याग कर स्वग्रहणका प्रयत्न करता है। उस विशुद्ध रूपका ही स्मरण, उसीका जप, उसीकी वन्दना और उसीकी स्तुति करता है। इसप्रकार स्वात्मोपलब्धिका प्रयत्न सब ओरसे करना ही सामायिक व्रत है। समता उद्देश्य है और ये पाँच उसीके साधक हैं। अथवा समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ऐसे छह आवश्यक भी सामायिकके अग माने गए हैं। पाँच और छहका वर्णन केवल वर्णन की शैलीमात्र है वास्तवमे दोनो एक ही हैं।

उक्त प्रकारसे अपने को राग-द्वेषसे विमुक्त कर साम्यावस्थाकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करनेका जो नियम है वही सामायिक व्रत है। यह व्रत प्रात काल, मध्याह्नकाल और सायकालमे कम से कम २ घडी (४८ मिनिट) मध्यम प्रमाणसे ४ घडी और उत्तम प्रमाणसे ६ घडीका प्रतिदिन करना चाहिए। १८९।१९०।१९१।१९२।१९३।

तदतिचाराः

अब सामायिक व्रतके अतिचार लिखते हैं—

(अनुष्टुप्)

मनोदुष्प्रणिधानाद्या अतिचारा भवप्रदाः।
न कार्या भ्रान्तिदा भव्यैः स्वस्थः स्वात्मा भवेद्यतः ॥१९४॥

मन इत्यादिः—वाक्कायमानसाना सामायिकक्रियातिरिक्तविषयेषु क्रियाकरण सामायिकस्य त्रयोऽतिचारा सन्ति। योगत्रयस्यैव माहात्म्य यत् जीव कर्मणा बद्धयते योगचाञ्चल्याभावे तु न कर्मणामास्रव स्यात्। सामायिके एष एव प्रयत्न यत्पञ्चेन्द्रियविषयेषु क्रोधादिकषायेषु च योगत्रयाणाम्प्रवृत्तिर्न स्यात्। तत्प्रवृत्तौ तु

दुष्कर्मणामास्रवणात् संसारपरिभ्रमणे चतुर्गतिसंसरणे वृद्धिर्भवति इति मनसा जिनगुणानेव चिन्तयेत् वचसा तानेवोच्चारयेत् कायेन जिनवन्दनादिकमेव कुर्यात्। तस्माच्चलनमेवातिचारा सामायिके दोषप्रदा। अनादरेण सामायिककरणं तत्क्रियाविस्मृतिश्च अतिचारौ। इत्येवं पञ्चातिचारान् परित्यज्य सामायिकं कुर्यात् येनात्मा स्वात्मदेशं व्रजेत्।१९४।

मनकी चञ्चलता, वचनव्यापार और शारीरिक क्रिया इन तीनो योगोका सञ्चलन ससारी प्राणीके अपनी-अपनी योग्यतानुसार सदा होता रहता है। सामायिक व्रतमे इन तीनो योगोको सासारिक विषयो मे और उनकी प्राप्ति या अप्राप्तिमे होनेवाली कषायोंसे बचाकर साम्यभावकी प्राप्तिके लिए लगानेका प्रयत्न किया जाता है। यदि सामायिक व्रती अपने योगोको इस प्रयत्नसे हटाकर विषय कषायोमे प्रमादवश चलाता है तो उसके व्रतके लिए ये तीनो दोषरूप है।

तीनो ही योगोकी चञ्चलतासे यह जीव कर्मोके द्वारा बँधता है, क्योंकि जीवमे कर्मोका प्रवेश इन्हीके द्वारा होता है, कषायभाव इनका दृढ बधन आत्माके साथ कर देते है। यदि योगोकी चञ्चलता मिट जाय तो कर्मोका प्रवेश ही आत्मामे नही हो सकता और आस्रवके अभावमे ससार-चक्रका परिभ्रमण भी मिट जाय।

यदि योगकी प्रवृत्ति साम्यभावसे च्युत हो जाय तो भी उसे जिनगुण चिन्तवनमे, जिनेन्द्रके नामोच्चारणमे और जिनवन्दनादि कार्योमे ही लगाना चाहिए न कि विषयकषायादिके चिन्तवन आदिमे। इन तीन अतिचारोके सिवाय सामायिकका चौथा अतिचार है सामायिकके कार्यमे आदरभाव न होना। अनादर होनेपर सामायिककी क्रियाओका विस्मृत हो जाना अस्वाभाविक नही है। अत सामायिककी क्रियाओका भूल जाना यह पाँचवाँ अतिचार है। इसप्रकार सामायिक व्रतके पाँच अतिचारोंका निरूपण किया।

सदोष आचरण ही अतिचार है। जिस व्रतको स्वीकार किया यदि उसके पालन करनेमे व्यक्ति उद्देश्यको भूल जाता है तो वह व्रत सदोष बन जाता है। उसके पास व्रतकी खोल रह जाती है और उसका सारभाग नष्ट हो जाता है। सामायिक व्रती भी सामायिकको इसलिए स्वीकार किए है कि इसके द्वारा मै उस परम साम्यावस्थाको प्राप्त हो जाऊँ जो कि अन्तिम ध्येय है। यदि वह सामायिक सम्बन्धी समस्त बाह्य क्रियाओका आलबन कर सतुष्ट हो जाय, अपने मूलोद्देश्यको भूल जाय तो मन, वचन, कायकी अन्यथा प्रवृत्ति हो जाना स्वाभाविक है। तथा मानसिक असावधानीसे सामायिकमे चित्त न लगना उसकी समस्त क्रियाओंके प्रति अनादर भावका होना ही सम्भव है। जिस कार्यमे अनादर भाव है उसके कार्य भूल जायें, यह भी सुसगत है। इस प्रकार एक अतिचार अन्य अतिचारोका जनक है और ये व्रतसे भ्रष्ट होनेका द्वार खोल देते हैं।

संसार भ्रान्तिके दाता इन अतिचारोंसे या इसी प्रकारके अन्य सभावनीय दोषोंसे जो अपनेको मुक्त कर सके, उसी आत्मामे स्वात्मस्थित होनेकी सामर्थ्य है। यही सच्चा स्वास्थ्य है यही आत्माके लिए निरोगावस्था है। इस सुखद अवस्थाको प्राप्त करना ही सामायिक व्रतका ध्येय है। अत अति-चारोंसे अपनेको मुक्त रखना चाहिए ताकि हम स्वस्थ और सुखी बन सकें।१९५।

प्रश्न —प्रोषधोपवासस्यास्ति किं चिह्नं मे गुरो वद।

हे गुरुदेव ! प्रोषधोपवास व्रतका स्वरूप मुझे बताइए—

(इन्द्रवज्रा, उपजातिश्च)

सर्वेन्द्रियाणां सुखद हि धर्म्यध्यानं यथावद् गृहिणां च न स्यात् ।
तत्पर्ववारेषु चतुर्विधञ्चाहारं कषायं विषयं विचार्य ।। १९५ ।।
त्यक्त्वोपवासः क्रियते स्वधर्मे सदा स्थितैः यैस्सुगतिश्च तेषाम् ।
श्रेष्ठोपवासो भवतीह लोके पूर्वोक्तवाक्ये न च शङ्कनीयम् ।। १९६ ।। युग्मम् ।।

सर्वेत्यादिः—गृहस्थावस्थाया सर्वसुखस्थान धर्म्यध्यान सदा न भवति । अत तत्प्राप्त्यर्थं अष्टम्या चतुर्दश्या च सदा विषयभोगान् क्रोधादीश्च परित्यज्य चतुर्विधञ्चाहार शरीरमददायक मत्वा विहाय स्वधर्मे निवास उपवास कथ्यते । ये व्रतिन पूर्वोक्तप्रकारेण उपवास स्वीकुर्वन्ति तेषा सदा सुगति स्यात् । दुर्गतिश्च न स्यात् । इत्यस्मिन् उपदेशे शङ्का न कर्त्तव्या, धर्म्यध्यानेन दुष्कृत्यानामभावात् । यतो दुष्कर्मणामप्यभावो भवत्यतो निष्पापिनस्ते सुगतिमेव यान्ति । क्रमश पचमगति मोक्षमपि प्राप्नुवन्ति । इति सम्यग् विचार्य नि शकतया प्रोषधोपवासव्रतमङ्गीकरणीयम् ।१९५।१९६।

गृही गृहकी अनेक झझटोंके कारण सम्पूर्ण सुखका निधान जो आत्मध्यान या धर्म्यध्यान है उसे सदा नही कर सकता है, अत जिस प्रकार प्रात , साय या मध्याह्न कालमे कुछ नियमित समयके लिए वह सर्व पापारम्भका त्याग कर अपनी साम्यावस्थाको अपने समीपस्थ करनेके प्रयत्न स्वरूप सामायिकको स्वीकार करता है । उसी प्रकार सप्ताहमे एकबार अष्टमी और चतुर्दशीके पुण्य पर्वमे भी वह उस साम्यावस्थाको रात्रिदिन समीपस्थ करनेका प्रयत्न करता है । इसी क्रियाका नाम प्रोषधोपवास व्रत है ।

इस व्रतके पालन करनेके लिए उसे सर्वप्रथम यह विचार करना पडता है कि मुझे आज जबतक उक्त व्रतका समय है किसी भी प्रकारका कषायभाव चाहे वह क्रोध हो, मान हो, मायाचारी हो, लोभ हो, अथवा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा हो अथवा स्त्री-पुरुष या अनुभय रूप विकृत परिणाम हो उनसे अपनेको सर्वथा बचाना है । इनमेसे कोई भी कषाय या नोकषाय मुझपर अपना प्रभाव न ला सके, इसके लिए वह अपनेको सवृत रखता है ।

कषायो पर विजय प्राप्त करनेके लिए ही वह पञ्चेन्द्रियके विषयोको उस दिन अङ्गीकार नही करता । ब्रह्मचर्यपूर्वक अपना समय व्यतीत करता है । नाना रसोके स्वादरूप रसनेन्द्रियके विषयोसे बचनेके लिए या तो आहार मात्रका त्याग करता है अथवा नीरस आहार ग्रहण करता है । घ्राणेन्द्रिय के विषय त्यागके लिए सुगन्धित पुष्प, तेल, इतर अथवा चदन, केशर आदि पदार्थोका उपयोग नही करता । चक्षुरिन्द्रियके विषयको जीतनेके लिए देशाटन करने, नाटक, सिनेमा या अन्य दृश्योको देखनेसे अपनेको दूर रखता है । मधुर सगीत, वाद्य आदि कर्णेन्द्रियके विषयोसे अपनेको बचाता है । अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोको इस प्रकार वशमे रखता है जैसे कछुवा किसी भी विपत्तिकी आशकासे अपने हाथ, पैर, मुख आदि सम्पूर्ण अवयवोको एकत्रित कर सकुचित कर छिपा लेता है और अपने पृष्ठ बलपर आनेवाले सम्पूर्ण आघातोको सह लेता है पर अपने अन्य किसी भी अग पर चोट नही आने देता ।

उक्त उद्देश्यको पूरा करनेके लिए शारीरिक उन्मत्तता पर विजय प्राप्त करनेके लिए, इद्रियोका मान मर्दन करनेके लिए, विषयोको जीतनेके लिए, मनको वशमे रखनेके लिए और पापारम्भ की सम्पूर्ण क्रियाओसे अपने को बचानेके लिए वह उसदिन जबतक व्रतका समय है आहारका भी त्याग करता है।

इस तरह कषाय, विषय और आहारका त्याग कर निद्रापर विजय प्राप्तकर अपने समयका धर्मध्यान द्वारा सदुपयोग करनेवाला व्रती प्रोषधोपवासी कहलाता है। प्रोषधोपवासके उक्त चिह्न है या स्वरूप हैं। यह नि सदेह सुगतिका कारण है।

प्रोषधोपवासमे प्रोषध और उपवास दो शब्द मिश्रित है। इसका अर्थ है कि प्रोषध अर्थात् पर्वके दिन करना। उपवास शब्द का अर्थ है उप-समीपे वसतीति उपवास अर्थात् सर्वारम्भ को छोडकर जो अपने समीप आजाये अर्थात् अपनी आत्माका अवलम्बन करके रहे। साराश यह कि आहार, व्यापार, परिग्रह, पचेन्द्रियविषय, भोगविलास तथा कषाय भावोके वश न होकर आत्मा की सच्ची साम्यावस्था स्वाधीनावस्थाको प्राप्त करनेका प्रयत्न ही उपवास है।

प्रोषधका अर्थ सकृद्भुक्ति अर्थात् एक वार भोजन करना है ऐसा भी कई ग्रन्थकारोने लिखा है। इस व्रतके उत्तम, मध्यम और जघन्य ऐसे तीन भेद भी किए गए है।

उत्तम प्रोषधोपवास वह है—जो अष्टमी चतुर्दशीके पूर्वदिनमे एकाशन पूर्वक प्रारभ होता है। तथा पर्वके दूसरे दिन एकाशनके बाद समाप्त होता है। अर्थात् अष्टमीका प्रोषधोपवास सप्तमी और नवमीको एकाशन और अष्टमीको उपवास (निराहार) करनेसे होता है। इसी प्रकार त्रयोदशी और पूर्णिमा ॰ा अमावस्याको एकाशन पूर्वक चतुर्दशीको उपवास (निराहार) करना चतुर्दशीका प्रोषधोपवास कहलायगा। धारणाके दिनसे पारणाके दिन तक यह १६ प्रहरका उपवास होता है। मध्यम प्रोषधोप-वसकी रीति यह है कि केवल अष्टमीको या चतुर्दशीको उपवास करना। यह व्रत सप्तमी या त्रयोदशीके सध्याकालसे प्रारभ हो जाता है और नवमी या पूर्णिमा अथवा अमावस्याके प्रभातकाल समाप्त होता है। अत यह १२ प्रहरका उपवास मध्यम व्रत कहलाता है। पारणाके दिन दो प्रहरके वाद भोजन ग्रहण करनेके कारण यह १४ प्रहरका भी कहलाता है। जघन्य प्रोषधोपवास व्रत वह कहलाता है कि जो व्यक्ति १६ या १२ प्रहर तक निराहार नही रह सकता। उसे आहारके बिना आकुलता हो जाती है, अत वह पर्वके दिन रसरहित, स्वादरहित सादा भोजन अल्पमात्रामे ग्रहण कर अगले दिन उसी समयतक निराहार रहता है अतः उसके ८ प्रहर पर्यन्त आहारका त्याग रहनेसे वह जघन्य व्रत कहलाता है।

ये तीनो ही व्रती आहार न करने मात्रसे अपने को कृतकृत्य नही मान सकते। अर्थात् आहार छोड देने मात्रसे वे उक्त प्रोषधोपवास व्रतके व्रती हो गए ऐसा नही है किन्तु अपने नियमित समयमे सम्पूर्ण पाप और आरभका तथा विषय और कषायोका त्याग कर व्रतका समय महाव्रतीके विशुद्ध परिणामो जैसा व्यतीत करे। धर्मध्यान पूर्वक समय यापन करे। स्वाध्याय धर्मचर्चा धर्मगोष्ठी करे तो वह व्रत है अन्यथा नही।

कही कही उत्तम और मध्यम प्रोषधोपवासका उक्त रूप स्वीकार करते हुए भी जघन्य प्रोषधोप-वासके स्वरूपमे अन्तर माना है। वे ऐसा लिखते हैं कि पर्वके दिन और रात्रिके ४ प्रहर ऐसे आठ प्रहर निराहार रहना उपवास करना जघन्य व्रत है। पर यह व्रत इस रीति पर भी १२ प्रहरका होगा। कारण कि

पर्वकी पूर्व रात्रिमे वह आहार त्याग न करे केवल अष्टमी या चतुर्दशीके प्रभातसे ही आहारका त्याग करे यह व्रतीके लिए सभव नही है। रात्रि भोजनका त्याग तो उसे मूलगुणोमे ही हो चुका है। व्रत प्रतिमामे वह रात्रि भोजनका त्यागी न हो यह बात सभव नही। ऐसी स्थितिमे उक्त रीतिका आठ प्रहर का उपवास सभव नही मालूम होता। यह अधिक सुसगत है कि दो भोजन दिनके कहे गए हैं। वह अष्टमी या चतुर्दशीका एक भोजन कर दूसरा भोजन त्याग कर देता है और अष्टमी चतुर्दशीके दोपहरसे नवमीके दोपहर तक ८ पहर (२४ घटे) निराहार रहता है। इस प्रकार वह जघन्य व्रती होता है। किसी भी प्रकारका व्रती हो उसे व्रतमात्रमे विशुद्ध परिणाम और धर्मध्यान करना चाहिए तभी उसका व्रत व्रतसज्ञाको प्राप्त होगा अन्यथा नही।१९५।१९६।

तदतिचारा

अब प्रोषधोपवास व्रतके अतिचार बतलाते हैं—

(उपजाति)

सन्मार्जनेनैव विना पृथिव्यां विलोकनेनैव विना पदार्थाः।
ग्राह्या न तेषां त्यजन न कार्यं यतो भवेत्कौ स्वपरात्मरक्षा ॥१९७॥

सन्मार्जनेनैवेत्यादि—विषयेच्छाकषायोद्रेकाभ्या विरहितो व्रती यानि कार्याणि करोति तेषु सर्वेष्वपि पूर्वमेव विचिन्तयति यन्मत्कार्यनिमित्तेन केषामपि जीवाना बाधा न स्यात्। यदि व्रती इत्येवप्रकारेण विचार-विरहित अनवेक्षिते अशोधिते वा भूम्यादिके गच्छति जीवरक्षामविचार्य वस्तूनि गृह्णाति स्थापयति च मलमूत्रादि-कमप्येवमेव यत्र कुत्रापि निक्षिपति स्वयमपि अशोधिते सस्तरे स्वपिति तिष्ठति अनादरभावेन अनैकाग्र्येण सालसेन परिणामेन प्रमादपरणत्या वा कर्त्तव्याकर्त्तव्ये विस्मारयन् कार्याणि करोति तदा तस्य व्रत सदोष (सातिचारम्) एव भवति। एव करणेन न स्यात् पररक्षा न च स्वात्मरक्षा। परहिंसया स्वस्यैव हिंसा भवति, कर्मबन्धहेतुत्वात्। व्रतादीना पालन तु सवरार्थमेव क्रियते। तत्र दोषोत्पादने न भवति सवर। अतो न स्यात् स्वात्मनो रक्षा। तस्मात्सदा प्रयत्नतो व्रत पालनीयम् ॥ १९७ ॥

प्रोषधोपवास व्रती विषयोकी इच्छा और कषायभावसे रहित होनेके कारण जो भी कार्य करता है उसमे यह विचार अवश्य रखता है कि मेरे किसी भी कार्यके द्वारा किसी भी जीव को बाधा उत्पन्न न हो।

यदि वह ऐसा विचार न रखे, और बिना देखे तथा बिना शोधे ही चले, जीव रक्षाका विचार किए बिना ही वस्तुओ को उठाये या रखे, अशोधित स्थान व आसन पर बैठे या शयन करे, शास्त्र स्वाध्याय सामायिक आदि तथा जिन पूजनादि कार्योमे भी यद्वा तद्वा प्रवृत्ति करे, जहाँ कही भी जिस किसी भी प्रकार मल मूत्र आदि शारीरिक मलोको त्याग करे, आदर व ग्राह्येच्छा रहित आलस्य पूर्वक लापरवाहीसे कर्त्तव्याकर्त्तव्यका बिना विचार किए यदि कार्य करे व्यवहार करे तो उस व्रतीका व्रत सदोष अर्थात् सातिचार है।

स्वपर रक्षा व्रतका लाभ है। सदोष व्रती उक्त लाभसे वचित रहता है। परघातकी अभिलाषा न रहते हुए भी, उनके प्रति क्रोधादि कषायोका भाव न रहते हुए भी अपने प्रमादमात्र या असावधानीसे परघात हो जाता है। इस असावधानीका कारण है चित्तवृत्ति की अनेकाग्रता। चित्त यदि अनेक विचारोमे अनेक चिन्तनोमे मग्न रहता है तव व्रत पालनमे या तत्संवधी कार्योके करनेमे स्वय ही गलती हो जाती है। अत व्रतीको व्रतके प्रति आदर भाव रखकर चित्त की सावधानी रखनी चाहिए। यदि सावधानी रहे तो उक्त दोष उत्पन्न नही हो सकते।

स्वपरिणामो की अस्थिरता ही बधका कारण है। परिणामोकी स्थिरताके हेतु ही व्रत उपवासादि हैं। तव ही वे सवर (कर्मोका न आ सकना) के लिए कारण होते है। संवर होनेसे स्वात्मरक्षा ही होती है। इस प्रकारसे पररक्षा की सावधानीमे हमारी वास्तविक रक्षा है। ससारी प्राणी सदा ही कर्मके आगमन, वध, उदय और उदीरणासे त्रस्त है। इस सनातनी प्रक्रियाको जव तक वन्द न किया जाय तव तक यह प्राणी सुखी नही बन सकता। व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहविजय और चारित्र ये सवरके हेतु आचार्योने वताए हैं। इससे यह प्रमाणित है कि निर्दोष व्रतका यदि पालन किया जाय तो यह आत्मा नवीन कर्म वधनोसे नही वधता। इस विचारसे भी उक्त सम्पूर्ण दोषोको टालकर व्रतके समय साम्यभाव पूर्वक रहकर उसका सुन्दरतासे विधिवत् निर्वाह करे जिससे स्वपरकल्याण हो ।१९७।।

प्रश्न—भोगोपभोगव्रतस्य कि चिह्नमत्ययाश्च के ?

हे गुरुदेव ! भोगोपभोग व्रतका क्या स्वरूप है और उसके अतिचार कौन कौन है, कृपया मुझे वताइए—

(वसन्ततिलका)

मोहादिकर्मरिपुसघविनाशनार्थं कृत्वा प्रमाणमिति वस्त्रधनादिकानाम् ।
यः प्रत्यह निजपदे निवसेत्कृतार्थी भोगोपभोगविरतः स भवेद् व्रतेशः ।।१९८।।

मोहेत्यादिः—परिग्रहप्रमाणव्रते धनधान्यादिवस्तुषु प्रमाण कृतमासीत्। तथापि तत्रापि मोहनिवारणार्थं सकृद् भोगयोग्याना भोगपदार्थाना भोजनगधादीना असकृद् भोगयोग्यानामुपभोगपदार्थाना वस्त्रादीनाञ्च नियतकाल-पर्यन्त नियमरूप अनियतकालपर्यन्त यावज्जीव यमरूप वा यत्परिमाण क्रियते तदेव भोगोपभोगपरिमाणव्रतमिति व्रतमिदमखिलेषु व्रतेष्वपि ईदावत् श्रेष्ठमित्यर्थः। अत सर्वेष्वपि परपदार्थेषु ममत्वपरणति विहाय स्वात्मस्वरूपे निवास करणीय। इदमेवोद्देश्य सर्वेषामपि व्रतानाम्। स भोगोपभोगविरतस्तु भोगोपभोगप्रमाणव्रते नियताग्रेषु भोगानामुपभोगानाञ्च परित्यागात् शेषाग्रेषु च परिगृहीतेष्वपि अग्राह्यबुद्धयुत्पादकत्वात् सन्निहितो वतते। अत स सर्वेष्वपि व्रतेषु ईशत्वं प्राप्नोति ।१९८।

पञ्चाणुव्रतोमे पाँचवाँ परिग्रहपरिमाण व्रत है। इस व्रतमे श्रावकने गृहीत परिग्रहो को न्यून करनेके लिए धन, धान्य, वस्तु, गृह, सुवर्ण, चाँदी आदि दसप्रकारके पदार्थोको जो दैनिक उपयोगके होनेसे परिगृहीत हैं घटाया था। अल्प परिग्रहसे ही अपना व्यावहारिक कार्य चल सके ऐसा विचारकर प्रमाण नियत किया था। इस भोगोपभोग प्रमाण व्रतद्वारा उनमे भी क्षीणता लाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

जो पदार्थ दैनिक उपयोगमे आते हैं पर जो एक बार काममे आकर नष्ट हो जाते हैं उनका दूसरी बार उपयोग नही हो सकता ऐसे पदार्थ भोग सज्ञाको प्राप्त होते हैं। जैसे भोजनके सब पदार्थ, शरीरपर लगनेके तेल, उपटन, सुगधित अन्य पदार्थ, नस्य, अञ्जन, गीत, नृत्य आदि। जो भोजन उदरस्थ किया गया है वह लौटाकर पुन नही किया जा सकता। जो तेल फुलेल शरीर पर लगा दिया गया है वह एक बारमे ही समाप्त हो गया। दूसरी बार उपयोग की आवश्यकता होने पर दूसरा भोजन पदार्थ या दूसरा तेल उपयोगमे लाना पडेगा। व्यक्तिगत रीति पर इन पदार्थोका उपयोग इसी प्रकार किया जा सकता है। यही बात नस्य और अञ्जनकी है। सगीतके जो शब्द तथा नृत्यके जो हाव भाव एक बार सामने आए वे नष्ट हो गए, दूसरी बार दूसरे शब्दोका प्रयोग गायक करेगा तथा दूसरी बार पुन उसी प्रकार की चेष्टा नर्त्तक करेगा। वे ही शब्द अथवा वही हाव भाव वापिस लौटाया नही जा सकता। केवल पुनरुक्ति हो सकती है।

जो पदार्थ एक बार काममे आनेपर भी स्थिर रहते हैं तथा जिन्हे दूसरीबार भी काममे लाया जा सकता है उन्हे 'उपभोग' सज्ञा प्राप्त है। जैसे वस्त्र, शय्या, गृह, लाठी, बाग बगीचे, टेबिल, कुर्सी, खेत, सडक, बोतल, चित्र और दर्पण आदि। इन पदार्थोके कुछ काल तक स्थिर रहनेसे ये अनेक बार उपभोगमे लाए जा सकते हैं, अत उपभोग कहलाते हैं। यदि विषय ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोद्वारा विभाजन करे तो रसना और श्रोत्र द्वारा गृहीत विषय भोगकी श्रेणीमे आते हैं तथा स्पर्शन घ्राण और चक्षु द्वारा गृहीत पदार्थ दोनो प्रकारके पाए जाते हैं। उदाहरण इस प्रकार समझना चाहिए कि शरीर पर जो तेल भोजन और उपटन आदि पदार्थ उपयोगमे आते हैं वे भोग हैं। शय्या और शीत वारणार्थ वस्त्र आदि पदार्थ स्पर्शनके विषय होते हुए भी अनेक बार उपयोगमे आते है, अत उपभोग हैं। नस्य या इतर आदि घ्राणके भोग हैं। एकवार काममे लेनेके बाद वे नष्ट हो जाते हैं। पुष्प जो कई बार सूँघा जा सकता है वह उपभोग है। पुष्पमालाको कही कही भोगमे परिगणित किया है वह इस व्यवहारकी अपेक्षा किया है कि पुष्पमालाका उपयोग एकबार सूघने या गलेमे डालने के बाद दूसरी बार या दूसरे व्यक्तिके लिए वह अयोग्य मानी गई है ऐसा लोक व्यवहार है। पर यदि व्यवहारके चलनके नियमोकी ओर ध्यान न देकर एक ही पुष्पमालाका दिनमे १० बार उपयोग करे या १० व्यक्ति उसका उपयोग करें तो कर सकते हैं। इस अपेक्षा उसको उपभोगमे भी गणना की जा सकती है। नेत्रके विषयभूत पदार्थ विभिन्न दृश्य स्थिर भी रहते है अत उपभोगरूप भी हैं, और बिजलीकी चमक तथा सिनेमाके परिवर्तनशील चित्र आदि भोग रूप भी हैं। वे एक बार दिखाई देते ही छाया रूप होनेसे समय समयमे परिवर्तित होते जाते हैं। अन्य समयमे अन्य चित्रकी अथवा उसी चित्रकी दूसरी छायाके दृश्य दिखाई देते हैं। इस प्रकार भोगोपभोगका स्वरूप आचार्योने बताया है।

इन पदार्थोके उपयोगसे केवल विषय और कषाय ही परिपुष्ट होते हैं अथवा कषायोद्रेकसे ही हम इन पदार्थोका उपयोग करते हैं, इनका सग्रह करते हैं और इनमे ममत्व भाव करते हैं। यदि हम अपनी विषयेच्छाको कम कर सकते है तो हमे इनका जितना कमसे कम ग्रहण हो उतना इनका कम से कम उपयोग करना चाहिए।

विषय और कषाय ये दोनो ही ससारमे दु:खप्रद हैं। इनके वश प्राणी स्वात्मस्वरूपकी भूमिका को त्याग कर अन्य भोग और उपभोगके पदार्थोके ग्रहणकी ओर दौडता है तथा उनके सयोगकी तरह

उनका वियोग न हो इसके लिए प्रयत्नशील रहता है। स्वेष्ट आत्मीक ज्ञान, दर्शन, अनन्त सुख और बलसे विमुख हो परपदार्थोमे ही इष्ट कल्पना करता तथा उन्हे ही इष्ट मानकर निजस्वरूपको भूला रहता है। जिन्हे इष्ट माना है उनके ग्रहण और सग्रहमे यदि कोई बाधक कारण है तो उसे अनिष्ट समझ कर दूर करनेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार बाह्य पदार्थोमे जो इष्टानिष्ट कल्पना प्राणीको उत्पन्न हो गई है उसके कारण इष्टके सयोगके लिए तथा अनिष्टके निराकरण करनेके लिए दिनरात चिन्तन करता है। जिससे इसके इष्टसयोगज और अनिष्टवियोगज आर्तध्यान होता है जो इसे निरन्तर कर्मबधनके चक्रमे बांधे रहता है। इष्ट सयोगके अभावमे अथवा अनिष्ट पदार्थके सयोगमे दु ख उत्पन्न होता है। उस पीडाको दूर करनेके लिए 'पीडाचिन्तन' आर्तध्यान होता है। साथ ही भविष्यमे यह प्रयत्न करूँ कि मुझे इष्ट सयोग अधिकसे अधिक हो, ऐसे भावी भोगोकी चिन्तामे मग्न होनेसे 'निदान' नामक चौथा आर्तध्यान होता है। इन चारो आर्तध्यानोके कारण हिंसा, असत्य, चोरी और परिग्रहकी दुर्भावनाएँ उत्पन्न होती है। इन पापोको इष्ट सयोगका कारण मान इनके करनेमे आनन्दित होता हैं, जिसे रौद्रध्यान कहते है। इस प्रकार भोगोपभोगके हेतु आर्त्तध्यान और रौद्रध्यानका अवलबन करनेवाला मोही प्राणी ससार गर्त्तमे गिरता है। इस स्थितिसे बचानेके लिए यह भोगोपभोगप्रमाणव्रत समर्थ है। इस व्रतके स्वीकार करनेसे स्थिति बिल्कुल भिन्न हो जाती है।

इस व्रत द्वारा कुछ भोगोपभोगोका त्याग हो जाता है। यदि उनका त्याग आजीवनके लिए होता है तो इसे 'यम' कहते है और जिन भोगोपभोगोका नियत समयके लिए त्याग होता है, उसे 'नियम' कहते है। दोनो प्रकारके त्याग हमारी बहिर्मुखी प्रवृत्तिको दूर कर हमे अन्तर्मुख करते हैं। इस व्रतमे जिन विषयोका त्याग नही हो सका है उन विषयोको व्रती हेय ही मानता है और उनके त्यागका भी प्रयत्न करता है। वह सदा यह सोचा करता है कि इन सबके सम्पूर्ण त्यागका भी अवसर यदि मुझे प्राप्त हो जाय तो मेरा बडा सौभाग्य होगा।

जो भोग या उपभोग हिंसावर्द्धक है, जिनमे त्रसघात होता है या बहुघात होता है अथवा जो मदोत्पादक होनेसे आत्म-विस्मृतिके कारण हैं, रोगोत्पादक हैं, अथवा लोकनिंद्य है उनका तो यावज्जीवन 'यमरूप' त्याग होता है। शेष पदार्थोंमे भी हेयबुद्धि होनेसे यम अथवा नियमरूपसे उनके त्यागका कार्य तबतक चलता रहता है जबतक सम्पूर्ण परपदार्थोंका परित्याग न हो जाय। बिना पर-पदार्थोके त्यागके निजात्मद्रव्यमे प्रवेश नही होता। अतः यह व्रती निज पदमे निवासके हेतु इस व्रतको स्वीकार करता है। १९८।

भोगोपभोगप्रमाणव्रतके अतीचार—

(अनुष्टुप्)

सचित्ताद्यतिचाराश्च केवल दुःखदायकाः।
दोषा न धार्मिकैः सेव्याः स्वस्थ स्यात्मा भवेद्यतः ॥ १९९॥

सचित्तेत्यादि—सचित्ताहार सचित्तसबधाहार सचित्तसमिश्राहार अभिषवाहार दु पक्वाहारश्चेति पञ्चातिचारा भोगोपभोगव्रतस्येति। आहारशब्दस्य गहणमित्यर्थो ग्राह्यो न तु भोजनमात्रम्। भोगेष्वुपभोगेषु च यत्सचित्त जीवसहित अस्ति तत् भोजन वस्त्रादिक वा न ग्राह्यम्। तद्ग्रहणे जीवबाधाया सभावना वर्तते। सचित्तत्यागप्रतिमायामपि एतद्व्रतमस्ति तदुपरि च। तथैव द्वितीयादिषु प्रतिमासु च। यत्र किल सचित्तवनस्पत्या-

दीना आहारे त्यागस्तत्र प्रमादत यदि तत्स्यात्तदातिचार स्यात्। केचित्कथयन्ति यत् द्वितीयादिप्रतिमासु न सचित्त-भोजनस्य त्याग क्रियते तथापि सुनिश्चितमर्यादात उपरि चूर्णादीना जलादीनां औषधादीनाञ्च कदाचिदुपयोग प्रमादत स्यात्तदपि सचित्तभोजननामाऽतिचार स्यात् अथवा सचित्तजलादीना स्नानादिकर्मणि सचित्ताना त्वग्वस्त्रादीनामुपयोग सचित्तपुष्पादीना वा भोग सचित्तत्यागप्रतिमासु सचित्ताहार स्यात्। तत पूर्वासु प्रतिमासु द्वितीयादिषु प्रतिमारूपेण सचित्तत्यागाभावेऽपि समुचितेष्वपि भोगेष्वुपभोगेषु यदि सचित्तत्याग नियमरूपेण नियतसमयपर्यन्तमस्ति तदा मर्यादाकाले प्रमादत तदुक्तप्रकारेण सचित्तसेवने स्यादतिचार। तथैव सचित्तभूमिषु गमनागमने अनवीक्षितमार्गपरिग्रह अशोधितार्थाना सहसा ग्रहण एतादृगन्यदपि स्यादति-चार। तात्पर्यमेतत् यदत्र व्रतातिचारनिरूपणे सचित्तमिदमुपलक्षणम्। यदि व्रतेऽस्मिन् भोगोपभोगयो स्वेच्छया सचित्तत्याग कृतस्तदा प्रमादतस्तदुपयोगे स्यादतिचार। तद्वत् यदि केनापि व्रतिना घृतादीना रसाना त्याग क्रियते नृत्यगीतगद्यादीना वा भोगोपभोगादीना नियतकालमनियतकाल वा त्याग क्रियते तथा यदि प्रमादतस्त-दुपयोग स्यात् तदा सोऽपि स्यादतिचार। यथैव सचित्ताहारस्तथैव सचित्तसवधाहारसचित्तसमिश्राहारयोरपि व्याख्या कार्या तथैव तावप्यतिचारौ स्याताम्। कामोद्दीपकाना पदार्थानामुपयोगे स्यादभिषवो नाम अतिचार। यदि स स्याद् भोगेषु तदा भोगातिचार स्यादुपभोगेषु तदोपभोगातिचार स्यात्। दु पक्वानामर्धपक्वाना पदार्थाना फलादीना अन्नादीनामुपयोगे च दु पक्वातिचार स्यात्। एव व्रतदूषणोत्पादका पापोन्मुखा दोषाधायका किलातिचारा व्रतिभिर्न सेवनीया। निरतिचारव्रतपालने हि स्वात्मा स्वस्थ स्यात्। अन्यथा ससारपरिभ्रमणमूलबीजभूतकर्मणा-मास्रवणात् तत्फलानुभवनरूपदोषयुक्तत्वात सरोगावस्थायामिव स्यादस्वस्थ। १९९।

भोगोपभोग परिमाण व्रतके पाँच अतिचार बतलाए गए हैं (१) सचित्ताहार, (२) सचित्तसवधाहार (३) सचित्तसमिश्राहार, (४) अभिषव और (५) दुष्पक्वाहार। इन पाँचोसे उक्त व्रत दूषित होता है।

(१) सचित्ताहार—सचित्तका अर्थ है सजीव अर्थात् जीव सहित पदार्थ। जिन पदार्थोंके सेवन करनेमे उस पदार्थमे स्थित जीवको बाधा उत्पन्न होती है उसका सेवन सचित्ताहार है। ऐसे पदार्थ भोजनादि भोगरूप और वस्त्रादि उपभोगरूप होते है। यद्यपि त्रस जीव सहित पदार्थोंके आहारका त्याग तो व्रतीके इसके पूर्व अष्टमूलगुणोमे ही हो गया है अत उसके ऐसे पदार्थोंके ग्रहणकी सभावना ही नही की जा सकती है किन्तु वनस्पत्यादि एकेन्द्रिय सहित होनेसे जो सचित्त कहलाता है उसके ग्रहणकी सभावना ही की जा सकती है। ऐसी स्थितिमे सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब एकेन्द्रिय वनस्पत्यादि सचित्ताहारका त्याग पञ्चम प्रतिमामे होता है तब द्वितीय प्रतिमाके भोगोपभोग प्रमाण व्रतवालेके सचित्ताहार दोषाधायक क्यो है? यदि यहाँ ही दोषाधायक होनेसे उसका त्याग हो जाता है तब पाँचवी प्रतिमा किसलिए है? वहाँ क्या त्याग करता है? यह एक प्रश्न है। इसका समाधान कोई इस प्रकार करते हैं कि यद्यपि यह व्रती त्रसहिंसाका त्यागी है और स्थूल तो क्या सूक्ष्म भी त्रसादिकी सभावना जहाँ की जा सकती है उसका भी दूरसे परिहार करता है तथापि ऐसे पदार्थ जिनकी मर्यादा शास्त्रोमें नियमित समयतक बताई है। जैसे छने जलकी एक अन्तर्मुहूर्तकी और आटा अथवा पिसे हुए दूसरे अन्नादि पदार्थोंकी ग्रीष्म, वर्षा और शीत ऋतुमे क्रमसे ५, ३ और ७ दिन की है। परन्तु इन पदार्थोंकी मर्यादा समाप्त होनेपर प्रमाद या भूलसे यदि वे सेवनमे आ जायँ तो वह भी सचित्ताहार है।

इसी प्रकार सचित्तत्याग प्रतिमावालेको स्नानादि कार्योमे प्रमादसे कच्चे जलका, या वृक्षोकी सचित्त छालका उपयोग करनेमें आ जाय तो सचित्ताहार का दोष प्राप्त होगा। चूँकि

भोगोपभोग परिणाम व्रत द्वितीय प्रतिमासे ही प्रारम्भ हो जाता है तथा एकादश प्रतिमा तक रहता है, जिसके मध्यमे सचित्तत्याग नामक पाँचवी प्रतिमा है अत प्रतिमामे ये अतिचार जिस प्रकारसे सभावनीय है उसी प्रकार ग्रहण करना चाहिए।

कुछ विद्वानोकी विवेचना इस सम्बन्धमे ऐसी है कि इस व्रतमे यहाँ (द्वितीय प्रतिमामे) सचित्ताहार (एकेन्द्रियादि सचित्ताहार) का त्याग नही है। तथापि यदि व्रती अपने भोगोपभोगमे ग्रहण करे तो मात्र अतिचार है, व्रतभग नही। यहाँ इसका अतिचाररूपेण त्याग है, व्रतरूपेण नही। किन्तु सचित्तत्याग प्रतिमामे व्रतरूपेण त्याग है। यह विवेचना विद्वन्मान्य प० आशाधर जीने सागारधर्मामृतमे की है। कुछ विद्वानोकी यह विवेचना है कि अमर्यादित पदार्थका सेवन मूलगुणोका अतिचार होना चाहिए, भोगोपभोग परिमाणका नही। त्रस सहित पदार्थके भक्षणका त्याग मूलगुणोमे हुआ है। अत अमर्यादित पदार्थका सेवन तथा अमर्यादित (छने हुए भी) जलका सेवन मूलगुणोका ही अतिचार होगा।

ये मूलगुण पाक्षिकके ही सातिचार होते है और प्रथम प्रतिमामे निरतिचार होते हैं, अत उक्त अतिचार दर्शन प्रतिमामे ही लागू हो सकते हैं, व्रतादि प्रतिमामे नही।

उक्त विवेचनोको ध्यानमे रखते हुए इन अतिचारोकी सही व्याख्या जानना आवश्यक है। हम ऐसा समझते है कि यद्यपि यह सही है कि सचित्ताहार (त्रसादि सहित) का मूलगुणो मे त्याग है। अत: अमर्यादित पदार्थोंका, जिनमे आगमके आदेशानुसार त्रसकी सभावना हो जाती हैं, प्रमादसे ग्रहण करना अतिचार है। दर्शन प्रतिमामे मूलगुण निरतिचार हैं। अत यहाँ इन अमर्यादित पदार्थोका सेवन करना छोड देना उचित है। यदि प्रमादसे उक्त सेवन हो जाय तो प्रतिमाके लिए अतिचार है। द्वितीय प्रतिमावालेके भी तथा और आगे पचमादि प्रतिमावालोके भी अतिचारोकी सभावना है तथापि वे अतिचार मूलगुणोके ही होगे न कि भोगोपभोगपरिमाण के। तब यहाँ भोगोपभोगपरिमाणमे 'सचित्ताहार' से तात्पर्य क्या है, यह एक विचारणीय प्रश्न रह जाता है।

मेरी समझ ऐसी है कि यह भोगोपभोग व्रत है। भोगो और उपभोगोकी सख्या नियत नही है, अत इस व्रतमे यदि अतिचार होगा तो वह किसी एक पदार्थके निमित्तसे नही बताया जा सकता। जिनका इस व्रतमे त्याग है, यदि प्रमादत अतिचार लगेगा तो उन त्यागे हुए विषयोमे ही लगेगा। अन्यमे नही। जब कि त्यागे हुए विषयोमे अनेकानेक पदार्थ हैं तब उनमेसे किसी एकका नामोल्लेख कर उसे अतिचारमे बतलाना यह सूचित करता है कि वह उपलक्षण है, अर्थात् मात्र उदाहरण स्वरूप है। इससे यह फलित हुआ कि यहाँ सचित्ताहार आदिमे सचित्त पद उपलक्षण है। तब इसकी व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिए कि सचित्तादित्याग किए हुए भोगोपभोग रूप पदार्थोंका प्रमादसे ग्रहण सचित्ताहार हैं। जैसे यदि किसी द्वितीय प्रतिमाधारीने सचित्त वनस्पति आदिका भोगोपभोग प्रमाणके रूपमे नियत काल तक अष्टमी चतुर्दशी अथवा आष्टाह्निक आदि पर्वोंमे त्याग कर रखा है। अथवा स्वेच्छासे यमरूप (आजीवन) उसका त्याग किया है। तब ऐसी अवस्थामे यदि प्रमादसे सचित्तका आहारमे, स्नानादिमे मर्यादाकालमे ग्रहण हो जाय तो वह सचित्ताहार नामक अतिचार होगा। इसी प्रकार यदि किसी भोगोपभोगत्याग व्रतीने अपने इस व्रतमे सचित्त त्याग न करके घृत और मिष्ट आदि किसी रस विशेषका नियत या अनियत समयके लिए त्याग किया है। अब यदि प्रमाद या भूलसे

मर्यादाके भीतर त्यागकी अवधि पूरी न होने पर भी उक्त घृत और मिष्ट रसका सेवन करनेमे आ जाय तो वह सचित्ताहारादिके स्थानमे घृताहार घृतसम्बन्धाहार और घृतमिश्राहार ऐसे अतिचारके रूपमे बोला जायगा। अथवा मिष्टाहार, मिष्टसम्बन्धाहार और मिष्टमिश्राहार कहा जायगा। तात्पर्य यह है कि सचित्ताहार सचित्तसबधाहारसे तात्पर्य केवल सचित्तसे ही नही है। सचित्तादिभोगत्यागाहार और सचित्तादिभोगसबधिताहारसे है। आदि शब्दसे जो भी भोग या उपभोग इस व्रतमे नियत या अनियत समयके लिए त्याग किए हो उनका मर्यादाकालके भीतर प्रमादसे ग्रहण करना उक्त व्रतीके लिए उक्त व्रतका अतीचार होगा ऐसी व्याख्या करना सुसगत है।

उपभोगके सबधमे भी ऐसी ही व्याख्या करनी चाहिए। सचित्त उपभोगका यदि नियत या अनियत समयके लिए त्याग किया है तो उसे उक्त मर्यादा काल तक उसका निर्वाह करना चाहिए। यदि वह प्रमादत मर्यादाकालके भीतर उन सचित्त पदार्थोका उपभोग करे। जैसे वृक्षोकी छाल आदि सचित्त वस्त्रोका उपभोग, सचित्त पुष्पमालाका उपभोग, सचित्त मार्ग पर गमनागमन, हरी घास पर बैठना व सोना आदि तो ये सचित्तोपभोगत्यागव्रतके अतिचार होगे। यहाँ भी 'सचित्त' शब्द उपलक्षण है। सचित्तके स्थानमे दूसरे प्रकारसे भी यदि उपभोगका त्याग किया है तब मर्यादाकालमे उसका सेवन भी अतिचार होगा। जैसे—यदि किसी भोगोपभोग व्रतमे यह नियम किया है कि मै इतने समय तक सुवर्ण के आभूषण नही पहिनूगा अथवा रगीन वस्त्रोका उपयोग न करूँगा। ऐसी स्थितिमे यदि वह भूल या प्रमादसे उनका उपयोग करले तो सुवर्णाहार, चित्रवस्त्राहार इन नामोसे उक्त अतिचारका उल्लेख होगा।

यहाँ आहार शब्दका प्रयोग ग्रहण अर्थमे है ऐसा हम पहिले ही लिख चुके है, अत॰ आहार शब्द पर शका न करनी चाहिए। आहार का अर्थ मात्र भोजन यहाँ नही है। यदि ऐसा माना जायगा तो ये अतिचार मात्र भोगपरिमाणव्रतके होगे। उपभोगपरिमाणव्रतमे अतिचारोके वर्णनके अभावका प्रसग आयगा।

सचित्तसम्बन्धाहार और सचित्तमिश्राहार इन दोनो अतिचारोका तात्पर्य स्पष्ट है। सचित्त द्रव्यसे अथवा त्यागे हुए अन्य रसादि भोग या किसी उपभोग रूप पदार्थसे सम्बन्धित या उससे मिश्रित पदार्थका भूलसे सेवन करना सचित्तसम्बन्धाहार तथा सचित्तसम्मिश्राहार है। इस प्रकारकी व्याख्या द्वितीय, तृतीय अतिचारकी करनी चाहिए।

भोगरूप हो या उपभोगरूप कामोद्दीपन करानेवाले पदार्थोका सेवन अभिषवाहार है। अतिपक्व, अर्धपक्व, फलादि व अन्नादिका उपयोग करना दुष्पक्वातिचार है।

ये पाँच भोगोपभोग परिणामव्रतके अतिचार तत्त्वार्थसूत्रादि ग्रथोके अनुसार त्यागनेका सकेत यहाँ आचार्य श्री कुन्थुसागरजीने किया है। श्री स्वामी समन्तभद्राचार्यजीने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचारमे इन अतिचारोके दूसरे नाम दिए हैं। उनके द्वारा उल्लिखित भोगोपभोगपरिमाणव्रतके अतिचार ये हैं—

१—भोगोपभोगरूप इन्द्रिय विषयोके प्रति प्रीति-भाव रखना।

२—पूर्व समयमे बाल्यावस्था या तरुणाईमे किये गये भोगोपभोगोकी बार-बार याद करना।

३—नियमित और प्राप्त भोगोपभोगोमे अत्यन्त वृद्धि रखना।

४—आगामी कालमे मै ऐसे पदार्थ भोगूँगा। अब अमुक ऋतु आ रही है। उसमे ऐसे-ऐसे पदार्थ प्राप्त होगे। मुझे उनका त्याग तो है नही, खूब भोगूँगा, ऐसी तृष्णा रखना।

५—विषय त्याग रहते हुए भी और उसे ग्रहण न करते हुए भी यह अनुभव कल्पनासे करना कि मै अमुक पदार्थका भी भोग या उपभोग कर रहा हू।

इन अतिचारोके वर्णनसे भी स्पष्ट है कि भोगोपभोग व्रतके अतिचार केवल भोजन मात्रसे सबधित नही हो सकते, इसलिए सचित्त शब्दको उपलक्षण मानकर ऊपर जैसा हमने दिखलाया है वैसी व्याख्या करना आगमानुसार उचित होगा।

स्वामी समन्तभद्रजीने भोगोपभोगत्याग व्रतकी व्याख्यामे (१) त्रसहिंसा सहित (२) अनेक स्थावर (निगोद) की हिंसा सहित, (३) नशा या प्रमाद बढानेवाले, (४) रोगोत्पादक और (५) लोक विरुद्ध ऐसे पाँच प्रकारके पदार्थोका त्याग करना आवश्यक बताया है। इन पदार्थोका त्याग यावज्जीवन है। अन्य भोग्य या उपभोग्य पदार्थोमेसे यथासभव नियत समयके लिए विषयवैतृष्ण्यके अभिप्रायसे भी त्याग करना आवश्यक है। इस व्याख्याके अनुसार व्रती सचित्त (एकेन्द्रिय वनस्पत्यादि) द्रव्यका यद्यपि द्वितीय तृतीय चतुर्थ प्रतिमामे त्यागी नही है तथापि तृष्णा घटानेके अभ्यासके लिए उसका नियमित कालके लिए त्याग करता है। यही कारण है कि अष्टमी, चतुर्दशी, दशलक्षण पर्व और अष्टाह्निका आदिके पुण्य दिवसोमे हरी (सचित्त वनस्पति) के त्यागकी प्रथा जैन समाजमे पाई जाती है।

कोई कोई सज्जन यह तर्क करते हैं कि व्रतके दिन केवल हरीका त्याग कर दिया पर भोजन बनाने मे भी तो आरभ होता है और कच्चा पानी पीनेमे भी सचित्त भोजन होता है तब यह कैसा त्याग है ? यह तर्क ठीक होता यदि तर्क करनेवाले सज्जन उक्त तर्कके आधार पर हरीके साथ साथ जलका तथा अन्य आरभका भी त्याग कर देते। उनके लिए उनका तर्क लाभदायक होता और सभवत दूसरोके लिए भी आदर्श हो जाता, पर ऐसा देखा नही जाता। तर्ककर्त्ता वे होते हैं जो स्वय कोई त्याग नही करते और अशमात्र भी त्याग करनेवालोकी उच्चता हमसे ज्यादा न मानी जाय इस अभिप्रायके अहकारके कारण उक्त प्रकारका तर्क उपस्थित कर या तो उन्हे व्रतसे छुडाकर अपनी श्रेणीमे लाना चाहते हैं या समाजके सामने उस अशमात्र त्यागीको मूर्ख सिद्ध कर देना चाहते हैं। इस रीतिसे जो तर्क अपने भी गिरनेका साधन हो और अन्यको भी गिरानेवाला हो वह कुतर्क है। उसका फल वह है जो धर्म और धर्मात्मा की अविनयका होता है, अथवा किसी प्रतिज्ञाबद्धको प्रतिज्ञाभ्रष्ट करनेके प्रयत्नका होता है।

यदि यह तर्क केवल प्रश्नके रूपमे जानकारी प्राप्त करनेके लिए ही वास्तवमे किया जाय तो दोषास्पद नही है। इस तर्कका यह समाधान है कि गृहस्थ देशव्रती है। यह क्रमश पूर्ण व्रत की ओर जारहा है। जितना त्याग जहाँ कर सकता है करता है। अभ्यास करते-करते वह पूर्ण व्रती बनेगा। गृहीका व्रत महाव्रतको प्राप्तिके लिये अभ्यास रूप व्रत है। अभ्यासकर्ताको उत्साहित करना चाहिये न कि कुतर्क द्वारा उसे गिराना चाहिये। सचित्तमात्रका या एकरसमात्रका या एकबार भोजनमात्रका त्याग करना अभ्यासरूप सयम है, भोगोपभोगपरिमाणव्रत है अत कुतर्क को यहाँ स्थान नही। पर्वमे सचित्त त्यागका विशेष प्रयोजन यह भी है कि इससे इन्द्रिय सयम और प्राणिसयम दो सयमोकी एक साथ साधना होती है। अन्य रसत्यागमे मात्र इन्द्रिय सयम सधेगा अत सचित्त वनस्पतिका त्याग सरल तथा अधिक सयमका साधक है।

उक्त सब बातो पर विचार रखकर व्रत पालनेवाला यदि अपने व्रतको निर्दोष बनानेका सतत प्रयत्न करता है तो भी वह व्रती सज्ञाको प्राप्त होता है। ऐसा होते हुए भी यह सभावना की जाती है

कि कभी प्रमादवश उसके व्रतोमे अतिचार आदि दूषण प्राप्त हो जाय तो ऐसी स्थितिमे प्रायश्चित्तादिके द्वारा अपने परिणामोको शुद्ध करके पुन व्रतपर आरोहण करना चाहिये। प्रमादसे व्रतमे दूषण लगजाने पर ऐसा विचार करना कि अब तो व्रत नष्ट होगया हैं अब फिर पालनेसे क्या फायदा बहुत गलत विचार है। दूने उत्साहके साथ उस व्रतको पुन॰ पालना चाहिये।

व्रतीका तो मूलोद्देश्य ही पदार्थोंकी लम्पटतासे अपनेको छुडाकर स्वात्मावलम्बी बनानेका है, अत वह तब तक चुप नही बैठ सकता जब तक अपने उद्देश्यमे सफल न हो। वह पापोन्मुख करनेवाले दोषाधायक इन तथा इन जैसे अन्य अतिचारो से अपने व्रतको बचावे जिससे वह इस परावलम्बनरूप महारोगसे उन्मुक्त होकर स्वस्थ हो जाय। १९९।

प्रश्न —**अतिथिसंविभागस्य किं चिह्नं मे गुरो वद।**

गुरुदेव! अतिथिसविभाग नामक व्रतका क्या स्वरूप है, कृपया कहिए—

(वसन्ततिलका)

स्वानन्दसौख्यनिरताय चतुर्विधाय
संघाय धर्मरसिकाय निजान्यसिद्धयै ॥
दानं क्षमादिजनकं हि चतुर्विधं यो
भक्त्या ददाति स जनोऽतिथिसविभागी ॥२००॥

स्वेत्यादि—अतिथये सविभाग अतिथिसविभाग। कोऽसावतिथि? यस्यागमने गमने वा न तिथिनियता सोऽतिथि इति तस्य व्युत्पत्ति। तात्पर्यन्त्विद यत् स्वगृहागताय रत्नत्रयपवित्रिताय दिगम्बराय भक्त्या आहारादिदान य करोति स स्यादतिथिसविभागव्रती। महाव्रतिनो दिगम्बरा साधव स्वोदरगर्त्तपूरणार्थमसाधना वित्तहीना निरारम्भा सन्ति। सर्वसाधनाना धनस्य च तैस्त्याग कृतः स्वेच्छया। ते महाजना परावलम्बान् परित्यज्य स्वावलम्बिन सन्त विचरन्ति वने वने स्वात्मगुणसपत्त्या स्वानन्दरसमास्वादयन्त तज्जनितपरमाचिन्त्यानिन्द्रियसौख्यमनुभवन्त तपस्यन्ति ते विजने। न तेऽनुभवन्ति कदाचिद् मनागपि दु खमात्राम्। स्वात्मस्वरूपविमुख पौद्गलिक शरीर न पोषयन्ति। पचेन्द्रियविषयेषु निस्पृहास्ते क्रोधमानमायालोभादिभिर्मुक्ता सन्त स्वात्मन्येव निवसन्ति। एव धर्मरसिकेभ्यस्तेभ्य विशुद्ध तपसि सहायभूत नातिरूक्ष नातिपौष्टिक तत्प्रकृतियोग्य भोजनादिक प्रतिदिन निर्दोषपद्धत्या दातव्यम्। उत्तमपात्रास्ते कलिकाले तु एतादृशाना महात्मना विरलता दृश्यते, तदा कस्मै देय दानमित्यपि प्रश्न सञ्जायते। इत्यत्राचार्या उत्तरयन्ति यत् मुन्यार्यिकाश्रावकश्राविकाभेदेन विभिन्नाय चतुर्विधाय सघाय आहारभैषज्यशास्त्राभयरूप चतुर्विधमपि दान यथावसर यथायोग्य यथावश्यक देयम्। इत्यनेन प्रकारेण दानेन दातुर्गृहिण दानपात्रस्य च कल्याण भवति। धर्मपात्राणान्तेषान्तु धर्मसिद्धिर्भवति। तत्सहायकर्तॄणान्तु गृहिणा महत्पुण्योपार्जन भवति। इत्युभयसिद्धिप्रदायकमेतद् व्रतमस्ति। धर्मप्रीत्या प्रतिग्रहण-उच्चस्थाने निवेशन-पादप्रक्षालन-तेषामादर॰-तेषु विनय-विशुद्धेन मनसा-विशुद्धेन वचसा-विशुद्धेन कायेन-विशुद्धमाहारादिक देयम्। एव नवधा भक्त्या श्रद्धया-सन्तोषवुद्धया-विवेकेन-उदारतया-धीरतया-स्वशक्तिमनिगूह्य यद् ददाति श्रावकस्तस्य स्यादतिथिसविभागव्रतम्। प्रतिदिन स्वयोग्यनिर्मापितभोजनादिद्रव्येषु अतिथिजनाय यद्विभाग क्रियते तद्गृहिण धर्मस्नेहसूचकम्महत्कार्यमस्ति। एतेन तस्य प्रकृति सदोदारा भवति। त्यागमार्गे तु सहायिका सा प्रकृति सदादरणीया। श्रावकव्रतस्य मुकुटमणिरिव एतदतिथिसविभागव्रतमस्ति।२००।

श्रावकके १२ व्रतोमे अन्तिम व्रत अतिथिसविभाग है। यह व्रत उसके सम्पूर्ण व्रतोका

मुकुटमणि है। इस व्रतके द्वारा वह अपने भीतर उदार भावनाओंको प्रोत्साहित करता है और त्यागके मार्ग पर आनंद के साथ वृद्धिको प्राप्त होता जाता है।

अतिथि उन्हे कहते हैं जिनके आने व जानेकी कोई निश्चित तिथि याने दिन न हो। महाव्रती दिगम्बर साधु आत्मसाधनाके हेतु वनमे विचरण करते हैं। आत्मा और शरीरके भेदका विज्ञान प्राप्त हो जानेसे वे शरीरके सम्पूर्ण साधनोका त्याग कर चुके हैं। केवल स्वात्मगुणोके प्रेमी, उनकी प्राप्तिके उद्देश्यसे ही अनेकापदाओका आश्रय करनेवाले धनरहित व परिग्रहरहित वे तपोधन एकान्त प्रदेशोमे आत्मध्यान करते हैं।

आत्मगुणोकी सम्पत्तिके स्वामी आत्मानन्द रसके आस्वादी परम अचिन्त्य अतीन्द्रिय सुखके भोक्ता वे महामुनि कठिन से कठिन तपस्याओका अवलबन करने पर भी किंचिन्मात्र भी दु ख नही मानते। पाँचो इन्द्रियोके विषयोमे तथा क्रोध मान माया लोभ आदि कषायोमे सर्वथा निस्पृह होकर वे अपनी धर्म सपत्तिको सम्हालनेमे ही लगे रहते हैं। उनका यही एक मात्र व्यापार है।

ऐसे सर्वोत्कृष्ट पात्र महामुनियोको दोष और अन्तरायोको, जिनका वर्णन इस ग्रथके पूर्व भागमे (मुनिधर्मप्रदीपमे) आचुका है, टालकर विशुद्ध परिणामोसे उनकी प्रकृतिके अनुकूल, न अतिरूक्ष, न अतिगरिष्ठ, सौम्य आहारादि द्रव्य दानमे देना अतिथिसविभागव्रत है।

लोकमे व शास्त्रमे दानकी सर्वत्र महिमा गाई जाती है। देना सर्वोत्कृष्ट कार्य हैं इसमे सन्देह नही, क्योकि इस शुभ कार्यसे हमे त्यागकी महत्ताका बोध होता है। हम स्वय भी त्याग करते हैं, और देते भी उन्हे हैं—जिन्होने अपने जीवनमे त्यागकी प्रतिष्ठा की है। इस तरह त्यागियोके प्रति स्नेह जागृत होनेसे त्यागकी भावना जागृत होती है। परावलबको छोडने और स्वावलबको प्राप्त करनेका यह दान बहुत सुन्दर मार्ग है। इसका आदि है पर अन्त नही। अनन्त क्षायिकदान गुणके अवलबी सिद्ध परमात्माके पुनीत स्वरूपके अवलबन मात्रसे अनन्त जीव मुक्ति पद प्राप्त करते हैं। उनका यह पवित्र दान अनत काल तक चलेगा, अत इस महान् अनत कार्यका प्रारम्भ व्रती श्रावक परपदार्थके त्यागसे करता है।

उत्तम पात्र दिगम्बर मुनिजनोके न प्राप्त होने पर आर्यिका व्रती-श्रावक-श्राविका आदि मध्यम पात्रोको अथवा वे भी न मिल सकें तो जघन्य पात्र व्रतरहित होनेपर भी जो धर्मका श्रद्धालु हो उसे दान देना उचित है। इस प्रकार मुनि आर्यिका, श्रावक, श्राविका ऐसे चार प्रकारके सघको अपनी श्रद्धा, भक्ति, सतोष, विवेक, उदारता और धैर्यपूर्वक शक्तिके अनुसार दान देना चाहिए। उक्त सात गुण सहित दाता जब पात्रोका प्रीति पूर्वक प्रतिग्रह करता है, उन्हे उच्चस्थान देता है, उनके पाद प्रक्षालन करता है, उनका आदर और विनय करता है, और उदार पवित्र मनसे, उत्तम वचनोके साथ, पवित्रताके साथ आहार आदि देता है तब वह श्रावककी नवधा भक्ति कही जाती है। गुणवान् श्रावकके द्वारा नवधा भक्ति पूर्वक दिया गया दान कल्पलताके समान उत्तमोत्तम फलको प्राप्त होता है।

इस तरह उत्तम श्रावक द्वारा उत्तम पात्रोके लिए उत्तम विधिसे दिया गया उत्तम वस्तुओका दान उत्तम दान या अतिथिसविभाग व्रत कहलाता है। उत्तम वस्तुसे तात्पर्य यहाँ पर बहुमूल्य वस्तुसे नही है। देय वस्तुकी उत्तमता इस सबधसे जानी जाती है कि देय वस्तु सयमी पुरुषके ज्ञानार्जन ध्यान तप आदि आवश्यक धर्म कार्यमे सहायक शरीरके लिए कहाँ तक उपयोगी है। साधु व त्यागी धर्मात्मा पुरुष जो धर्मकी साधना करते हैं वे शरीराश्रयसे। शरीरमे क्षुधा-तृषाका अनादिका रोग है। इतनी ही

पराधीनता है जिसका सर्वथा त्याग साधु नही कर पाता। वह वस्त्रका त्यागकर दिगम्बर हो जाता है, शीत व उष्ण तथा वर्षाकी असह्य वेदनाओकी परवाह नही करता। धनकी लिप्सा, कुटुम्बियोका स्नेह, गृहका मोह, दास दासियोकी सेवा, शारीरिक श्रृङ्गार आदि सवका त्याग कर देता है। वह त्याग उसका जीवनपर्यन्तके लिए है। तथापि भूख प्यास आदि नियमित समय तक ही सह सकता है। उसे अभिभावित करने पर शारीरिक शक्तिका ह्रास हो जानेसे धर्मसाधनामे बहुत बडी बाधा आजाती है, अत वे आहारके निमित्त श्रावकके घर आते है। गृहस्थके साथ उनका मात्र इतना ही सवध है। यदि इतना कार्य श्रावकके आश्रयसे पूर्ण करनेकी आवश्यकता न होती तो साधु वन छोड नगरका शायद कभी आश्रय ही न करता। मुनि दर्शनको श्रावक वन वन भटकते और शायद मुश्किलसे कही दर्शन पाते।

इस तरह शरीरकी शक्तिको तपमे सहायक जानकर स्थिर रखनेके लिए आहारकी आवश्यकता है। वह आहार देनेका शुभावसर सदाचारी श्रावकको प्राप्त होता है। सर्वारम्भ परिग्रहके प्रति अपने स्नेहका त्याग करनेवाले उसे महान् उदार अतिकष्टसहिष्णु निरिच्छ पुरुषको कोई चक्रवर्ती भी अपने सर्वस्व का निछावर कर मात्र विशुद्ध आहारके और कुछ नही दे सकता। स्वर्गका इन्द्र महान् विभूतिका धारक होता है। अनेक ऋद्धियाँ तथा सपत्तियाँ उसकी दासीके समान सेवा करती हैं। वह चाहता है कि इन त्रैलोक्य प्रतिष्ठित साधुओकी मैं कुछ सेवा करूँ। पर वह हताश हो जाता है कि मैं कैसे सेवा करूँ ? मेरी तो कोई भी सेवा साधु ग्रहण नही करते। आहार मात्र जो लेते है वह भी अव्रती देवादिकके द्वारा नही। व्रती विशुद्ध श्रावको द्वारा ही ग्रहण करते हैं। श्रावक चाहे वह मात्र मूलगुण धारी पाक्षिक ही क्यो न हो, इस नातेसे वह इन्द्रसे भी श्रेष्ठ है।

भोजनके सिवाय मुनिजनोको यदि कुछ दिया जा सकता है तो वह रोगित अवस्थामे औषधिका दान है। यह औषधि भी वे केवल भोजनके साथ उसे यथाभोजन मानकर ले लेते है। भोजनातिरिक्त समयमे उसे भी ग्रहण नही करते। मात्र शरीर पर लगानेकी औषधिका प्रयोग ही अन्य समय पर किया जासकता है। खाने पीनेकी औषधियोका नही। यह औषधि भी त्रसघातादि दोपोंसे सर्वथा रहित हो और भोजन सामग्रीकी तरह ही विशुद्ध हो तो ही वह उनके लिए ग्राह्य होगी। अशुद्ध औषधियोका उपयोग साधुजन कभी नही करते।

दैनिक स्वाध्याय (ज्ञानार्जन) के हेतु यदि कोई श्रावक भक्तिपूर्वक कोई आगमग्रन्थ उन्हे दे तो आवश्यकता होने पर उसे साधु ग्रहण कर लेता है। यह शास्त्र उसका परिग्रह नही है। मात्र स्वाध्याय हेतु ग्रहण करता है। स्वाध्याय पूर्ण होने पर उसे वे किसी श्रावकको, किसी मदिरमे या किसी अन्य साधुको प्रदान कर देते हैं।

साधु सेवाके लिए जीवरक्षार्थ पीछी तथा शारीरिक शौचादि बाधा होने पर शुद्धिके लिए उपयोगमे आनेवाले जलको रखनेका कमडलु भी दिया जा सकता है। वर्षा या शीत ऋतुके समय कोई कुटी या कोई छोटासा स्थान यदि वना हुआ हो तो साधु वर्षायोगमे ४ मास और अन्य ऋतुमे ४-५ दिन ही साधारणतया उपयोगमे लेते हैं।

इनके सिवाय बीमारीमे कोई शारीरिक सेवा तथा विपत्ति आने पर कोई सुरक्षाका उपाय यदि श्रावक करे तो कर सकता है। उक्त सेवाओके अलावा साधुको कुछ नही दिया जासकता और न कोई अन्य सेवा ही वे ग्रहण करते हैं।

उक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि साधुके हेतु जो दान दिया जाता है वह आहार, औषधि, शास्त्र और स्थान ये चार ही है अन्य नही। जैनाचार्योने दानके चार ही भेद किए है। कही-कही नाममे कुछ अतर है। कोई-कोई शास्त्रकार शास्त्र दानके स्थान पर उपकरण दान शब्दका उपयोग करते हैं। उसकी व्याख्या यह है कि मात्र ज्ञान और सयमके साधनभूत उपकरण देना। ज्ञानोपकरण जैसे शास्त्र हैं वैसे ही सयमके लिए सहायक पीछी और कमण्डलु है। इस आधार पर भोजनके हेतु बरतन तथा वस्त्र आदिका दान उपकरण दान कहना न्याय तथा आगम सम्मत नही है, क्योकि ये दोनो परिग्रह हैं सयमके साधन नही है।

हाँ वर्तमानमे चश्मा और घडीका उपयोग दिगम्बर साधुओके द्वारा होता है। इनमे चश्मा शास्त्राभ्यासमे भी सहायक है और मार्गदर्शनमे जीवबाधा दूर करनेमे भी उसका उपयोग होता है अत ज्ञान और सयम दोनोका सहायक होनेसे दिया जा सकता है। किन्तु वह सुन्दरताकी दृष्टिसे कीमती न देना चाहिए और न उन्हे लेना भी चाहिए। घडी न सयमका साधन है और न स्वाध्यायका, अत उसका दान उपकरण दान नही, अत न यह देना चाहिए और न साधुको अपने पास रखना ही चाहिए। साधुके लिए प्रात साय और दोपहर सामायिकके काल है। प्रात काल सूर्योदयसे सायंकाल सूर्यास्तसे और मध्यान्हकाल मध्यसूर्यसे सहज ही जाना जाता है। करोडो ग्रामीण जनोको बिना घडीके ही समय ज्ञान दिनमे तो सहजही होता है, रात्रिमे भी नक्षत्रोके उदयास्तसे ज्ञान कर लेते हैं। अत घडीका आदान प्रदान सयम साधक न होनेसे उपकरण दानमे सम्मिलित नही किया जा सकता। हाँ चातुर्मास आदि समयमे वर्षा योगके कारण मेघाच्छन्न सूर्य होनेसे अथवा दैनिक कार्य क्रमसे विभिन्न धर्माराधनाओके हेतु समयकी प्रतीतिमे बाधा होती हो तो श्रावक उस स्थान पर स्थानप्रबन्धकी तरह यदि घडी लगादे तो उससे समय देखनेमे साधुको कुछ बाधा नही, पर उस वस्तुको अपने साथ हमेशा रखा नही जा सकता।

वस्त्र और वर्तनकी तरह बैटरी, फाउन्टेन पेन, ग्रामोफोनके रिकार्ड, शब्दग्राही (रिकार्ड बनानेवाली) मशीनें, वस्त्रकी कुटीरें, चटाइयाँ, और बैठनेके काष्ठासन आदि भी साधु अपने साथ नही रख सकता। ये सब परिग्रहमे सम्मिलित है, अत इनका दान भी उपकरणदान नही हैं। साधुके आने पर श्रावक इन चीजो को अर्थात् बैठनेको उच्चासन हेतु काष्ठासन, वेत्रासन तथा तृणासन दे सकता है। उनके लिए सामान्य कुटी और स्थानके अभावमे वस्त्रकी कुटी बनाकर उसमे ठहरनेको स्थान दे सकता है। रिकार्डिंग मशीन द्वारा उनके भाषणको रिकार्ड कर सकता है। ये सब साधन गृहस्थ द्वारा यथा समय उपयोगमे लाए जा सकते हैं। पर साधु इन साधनोका उपयोग स्वीकार करके भी इन साधनोको स्वीकार नही कर सकता। इनका स्वायत्तीकरण परिग्रह ही है। उक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हुआ कि परिग्रहका दान साधुको नही दिया जा सकता। किन्तु मात्र ज्ञान और सयमके साधनभूत सुनिश्चित पदार्थोंका दान ही जिनकी चर्चा ऊपर आ गई है उपकरणदान के नामसे किया जा सकता है।

आवासदान के स्थानमे अभयदान शब्दका भी उपयोग ग्रन्थान्तरोमे किया गया है। जिसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्थानका दान उनकी रक्षाकी दृष्टिसे है वैसे ही अन्य अवसरो पर आवश्यकता होनेपर उनकी हर प्रकार रक्षा करना, रोगितादि अवस्थामे सेवा करना अभयदान है। आर्यिकाओको उक्त दानोके सिवाय एक साडीका दान भी दिया जा सकता है। श्रावक दानके लिए पात्र माना गया है अत दानके प्रकरणमे किए गए भेदोमे उसके योग्य भी पदार्थोंकी गणना की जा सकती

है जो उसके व्रतोमे सहायता दें। उसे निराकुल बना सकें। किन्तु उसके परिगृहीत व्रतके लिए बाधक न हो। जैसे क्षुल्लकोके लिए लँगोटी और खण्डवस्त्र। ऐलकोके लिए मात्र लँगोटी वस्त्रोमे दी जा सकती है। क्षुल्लक एक भोजन पात्र भी साथ रख सकते हैं, अत उन्हें एक भोजनपात्र भी दानमे दिया जा सकता है। शेष प्रतिमाधारी श्रावको तथा अव्रती सम्यग्दृष्टियोको उनके सम्यग्दर्शन व्रत और क्रियाओके लिए साधनभूत साधनोका देना, अथवा उनके व्रतोंमे बाधक कारणोको दूर करना दान है। जैसे—

आजीविका रहित गृहस्थको आजीविकाके अहिंसक साधन प्रदान करना, अन्नादि देना, व्यापारको पूँजी देना आहारदान है। बीमारीकी स्थितिमे औषधियो द्वारा व वैद्य द्वारा सहायता पहुँचाना, उसकी शारीरिक सेवा टहल करना औषधिदान है। भोजनालय और औषधालय द्वारा सर्वसाधारण क्षुधित और रोगियोकी सेवा करुणादान है। सज्ज्ञान वर्धक पुस्तकें देना, पठन-पाठनके अन्य साधन देना, उक्त कार्यके लिए अध्यापक नियत करना, विद्यादानके स्थान बनवाना और छात्रवृत्ति देना आदि ज्ञानदान है। गृहस्थके धन-जनकी सुरक्षा करना, विपत्तिमे साथ देना, उत्पीडन होनेपर मदद देना, उनके धर्म साधनो पर बाधा उपस्थित हो जाय, आततायियो द्वारा आजीविका छीनी जाय, धार्मिक व सामाजिक सुविधाओ पर कुठाराघात हो, विपत्ति आ जाय, चोर व डाकुओका उपद्रव बढ जाय, अग्निदाह आदि आकस्मिक आपत्तियाँ आ जायँ तो इन सबको यथाशक्ति तन, मन व धनसे दूर करनेका प्रयत्न करना अभयदान है।

इन सब चारो दानोको देते समय यह भावना रहती है कि धर्मात्मा पुरुष अपना धर्मसाधन करें और मै उनके धर्मसाधनके लिए जो भी सेवा कर सकूँ उसका करना मेरा कर्तव्य है। जो दान उक्त उद्देश्यसे नही किया गया, मात्र करुणासे दुखी प्राणियोके लिए किया जाय वह करुणादान है। समकक्षके श्रावकोमे पारस्परिक सहानुभूति तथा प्रेम बढानेके हेतु भोजन कराना, विवाहादि अवसरोपर व्यवहारके रूपमे रुपया, जेवर वस्त्रादि देना, मरणादिके दुखमे व्यवहारका निर्वाह कर उनके कुटुम्बियोकी सहायता करना यह सहयोग पद्धति पर देना समवृत्ति दान है। अपने कुटुम्ब वर्गको जिनका यद्यपि हमारे मरणोत्तर कालमे हमारी सपत्ति पर स्वय अधिकार प्राप्त होगा तथापि हम अपने जीवन कालमे ही यदि सपत्तिसे मोह त्याग कर उन्हे दें तो वह अन्वयदत्ति नामक दान है।

कुछ लोग ऐसी शका करते हैं जो अन्वयदत्ति कोई दान नही है, वह तो कुटुम्बियोका अधिकार प्राप्त द्रव्य है। दाता न भी दे तो अधिकारी कुटुम्बी स्वय ले ही लेता। अत इसे दानमे परिगणित नही करना चाहिए।

यह प्रश्न उचित है। इसका समाधान यह है कि अन्वयदत्ति की गणना श्रेष्ठ दानोमे है, पर वह पात्रको दृष्टिसे नही। जैसे शास्त्रदान, पात्रदान और करुणादानमे पात्रकी सुविधाकी प्रधान दृष्टि है, इसमें दाताको तो पुण्य बध होनेसे परोक्ष फल है, प्रत्यक्षमें तो पात्रकी सेवा ही है, वैसे अन्वयदत्तिमें नही। इसमें पात्रके लाभकी दृष्टि गौण है, स्वयके लाभकी दृष्टि अधिक है। स्वय दाताका लाभ इसमें साक्षात् है परोक्ष नही। कारण यह है कि अपनी सम्पत्तिसे अपने जीवन कालमें मोह त्याग कर उत्तराधिकारीको देना अपनेको ससार कीचसे निवृत्त करनेका उपाय है। वह श्रावक सपत्तिसे तथा कुटुम्बसे भी मोह रहित हो आत्मसाधनके लिए धर्माचरणको अगीकार करता है। अत उसका साक्षात् लाभ है।

वह अपना धन अपने द्वारा पोषण किए जानेवाले पोष्य वर्ग, अपने द्वारा गृहस्थ श्रावकके नाते किये जानेवाले देवपूजन, गुरु-सेवा, पात्र-दान आदि धार्मिक कार्यके निमित्त उत्तराधिकारी पुत्र आदि को सौंपकर आप गृहारम्भसे निवृत्त हो जाता है। यह दान स्वय दाताके लिए अत्यन्त लाभदायक है, अत. इसकी गणना भी दानके भीतर है।

क्षुधितके लिए भोजनकी तरह कामीके लिए स्त्रीदान, रतिदान व आराम और विषय-साधनोके लिए बाग-बगीचाका दान, गीतदान, नृत्यदान, नाटक-सिनेमा-दान, तेल व इत्रका दान अथवा अन्य पापके साधनोका दान मोह, ससारवर्द्धक व पापोत्पादक होनेसे कुदान है। ऐसे दानोसे महत्पापोका सञ्चय होता है, अत ये अग्राह्य हैं, नरकादिबन्धके हेतु हैं। इनके साथ दान शब्दका उपयोग करना भी पापका हेतु है।

अत दान या अतिथिसविभागव्रतका पालन विवेकके साथ ही सम्भव है, अविवेकके साथ नही। श्री जिनेन्द्रकी अर्चा, पूजन, अभिषेक, रथयात्रा, धर्म प्रभावना, ज्ञानवर्धक पुस्तकोका प्रचार, धर्मोपदेश देना, जैनधर्मके प्रचार, उसकी स्थिरता, उसकी कीर्तिके बढाने हेतु जो-जो कार्य किए जायँ उनमे जो द्रव्यका, समयका तथा जीवनका उपयोग करते है वे सब उत्तम दानी हैं। दान स्वार्थ त्यागका दूसरा नाम है। अत न केवल धन त्यागनेसे मनुष्य दानी होता है। किन्तु स्वार्थ त्याग किसी भी रूपमे किया जाय, यदि उसका उद्देश्य पवित्र है तो वह सब उत्कृष्ट दान है।

कुछ सज्जनो की ऐसी धारणा है कि धनी पुरुष ही दानका अधिकारी है। दरिद्रके पास कुछ है ही नही तब दान क्या दे? इस प्रश्नके सबधमे भी विचार करना अत्यावश्यक है। जैनागमके अनुसार सर्वोत्कृष्ट दान तो मुनिके लिए दिए गए आहार औषध आदि हैं। साधुके हेतु किए गए दानमे द्रव्यके खर्चकी प्रमुखता नही है किन्तु श्रद्धा और भक्ति भावनाकी मुख्यता है। देना तो मात्र आहार है और वह भी अपने हेतु जो सादा साधारण शुद्ध भोजन आपने तैयार किया हो उसमेसे ही कुछ अश देना है, अत इसमे द्रव्यके खर्चका प्रश्न ही नही है। धर्म प्रेमका ही प्रश्न है।

दानी से दानी व्यक्ति भी करोडोका दान कर सकता है पर अपने पास यदि सीमित भोजन हो, और अन्य कोई भोजनार्थी आ जाय तो उसे अपना भोजन देनेमे कष्ट होगा। वह उसके एवजमे उससे चौगुना या अठगुना भी द्रव्य उसे दे सकेगा पर जो उसके उपयुक्त रखा हुआ सीमित भोजन है उसे नही दे सकेगा। ऐसा होने पर भी यदि उसका प्रिय पुत्र या अन्य इष्टतम समुख आ जाय तो वह ममतासे उस भोजन को अपने इष्टतमको प्रेमसे खिला देगा। उस समय कुछ भी कष्टका अनुभव न करेगा बल्कि ऐसा करनेमे उसे प्रसन्नता होगी। इसी प्रकार गृहस्थ भी अपने हेतु बनाए हुए नित्यके साधारण जीवनमे सहायक जीवनोपयोगी भोजनमेसे समय पर पधारे हुए अनन्य श्रद्धाके भाजन गुरुजनके आजाने पर बडी ममता, विनय और भक्तिके साथ उनकी आवश्यकता पूर्तिके लिए दान कर देता है और बडी प्रसन्नतासे अपने जीवन को धन्य मानता है।

धनी केवल उस धनका त्याग करता है जो उसके पास आवश्यकतासे अधिक सगृहीत है। निर्धन उस धनका त्याग करता है जो उसके पास उसकी अधिकसे अधिक जरूरी शारीरिक आवश्यकताओके लिए सगृहीत है। धनी केवल धन दे सकता है पर निर्धन साधुकी तथा अन्य धर्मात्माओकी अथवा साधर्मियोकी अथवा दु खी जनोकी तनसे व करुणा बुद्धिसे सेवा, श्रद्धा, विनय और सहानुभूति यथायोग्य कर सकता है यदि वह करे तो। अत उक्त प्रश्न निराधार है।

मनुष्य जितना अधिक अपने विषय साधनोका त्यागी है वह उतना ही बडा दानी है। सर्वारम्भ परिग्रहके त्यागी भगवान् अर्हन्तकेवलीके क्षायिक दान नामक गुण कहा गया है। यदि द्रव्याश्रित ही दान हो तो भगवान् अर्हन्त सर्वोत्कृष्ट क्षायिक दानके दाता कैसे बन सकते है, अत 'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्' स्वपर अनुग्रहके लिए स्वार्थका त्याग दान है यह भगवान् गृद्धपिच्छकी दानकी व्याख्या सर्वोत्कृष्ट व्याख्या है।

भगवान् अर्हन्त तीन लोकके धनी हैं। समवसरणादि महान् विभूति उनके है। इन्द्रादि असख्य देव तथा विद्याधर चक्रवर्त्ती आदि वडे-वडे उनके सेवक हैं, अत इस सव विभूतिको त्याग कर मोक्ष प्राप्त करनेके कारण वे अनन्तदानी है ऐसा भी कोई कोई शकाकार समाधान कर लेते हैं पर यह समाधान सही नही है यह आगमके सामान्य ज्ञाता भी जानते है।

तीर्थंकर भगवान् अर्हन्त सम्पूर्णतया रागद्वेष रहित होनेसे पूर्ण वीतराग हैं। उक्त विभूतियाँ इन्द्र तथा चक्रवर्ती आदिके भक्तिके फलस्वरूप समवसरण आदिमे एकत्रित हैं। उनमे भगवानुको न राग है और न उनका स्वामित्व है। आप स्वामी हैं, तीन लोकके धनी है, अनुपम विभूतिके धारक हैं इत्यादि वाक्योका उपयोग भक्तिवशात् ही किए जाते है। वस्तुत उन पदोका जो वाक्यार्थ है वह सही नही है। यथार्थ यह है कि तीन लोकके हितकारक होनेसे त्रिलोकके प्राणी उन्हे अपना स्वामी कह सकते हैं। उनकी भक्तिके वश जिस समवसरणकी रचना इन्द्रादि करते हैं उतनी विभूति तथा सर्वोत्कृष्ट सामग्री अन्यत्र कही नही पाई जाती इसलिए अनुपम विभूतिवान् कह देते हैं। पर उनकी वास्तविक विभूति तो उनके आत्मीय गुण हैं। बाह्य विभूतिके रूपमे तृणमात्र भी उनके द्वारा गृहीत नही है। तब जिन पदार्थोंका ग्रहण ही नही है अथवा जिनके ग्रहण करनेका भाव या रुचि ही नही है उनको ये त्याग कर क्षायिक दानी हैं ऐसा समझना भूल है।

क्षायिक दानी तो सिद्धपरमात्मा भी हैं। वहाँ तो कोई समवसरणादि भी नही है। इससे सिद्ध है कि परम वीतराग प्रभु अर्हन्त या सिद्धावस्थामे सिद्ध अपने परम पवित्र स्वरूप दर्शनसे ही असख्य प्राणियोके उद्धारक हैं उनके भव दु खसे उद्धार होनेमे निमित्त हैं, अत इस निमित्तसे वे दानी हैं। उनसे अधिक त्यागी कौन हो सकता है जिन्होने न केवल बाह्य परिग्रहको किन्तु आन्तरिक रागद्वेषको भी त्याग दिया है अत वे सर्वोत्कृष्ट त्यागी या दानी है।

इस प्रकार उक्त परमदाताकी पदवी प्राप्त करनेकी अभिलाषासे ही गृहस्थ उक्त मार्ग पर पदार्पण करनेवाले साधुवर्गकी, धर्मात्मा गृहस्थकी तथा सम्यग्दर्शनसयुक्त प्राणीकी यथायोग्य वैयावृत्ति या अनेक प्रकारकी सहायता करता है यही अतिथिसविभाग व्रत है। २००।

अतिथि सविभाग व्रतके अतिचार

(अनुष्टुप्)

ये सचित्तनिक्षेपाद्या अत्ययाः पञ्चसंख्यकाः।
ते त्याज्या दुःखदा भव्यैः सुखी स्वात्मा भवेद्यतः॥ २०१॥

य इत्यादि —सचित्तनिक्षेप सचित्तापिधान परव्यपदेश मात्सर्यं कालातिक्रमश्चेति ये पञ्चातिचारा उक्ता अतिथिसविभागव्रतस्य तेषामेवात्र वर्णनमभिप्रेतम्। तद्विस्तर —(१) सचित्ते पत्रादौ अप्रासुकजलादिसयुक्ते भाजने

अपक्वे मृद्भाजने वा आहारादिदेयद्रव्यस्य निक्षेपे सति तद् द्रव्य न दानयोग्यम्। (२) तद्वत् सचित्तेन पत्रादिना अपक्वेन जलादिना सयुक्तेन भाजनेन पूर्वोक्तमृद्भाजनेन वा पिधाने न तद् द्रव्य दानयोग्य स्वीकृतम्। तथापि तद्द्रव्यस्य दाने स्यादुपयोग तदा तौ स्यातामतिचारौ दानव्रतस्य। सचित्तद्रव्य न स्वीक्रियते साधुजनैस्तथापि यदि तत्र प्रमादेन श्रावकैरेव विधीयते तथा दातुर्विवेकाभावात् तौ तस्य स्यातामतिथिसविभागस्यातिचारौ। अत्रापि सचित्तपदमुपलक्षणम्। सचित्तवत् अन्यानादेयपदार्थसयुक्ते भाजने निक्षेपस्तथैव तेन भाजनेन पिधानञ्च स्यादतिचार। दात्रा श्रावकेण खलु सविवेकेन भवितव्यम्। विवेकाभावेनैव स्यादतिचाराणा सम्भावना। (३) परव्यपदेश यद्द्रव्य स्वस्य नास्ति तदपि साधवे यदि ददाति तदा तत्परव्यपदेशनामातिचार। अथवा स्वकीयमपि द्रव्य न स्वय ददाति परान् दानकरणे व्यपदेशयति स्वय तु कार्यान्तराणि करोति तदापि स्यात्परव्यपदेश। स्वस्यैव द्रव्यस्य दानस्याधिकार न तु परस्वामिकस्य द्रव्यस्य तथापि प्रमादत विवेकरहितभक्तितो वा तद्दाने स्यादतिचार। (४) अन्यदातु मात्सर्येण दानकरणमपि स्यादतिचार। स्वेच्छया सहजौदार्यपरिणामेनैव दान कर्त्तव्यम्। परासूयया परहीनताप्रदर्शनेन स्वोच्चताप्रकाशनाभिप्रायेण वा दान न स्याच्छ्रेष्ठम्। तस्मात् यदि कश्चिदेव करोति तर्हि स्यादतिचार। (५) समागताय पात्राय समये दान देयम्। तत्रापि कार्यान्तरवृत्तितया भोजनादिद्रव्य-निष्पत्तौ तन्निष्पत्तिकालपर्यन्त वा समय व्यतीत्य दानकरण कालातिक्रमनामातिचार स्यात्। परव्यपदेशकालाति-क्रमस्थाने केनचिद् ग्रथान्तरे अनादरेण दान दानस्य विस्मरण तद्विधेर्विस्मरण इति द्वावतिचारावुक्तौ। सर्वेऽप्येतेऽ-तिचारा दानव्रतस्य। सविवेकेन श्रावकेण खलु दान देयम्। सप्तगुणसमाहितेषु श्रावकेषु न स्यादतिचाराणा सभावना। तथापि कदाचित्स्यात्प्रमादतस्तर्हि ते दु खदा भवन्ति ततो भव्यैस्सदा ते त्याज्या।२०१।

इस अतिथिसविभाग व्रतमे पाँच प्रकारके अतिचारोकी सभावना ग्रथोमे बताई गई है। उनकी ओर ही यहाँ आचार्यका सकेत है कि वे अतिचार अविवेकपूर्ण होनेसे व्रतके दूषक है, अत उनका फल दु ख ही है। यह समझकर उक्त अतिचार या उन जैसे अन्य भी अतिचार भव्य पुरुषोको नही लगाने चाहिए जिससे व्रत निर्मल हो और उसके परमोत्तम फलको प्राप्त कर वे सुखी बन सकें। अतिचारोका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जिन कार्योंके करनेसे मूलत व्रत नष्ट न होते हुए भी अशत खण्डित होते हो अथवा जिनसे व्रतोमे दोषोत्पादन हो ऐसे कार्य प्रमादसे हो जायँ तो वे अतिचार नाम पाते है। यहाँ अतिथिसविभाग-व्रतके अतिचार निम्न भाँति कहे गए है—(१) सचित्तनिक्षेप, (२) सचित्तपिधान। अर्थात् सचित्त द्रव्य कमलपत्र या कच्ची मिट्टीके वर्तन आदिमे भोजनयोग्य द्रव्यको रखकर दान देना अथवा उससे ढक कर रखे हुए आहारादि द्रव्यको दानमे देना उक्त दोनो अतिचार हैं।

साधुजन सचित्त द्रव्य ग्रहण नही करते। वे यह देखने नही आते कि आपने अपने विवेकसे कार्य किया है या नही। वे आपके वचन पर भरोसा करके ही आहारको विशुद्ध मानकर आहारादि द्रव्यमेसे लेते है। यदि गृहस्थ उसमे भूल करे तो उसे अतिचारादि दोष है, साधुके लिए नही। साधुको यदि प्रतीत हो जाय तो साधु भी उस दोषके परिमार्जनके लिए प्रायश्चित्त लेते हैं। अत विवेकी श्रावकको इन दोषोसे बचना चाहिए। सचित्त शब्द भी उपलक्षण है। ये दोनो अतिचार केवल सचित्त द्रव्यके निमित्तसे ही नही हैं। किन्तु सचित्त जैसे अन्य त्याज्य पदार्थोंके सपर्कसे सहित पदार्थोंका दान भी उक्त अतिचारोमे सम्मिलित होगा।

सचित्त शब्दकी व्याख्यामे इस समय कुछ विवाद खडा है। उसकी चर्चा करना अप्रासगिक नही होगा, अत विचार किया जाता है। वैसे तो सचित्तका अर्थ सजीव है। त्रसादि जीवसहित

पदार्थ भी सचित्त शब्द द्वारा कहे जा सकते हैं पर ऐसे सचित्तसे यहाँ तात्पर्य नही है। ऐसे सचित्तका त्याग तो श्रावकके पाक्षिक अवस्थामे ही हो चुका है। यहाँ सचित्तसे तात्पर्य एकेन्द्रिय पच स्थावर जीव सहित पदार्थोंको सचित्त माननेसे है।

वृक्षमे वनस्पतिकाय एकेन्द्रिय जीव है। यत उसमे एक ही जीव है अत उससे टूटे हुए पत्र या फलफूल आदि चाहे वे कच्चे हो या पक्के हो अचित्त ही हैं ऐसी मान्यता इस कालमे उत्पन्न हुई है और यह मान्यता कुछ विद्वानो द्वारा प्राचीन एव शास्त्रोक्त मानी जाने लगी है। यहाँ यह विचारणीय है कि क्या यह मान्यता आगमानुकूल है या नही। हमारी (टीकाकार) की समझसे सचित्तका उक्तार्थ सही नही है। वनस्पति वृक्षादि यद्यपि जीव एकेन्द्रिय से अधिष्ठित होते हैं तथापि उसके प्रत्येक पत्र पुष्प फलादिमे पृथक्-पृथक् एकेन्द्रिय जीव होते हैं। वे वृक्षमे ही लगते है, इससे उनका पृथक् अस्तित्व नही है, वे वृक्षके अग हैं, जैसे हमारे हाथ पैर वगैरह ऐसी मान्यता सही नही है।

जब एकेन्द्रिय जीवके आगोपाग नामकर्मका ही उदय नही है तब वृक्षके पत्रफलादिकोको मनुष्यके हाथ-पैरकी तरह एक जीवके शरीरके अग मानना आगमविरुद्ध है। दूसरी बात यह है कि जहाँ सचित्त निक्षेप नामक इस अतिचारका वर्णन है वहाँ उसकी व्याख्यामें पूज्यपादस्वामीने या राजवार्तिक-मे भगवान् अकलकदेवने "सचित्ते पद्मपत्रादौ" ऐसा अर्थ किया है अर्थात् सचित्त कमलपत्र आदिमें रखा हुआ आहार देना अथवा उससे ढका हुआ द्रव्य देना सचित्तनिक्षेप या सचित्तपिधान नामक अतिचार है, अतः इस व्याख्या के रहते हुए पद्मपत्र को सचित्त न मानना आगम विरुद्ध है।

यदि वृक्षमें सलग्न पत्रको ही सचित्त माना जायगा तो उक्त व्याख्याके अनुसार ये दोनो अतिचार सभव ही नही हैं। कारण यह कि यह सर्व विदित है कि कमल तालाबमें उत्पन्न होता है, अत. सरोवर-के जलके मध्यमें रहनेवाले सलग्न पत्र ही सचित्त पत्र होगे और उस स्थानमें न तो श्रावक ही आहार देने खडा होगा और न कोई मुनि सरोवरके जलके मध्यमे खडे होकर आहार ग्रहण करने जायँगे। उक्त सचित्त की व्याख्याके अनुसार तो सचित्त पद्मपत्रमे रखे या ढके हुए आहार सबन्धी अतिचार तब ही सभव होगे जब श्रावक और मुनि सरोवरके जलमे घुसकर पद्मपत्रके पास जाँय और वहाँ वृक्ष लग्न पत्रमे ही आहार रखा जाय या ऐसी ही हालतमे उससे ढका जाय। दोनो बातें सगत नही हैं। इससे प्रतीत होता है कि अपने भोजन गृहमे लाए हुए कमल या केले आदिके पत्रमे यदि आहार रखा जाय तो उसे सचित्त निक्षेपाहार मानना उक्त दोनो महान् आचार्योंको इष्ट है, इसलिए ही उक्त व्याख्या उन्होने की है।

उक्त मान्यताका सक्षेपमे विचारकर हम आगे बढेंगे। इस मान्यताको लोक परम्पराका भी अनुमोदन प्राप्त नही है। जैन गृहस्थ न केवल दिगम्बर किन्तु श्वेतावर परम्परामे भी अष्टमी, चतुर्दशी, दशलक्षणी पर्व, अष्टाह्निका पर्व अथवा अन्य व्रतके दिनोमे हरी वनस्पति शाक आदिका भोजनमे उपयोग नही करते। यदि वह अचित्त द्रव्य माना गया होगा तो इस प्रकार की परम्परा न होती। हरी शाक फल आदिको सचित्त न माननेवाले कुछ विद्वानो और साधुओ द्वारा आजकल गृहस्थोको यह समझाया जाता है कि तुम्हारा शाकाहारका व्रतके दिनोमे त्याग मिथ्यात्ववर्धक है, आगम विरुद्ध है। अतः व्रतमे भी शाकाहार किया करो, ऐसी विपरीत प्रवृत्तिको प्रोत्साहन दिया जाता है। किन्तु युक्ति, तर्क और आगम प्रमाण के सिवाय परम्परा भी वस्तुके निर्णयमे प्रमाणभूत होती है। उस परम्परामे शाक आदि सचित्त ही माने गए हैं और इसीसे गृहस्थ व्रतके दिनोमें उनका उपयोग नही करता।

कोई-कोई साधुने तो ऐसा भी हठ किया है कि जो गृहस्थ अष्टमी आदि पर्वमें हरित शाकाहारको सचित्त मानकर न खायगा उसके हाथसे आहार ग्रहण नही करेंगे। साधुकी इस अनुचित प्रतिज्ञासे

श्रावक धर्मसकटमे पड गए है। वे यह सोचने लगे कि यद्यपि पर्वमे हरित खानेमे आगम विरुद्धता है तथापि न खानेसे साधुके आहार नही होते तो भी एक महान् दोष है। ऐसे धर्म सकटमे प्राण अटक जाने पर कुछ सज्जन साधुके आहार न देनेके पापसे भयभीत हो सचित्ताहार पर्वमे करने लगे और कुछने आगम विरुद्धाचरणके भयसे ऐसा नही किया। भले ही वे उस साधुको आहार नही दे सके। उन्होने आहार दानका सवरण कर लिया पर आगम विरुद्ध मान्यताको स्थान नही दिया। विद्वज्जन और साधुगण उक्त विवेचन पर विचार करें और जो आर्षमार्गके अनुकूल हो उसे ही स्वीकार करें।

(३) यदि दाता स्वाधिकृत द्रव्यको दूसरेको सौपकर आप कार्यान्तरके लिए चला जाय तो यह परव्यपदेश नामक दानका तृतीय अतिचार है। अथवा परकीय द्रव्यको दानमे देवे तो यह भी परव्यपदेश है। वर्तमानकालमे श्रावकजन फल आदि वस्तु या रुपया दूसरे श्रावकोको दे देते है। इस अभिप्रायसे कि वे वह वस्तु या उस धनसे द्रव्य खरीद कर मुनियोको आहार दानमे दे दें। यह पद्धति सदोष है। दाता यदि ऐसे द्रव्यका दान देता है तो वह परव्यपदेश है।

अनेक सज्जन दाता श्रावकको जो द्रव्य प्रदान करते है वे इस सकल्पसे देते है कि यह द्रव्य हम आपको मुनिदानके लिए देते हैं और गृहीता श्रावक ऐसे द्रव्यको ले लेता है। यदि उस वस्तुका जो फल या दूध आदिके रूपमे हो और यदि उस दिन साधु उक्त द्रव्योको आहारमे ग्रहण न करे तब ऐसी दशामे उस वस्तुका उपयोग कौन करे ? यह भी विचारणीय है। क्या दाता इस तरह सकल्पित द्रव्य-को अपने उपयोगमे लानेका अधिकारी है, कदापि नही। ऐसा करनेसे वह अनधिकार परद्रव्यका उपभोग करनेके कारण अपने व्रतमे दोष लगायगा क्योकि इस पद्धतिमे उसका उपभोग व्रती श्रावकको भी हो जाता है, अतः न तो ऐसे सकल्पसे द्रव्य देना चाहिए और न लेना चाहिए। यह निर्माल्यकी तरह है।

गृहस्थ यदि देना ही चाहे तो श्रावकको ही सकल्प करके दे दे। गृहीता श्रावक उस द्रव्यका स्वामी बन जाने पर उस द्रव्यको दानमे भी दे सकता है और स्वय भी उसका उपयोग कर सकता है। ऐसी स्थितिमे फिर किसी भी प्रकारके दोषकी सभावना इस सम्वन्धमे नही रहती। वस्तु देनेवाला श्रावक अपने मनमे भी यदि सकल्प रखेगा कि यह हम मुनिदान हेतु दूसरे श्रावकको दे रहे है तब यदि वह मुनिदानमे नही लग सकी तो उसे दु ख होगा। इसलिए इस सम्बन्धमे मन सकल्प भी उचित नही है।

(४) मात्सर्य—वह दोष है जो गृहस्थको स्वेच्छासे दान न देने पर भी दूसरेकी ईर्ष्यासे उसके दान देनेपर होता है। अनेक श्रावक अपने अन्य सहधर्मी भाइयोको दान देते हुए देखकर उत्साहित होकर स्वय दानमे प्रवृत्त होते हैं, उनको यह अतिचार या दोप नही है। जो श्रावक देना नही चाहते पर अपने प्रतिपक्षी दूसरे श्रावकको दान करते देख और उसकी कीर्ति बढते देखकर उसे नीचा दिखानेके अभिप्राय-से उससे बढकर दान देनेको प्रस्तुत हो जाते हैं उनका यह भाव मात्सर्य नामा दोष है। इस प्रकारका दान यद्यपि दानकी पद्धतिसे दिया गया है तथापि मूल भावनामे ईर्ष्या होनेसे दान सदोष है।

(५) कालातिक्रम—समय पर दान न देकर असमयमे देना। आहार निमित्त साधुके आने व उसके प्रतिग्रहण कर लेनेपर आहारादिके तैयार होनेके लिए समय देनेके अभिप्रायसे अथवा स्वयको अन्य कार्यकी आवश्यकता होनेके कारण साधुके पूजनादि कार्योमे इतना समय लगा देना कि जिससे आहारका काल उल्लघन हो जाय तो यह कालातिक्रम नामका पाँचवाँ अतिचार है।

अनादरसे दान देना, तथा दान देनेकी विधि, समय, योग्यता और विशुद्धि आदिको भूल जाना

भी दानके अतिचार हैं। इनका भी उल्लेख परव्यपदेश और कालातिक्रमके स्थानपर किन्ही आचार्योंने किया हैं। दानके वे भी अतिचार हैं।

विवेकी श्रावक दाताके सप्त गुणोको धारण करके दान दे तो उक्त अतिचारादि दोष प्राप्त नही होते। ये दोष दाताके लिए दुःखदायक हैं, अतः दानके पूर्ण फलको प्राप्त कर जो सुखी बनना चाहते हैं उन्हे अतिचारादि दोष दूरकर व्रतोको निर्दोष बनाना चाहिए। आहारदानकी प्रधानतासे कहे गए इन अतिचारोकी औषधि, आवास और शास्त्र दानमे भी यथायोग्य रीतिसे सभावना कर उनसे बचना चाहिए।२०१।

उपसंहार

द्वादशव्रतचिह्नानि तदतीचारकाश्च ये।
ज्ञातास्ते वद मे शेषप्रतिमालक्षणं गुरो ॥

हे गुरुदेव! श्रावकके १२ व्रतोका स्वरूप तथा उनके अतिचार मैने अच्छी तरह ज्ञात कर लिए हैं। अब श्रावककी शेष ९ प्रतिमाओका क्या स्वरूप है, तथा उनकी परस्पर क्या विशेषता है, कृपाकर मुझे बतावें।

तृतीय सामायिकप्रतिमाका स्वरूप

(वसन्ततिलका)

त्यक्त्वा कषायनिचयं समतां विधाय
शुद्धात्मधर्मविषये सुखदे स्वभावे।
चिद्रूपचैत्यनिलये निवसेत्सदा यः
सामायिकप्रतिमया स विभूषितः स्यात् ॥२०२॥

त्यक्त्वेत्यादिः—श्रावकस्य अष्टौ मूलगुणा द्वादशोत्तरगुणाश्च सन्ति। सर्वेषामप्येतेषा स्वरूप निरूपित प्राक्।

अत्र प्रश्न —यद्यपि व्रतप्रतिमाया द्वादश उत्तरगुणा सन्ति तथापि तृतीयादिप्रतिमासु कानि तानि व्रतानि सन्ति यत प्रतिमाभेद स्यात्? द्वितीयाप्रतिमायामपि सामायिकशिक्षाव्रतमस्ति तदेव सामायिक तृतीयप्रतिमायामस्ति न किंचिदन्तरमनयो। कस्मात् र्तह्हि प्रतिमाभेद क्रियते? इत्यत्रोत्तरयति—द्वितीयप्रतिमाया ये द्वादशोत्तरगुणा कथिता तेषु पञ्चाणुव्रतानि तु व्रतरूपाणि निरतिचाराणि सन्ति शेषाणि सप्त शीलरूपाणि सन्ति न व्रतरूपाणि, तेषा व्रतरूपत्व तु तृतीयादिप्रतिमास्वेव। इदमेव तयोरन्तरम्। सामायिकस्य स्वरूप सामायिकशिक्षाव्रतस्वरूपणे प्रतिपादितम्। तदेव सामायिक अभ्यासरूपेण प्रात साय वा उभयोरपि कालयोर्वा कालत्रयेषु प्रात मध्याह्नसायन्तनेषु वा द्वितीयप्रतिमाया क्रियते। सामायिकस्य काल जघन्यो घटिकाद्वय मध्यमो घटिकाचतुष्टय उत्तमस्तु घटिकाषट्कमस्ति। इत्यस्यायमपि अर्थ यत् एकवारमेव क्रियते तदा तत्स्यात् घटिकाद्वयपर्यन्तम्। प्रात सध्यायाञ्च द्विवार यदि सामायिक क्रियते तदा तत्स्याद् घटिकाचतुष्टयपर्यन्तम्। सन्ध्यात्रयेऽपि यदि सामायिक कुर्यात् तदा तत्स्याद् घटिकाषट्कपर्यन्तम्। अथवा प्रात घटिकाद्वय चतुष्टय षट्क वा तथैव मध्याह्ने सध्याकाले च क्रियमाणे जघन्यमध्यमोत्तमरूप सामायिक स्यात्। सामायिकप्रतिमाया न्यूनत घटिकाद्वयपर्यन्त उत्कृष्टतस्तु घटिकाषट्कपर्यन्त सन्ध्यात्रयेऽपि करणीयम्। तत्रैव सामायिक निरतिचार व्रतरूपम्भवति। तस्मात् कषायविषयेभ्य स्वात्मान नियम्य इष्टानिष्टबुद्धि परित्यज्य समभावमङ्गीकृत्य योग्यकाले योग्यक्षेत्रे योग्यासने सविनयेन शुद्धेन मनसा कायेन वचसा च सुखदे स्वभावे शुद्धात्मधर्मविषये चिद्रूपचैत्यनिलये सदा यो निवसेत् स सामायिकप्रतिमया विभूषित स्यात्।२०२।

श्रावकके १२ व्रतोंमे सामायिकशिक्षाव्रत है, यह व्रत द्वितीय प्रतिमामे श्रावक द्वारा धारण किया गया था तथापि वहाँ यह शीलरूप था। व्रतप्रतिमावाला सामायिक करनेकी आदत डालता है, अभ्यास करता है और उसके अतिचारोको भी बचानेका प्रयत्न करता है तथापि यह कठिन व्रत है अत अतिचार लग ही जाते है। इस प्रतिमामे यह व्रत सातिचार ही हो सकता है निरतिचार नही।

सामायिकका समय प्रात , मध्यान्ह और सायकाल हैं। तीनो कालोमे कमसे कम २ घडी, मध्यम रीतिमें ४ घडी और उत्तम रूपमे ६ घडी सामायिक करना चाहिए। कोई कोई ऐसा कहते हैं जो सामायिकका काल मात्र २ घडी ही है। जो व्रत प्रतिभाधारी केवल प्रात काल ही सामायिक करते है वे २ घडी काल मात्र करनेके कारण जघन्य सामायिक करते हैं। जो प्रात' साय दोनो कालोमे करते हैं वे मध्यम ४ घडी सामायिकवाले है। इसी प्रकार तीनो सख्याओमे दो दो घड़ी सामायिक करना ६ घड़ी समयवाली उत्तम सामायिक है। सामायिक प्रतिमावाला उत्तम सामायिक ही स्वीकार करता है, न कि मध्यम या जघन्य। व्रत प्रतिमावाला क्रमश जघन्य मध्यम और उत्तम सामायिकका अभ्यास करता है। उभय व्याख्यानोका निष्कर्ष इतना है कि सामायिक प्रतिमामे सामायिक शिक्षा व्रत पूर्णताको प्राप्त होता है। द्वितीय प्रतिमामे यह केवल अभ्यासात्मक है अत. अतिचारादि दोष उसे प्राप्त हो जाते हैं।

सामायिक प्रतिमावान् जो एकान्त हो, जन सपर्क रहित हो, जीवजन्तुकी बाधा रहित हो, अति शीत या अति उष्ण न हो ऐसे योग्य क्षेत्रमे योग्य कालका विचारकर खड्गासन या पद्मासनसे अथवा अर्धपद्मासनसे अत्यन्त विनय भावसे पचपरमेष्ठीकी भक्तिको हृदयमे धारणकर उनके आदर्शपर पहुँचने की भावना रखता हुआ मानसिक वाचनिक तथा कायिक प्रवृत्तियोकी चचलताको रोककर उन्हे स्थिर कर स्वात्मध्यान करता है।

सुखमे दु खमे, धनिकता और दरिद्रतामे, मृत्तिका और रत्नमे, शत्रु और मित्रमे, इष्टके सयोग मे और उसके वियोगमे, महलमे और स्मशानमे, निन्दा करनेवालेमे और अपनी प्रशसा करनेवालेमे, अपनेको मारनेवालेमे और अपने पर शस्त्र प्रहार करनेवालेमे प्रत्येक विरुद्ध स्थितिके रहते हुए भी जो अपने को समान बुद्धिवाला बना सकता है वही सच्चा सामायिकी है। ऐसी समता बुद्धिका निवासी ही विषय कषायोसे अपनेको बचाकर शुद्ध चिन्मय स्वात्ममन्दिरका प्रतिष्ठित देवता है। वही सवर और निर्जराको प्राप्तकर मोक्षका अधिकारी है। निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु ही इस खड्गधारावत् कठोर व्रतके सच्चे स्वामी हैं। बिना सामायिकके मुक्ति प्राप्त नही होती। जितने भी व्रत हैं उन सबका एकमात्र उद्देश्य समता भावकी प्राप्ति ही है। यद्यपि साधु प्रतिसमय अपने परिणाम ऐसे ही समना रूप रखते हैं तथापि उस भावनाको उन्नत बनानेके लिए सध्यात्रयमे सामायिक करते है।

गृहस्थ भी देशव्रती है और महाव्रतका अभिलाषी है अत उस महत्त्वशाली अवस्थाको प्राप्त करना चाहता है। इस दृष्टिसे वह इस प्रतिमामे नियत काल तक उसे स्वीकार कर उतने समय महाव्रती की तरह विशुद्ध परिणामवाला बन जाता है। द्वितीय प्रतिमावाला इस व्रतका आरभ करता है तथा तृतीय प्रतिमामे तथा उससे आगे आगे की प्रतिमाओमे उस व्रतका पालन करते हुए वृद्धि होती है, और तब दिगम्बर मुनि अवस्थामे उसका पूर्णरूप प्राप्त करने की योग्यता आती है।

मन वडा चञ्चल है। अनादिसे बिगडे हुए सस्कार इस पर है। उन सस्कारो को दूर कर वायु-वेगसे भी अत्यन्त चञ्चल और बिजली की चमकसे भी अधिक परिवर्तनशील उस मानसिक वृत्तिको सुसस्कारोसे सस्कारित करना वहुत कठिनतम कार्य है। यही एक मात्र कार्य है जिसकी सिद्धिके लिए

मुनिजन जीवनभर प्रयत्न करते हैं। अनेक प्राणियोने तो अनेकानेक जन्मोमे मुनिव्रत धारण कर इस पर आरोहण किया है तब कही जाकर सफलता पाई है। अनेक इतने प्रयत्नो पर भी सामायिक को प्राप्त करनेमे असफल रहे हैं। इस प्रकार इस एक मात्र लक्ष्यभूत सामायिक की प्राप्तिके लिए बहुत सावधानीके साथ सामायिक प्रतिमावान् गृहस्थ नियत समय तक प्रतिज्ञा बद्ध होकर प्रयत्न करता है। गृहस्थके सप्त शीलोमे सामायिक शील यहाँ पूर्ण होता है।

पूर्व या उत्तर मुख होकर खडे होकर नमस्कार मन्त्रका नौबार स्मरण कर उस दिशामे होनेवाले केवली, श्रुतकेवली, आचार्य, उपाध्याय, साधुजन, जिनमन्दिर, जिनतीर्थ, चरणचिह्न और भगवान्‌के समवसरण आदि मगलभूत वस्तुओको बारबार स्मरण कर प्रदक्षिणात्रयके प्रतीक तीन आवर्त पूर्वक उन सबको प्रणाम करे। ऐसा ही चारो दिशाओमे करके पुन पूर्व या उत्तर मुख हो जाय जैसा पूर्वमे था। इसके बाद त्रिलाकमे स्थित पचपरमेष्ठीका तथा कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालयोका, तीर्थोका, समवसरणादि समस्त धार्मिक स्थानोका स्मरणकर उन्हे प्रणाम कर बैठ जाय अथवा खडे रहकर सामायिक करे।

सर्व प्रथम अपने जीवनकालके या दैनिक जीवनके पापो और अपराधोका विचार कर उनकी आलोचना करे। भगवान्‌से कृत कर्मोके लिए क्षमा याचना करे। इसके बाद आगे कभी ऐसे पाप का अपराध मै न करूँ ऐसा विचार कर उनका त्याग करे। इस तरह प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान विधिको करके विषय कषायोकी चिन्तासे सब प्रकारसे मुक्त होकर समता भावका आसेवनकर स्वात्मावलबियो व श्रेष्ठ पञ्च परमेष्ठियोकी वन्दना करे व उनके गुणोकी स्तुति करे। ऐसा करते करते व ससारकी दशाका विचार करते करते बारह भावनाओका आलबनकर शरीरसे भी ममत्व त्याग स्वात्मध्यानका अभ्यास करे। इसका नाम सामायिक है। पञ्चनमस्कार मन्त्रका जप, सामायिक पाठ वाचन, अन्य कविकृत स्तुतिया व वन्दनाके पाठ ये सब उक्त कार्यके लिये आलबनभूत हैं। इनका आश्रयकर अपने मूलोद्देश्यकी पूर्ति करे।

इस तरह सामायिक प्रतिमाका स्वरूप है। यह व्रती पूर्वोक्त पाँच अतिचारोका बचाव तो करता ही है साथ ही सामायिकमे और भी अनेक दोष आ जाते हैं जिनको ३२ दोषोमे नियुक्त कर उनके त्यागका उपदेश दिया गया है उनसे बचनेका भी प्रयत्न करना चाहिये। यही बात आचार्य आगे प्रतिपादन करते हैं।२०२।

(अनुष्टुप्)

द्वात्रिंशद्दोषाः कथिताः सामायिकविनाशकाः।
त्याज्याः स्वात्मा यत स स्याच्छुद्धचिद्रूपनायकः ॥२०३॥

द्वात्रिंशदित्यादिः—सामायिकस्य विनाशका द्वात्रिंशद्दोषा सन्ति। तथा कृते सति न किंचिदुत्तम फल भवति। अनादरात्—गर्वात्—कीर्तिसपादनाभिलाषात्—परपीडामवगणय्य—कायमस्थिरीकृत्य—वक्रमुखेन—संकुचितशरीरेण—ऊर्ध्वाधोभागसचलनेन—दुष्टपरिणामसहितेन—आगमाम्नायविरुद्धेन—सभयेन—ग्लानिसहितेन—स्वबुद्धिविद्याधनगौरवमनुभवता—ज्ञानकुलोच्चत्वमनुभवता—चौरवत् प्रच्छन्नरूपेण—सामायिककालमु ल्लघ्य—भयोत्पादककर्मणा—सावद्यवचनोच्चारणपूर्वक—परनिन्दया—भ्रूयुग—चालयता—सकोचयता वा यत्र तत्रावलोकयता—स्थानप्रतिलेखनमकृत्वा—च अन्यस्थितमनसा—यत्किंचिदपि विचारयता—गुनगुनेति यत्किंचिदपि उच्चारयता—मेकवत् मध्ये मध्ये उच्चैर्वच उच्चारयता—विस्मृततया खण्ड पाठमुच्चारयता—वा लौकिकवाछायुक्तचित्तेन—यद्वा तद्वा सामायिक न करणीयम्। तथाकरणे तस्य

किंचिदपि साफल्य न भवति । निर्दोषसामायिकेन कर्मणा आस्रवो न भवति, सवरपुरस्सर निर्जरा भवति सवर-निर्जराभ्यामेव मुक्तिर्भवति तस्मात् भवदु खभीतेन सादर यथासमय विशुद्धपरिणामेन प्रमादरहितेनैव सामायिक प्रीतिपूर्वक कर्त्तव्य यत स आत्मा शुद्धचिद्रूपनायक स्यात् ॥ २०३ ॥

सामायिकमे ३२ प्रकारके दोषोकी सभावना शास्त्रोमे बताई गई है। अनादरसे, गर्वयुक्त, दूसरोंसे कीर्ति मिले इसलिए, दूसरोको पीडा उत्पन्न करते हुए, अपने शरीरको स्थिर न रखकर, अग चलाचल करते हुए, तिरछे मुखसे अथवा सकुचित शरीरसे, ऊँचानीचा शरीर करते हुए, दुष्परिणामोसे, आम्नाय-विरुद्ध, भयसहित, ग्लानिसहित, या अपने बडप्पनका अनुभव करते हुए अपनी उच्चजाति कुलका गौरव समझते हुए और चोरकी तरह छिपते हुए, सामायिकके कालका उल्लघन कर सामायिक करना उचित नही है। इसी तरह दुर्वचन, पापवचनोच्चारण पूर्वक, परनिन्दावचन उच्चारण पूर्वक, भौंह चढाकर या सकुचितकर, स्थानकी शुद्धि न करते हुए भी चारो दिशाओमे दृष्टि फेरता हुआ सामायिक न करे।

अव्यवस्थित चित्तसे अथवा जो समय पर मनमे आवे उसका विचार करता हुआ, चाहे जो कुछ बोलता हुआ, गूँगेकी तरह गुनगुनाता हुआ, मेढककी तरह बीचमे जोर जोरसे चिल्लाता हुआ, विस्मृतिके कारण अशुद्ध तथा खडित पाठ पढता हुआ लौकिक लाभकी इच्छासे जो सामायिक करता है उसकी सामायिक सदोष होती है। उक्त ३२ दोषोको तथा इसी प्रकार के अन्य दोषोको जैसे सामायिकमे अँगडाई लेना, हाथ पैर पसारना, अगुली चटकाना, नख तोडना, ताली बजाना, चुटकी बजाना, लवगादि चबाना, शारीरिक शृगार व वस्त्रोकी सम्हाल पर बारबार ध्यान देना, असूयासे किसीका बुरा चिन्तवन करना, किसीको अनिष्ट कार्य करते देख चिन्तित होना, क्रोध करना और सामायिकके बाद अमुक कार्य करूँगा ऐसी चिन्ता करना इत्यादि अनेकानेक दोष सामायिकमे प्राप्त होते हैं उनसे बचना चाहिए।

सामायिक सब प्रकारसे अपनेको सकोचकर आत्मध्यानमे अपनेको लगानेका कठिनतर कार्य है। अनादि कालीन रागद्वेषके सस्कार बिना कारण भी प्रति समय सामने आते रहते हैं। व्यवहारमे यदि कोई यात्राकी तैयारी कर रहा है तब उसमे व्यस्त होनेसे अन्य इन्द्रियोके विषयोको उक्त समय भूल जाता है इसी प्रकार जब नाटक देखता है तब कर्ण और नेत्रके विषयोके सिवाय स्पर्शन रसन और घ्राणके विषयोकी ओर चित्तवृत्ति नही जाती। पर सामायिकके समय चित्तके घोडेको दौडनेके लिए खुला मैदान है अत साधारण समयकी अपेक्षा वह न जाने कहाँ-कहाँकी दौड लगाता है। इसलिए अत्यन्त सावधानीके साथ अपने मन, वचन और कायको स्थिर करके अपना उपयोग ध्यानमे लगाना चाहिए। सामायिक सवर और निर्जराका कारण है। निर्जरा और सवर ही मुक्ति प्राप्तिके हेतु हैं, अत ससारके दु खसे जो भयभीत है उन्हे आदरसहित, निराकुलतासे, विशुद्ध परिणाम बढाते हुए प्रमाद रहित होकर तथा अत्यन्त सावधानीसे सामायिक करना चाहिए।

सामायिक प्रतिमावान्के लिए सामायिकका कार्य मुख्य है। सामायिकके समय उसकी स्थिति महाव्रतीकी है। उतने काल तक आचार्योंने उसे उपचार से महाव्रती ही कहा है। शिक्षाव्रतके नाते ही यह मुनिव्रतकी शिक्षा देनेवाला व्रत है। इसलिए इसमे श्रावकको यह समझ कर बैठना है कि मैं इतने समयके लिए मुनि हू। मेरे पाँचो पापोका यद्यपि पूर्णतया त्याग नही है तो भी सामायिकके कालतक मैं सर्वदिशाओमे आवागमनका तथा पाँचो पापोका सर्वथा त्याग करता हूँ। दुष्टविचारोका, दुष्टवचनोका तथा

कार्य सबधी अन्य सम्पूर्ण कार्योंका मुझे त्याग है। मुनिके समान ही साम्यभावके धारक उस श्रावकके सामायिक कालमे यदि चोर चोरी करता हो, पुत्र मरणको प्राप्त हो जाय, स्त्रीवियोग हो जाय, गृह दाह हो जाय, कठिनतर उपसर्ग सामने आजाय, वज्रपात हो जाय और सर्पादि दुष्ट जन्तु शरीरपर आ जाय तो भी सामायिकसे विचलित नही होता।

विचलित न होने का यह अर्थ है कि वह चित्तमे विकल्प उत्पन्न नही करता। वह धन कुटुब और विषयोसे तथा शरीरसे भी उतने काल निर्मोही है। स्थिति तो यथार्थमे ऐसी ही होनी चाहिए। तब ही अनास्रवण अर्थात् सवर और निर्जरा होती है।

सामायिक एकान्तमे, जनकोलाहलशून्य और बाधा रहित स्थानमे करनी चाहिए। इस नियमका तात्पर्य ही यह है कि चित्तकी चञ्चलताके कारण पहले ही दूर करदे। फिर भी यदि उक्त कारण आ पडे तो चित्तको ग्लानियुक्त न करे। स्थान छोडे नही, शरीर मोडे नही। कठिनसे कठिन हानिको समता पूर्वक सह ले।

इस समय एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि अनेक प्रतिभावान् सज्जन जो तीसरी प्रतिमाके धारी हैं अथवा उससे भी अधिक प्रतिमाओका पालन करते हैं, ग्यारहवी प्रतिमा धारण कर जिन्होने क्षुल्लक व्रत भी धारण किए हैं अथवा ऐलक हैं, आर्यिकाएँ या क्षुल्लिकाए हैं अथवा दिगम्बर मुनि हैं। इनमे जो रेल, मोटर, वायुयान आदि द्वारा यात्रा करते हैं वे सामायिक उन सवारियोमे ही करते हैं या समय चले जाने पर किसीभी अन्य समयमे सामायिक करते हैं सो यह उचित है या नही।

उत्तर इसका सहज है। यह प्रश्न ही इस बातका सूचक है कि सामायिकके स्वरूपको देखते हुए यात्रामे (रेल मोटर आदिमे) सामायिक नही हो सकती और चूँकि ज्ञानवान् विद्वान् त्यागी वर्ग भी रेलमे सामायिक करता है तब उसके परिणाम स्थिर कैसे रह सकते हैं।

यथार्थमे सामायिक प्रतिमावालेको अपनी सामायिकको प्रमुख मानकर अन्य कालमे ही रेलयात्रा आदि करनी चाहिए। भले ही ऐसा करनेमे समय अधिक लगे, मार्गमे उतर जाना पडे, कुछ पैदल यात्रा भी करनी पडे। यदि इतना त्याग भी मनमे न आया हो तो सामायिक प्रतिमा या आगेकी प्रतिमाएँ स्वीकार नही करनी चाहिए।

जिस व्रतको पालन करनेकी सामर्थ्य न हो उसे अभिमानसे, लौकिक कीर्तिकी अभिलाषासे अथवा तात्कालिक उन्नत भावनासे धारण कर लिया हो तो उसका यथोचित निर्वाह करना ही अपने लिए श्रेयस्कर है। यदि पालन करना शक्य न हो तो जितने व्रतोका निर्दोष पालन हो उतनी ही प्रतिमाएँ रखनी चाहिए। शेषकी भावना रखनी चाहिए।

ऐसा करनेसे प्रतिज्ञा भग होगी, अत ऐसा उपदेश देना कार्यकारी नही है ऐसी आशका यहाँ हो सकती है। इसका समाधान यह है कि जो कोई व्रती व्रत पालना चाहता है और कोई उसे व्रत त्यागका उपदेश देते हैं तो उपदेशक अवश्य पापी है। ऐसा उपदेश 'पापोपदेश' होगा, तथा दूसरोको व्रत भ्रष्ट करानेका महान् दोष उपदेष्टाको लगेगा। यहाँ यह स्थिति नही है। स्थिति यह है कि भावनावश या दुर्भावनावश किसीने प्रतिमा ग्रहण कर ली है और वह उसका निर्वाह नही कर रहा है तो उसके लिए प्रथम उपदेश तो यही है कि उसे हर प्रकारकी शक्ति लगाकर अपनेको व्रतके वास्तविक रूप पर ले आना चाहिए। इतनी प्रेरणाके बाद भी यदि कोई व्रत नही पालता है, केवल व्रतकी खोल ओढ़े है,

तब उसे यह उपदेश ही दिया जा सकता है कि इस झूठी खोलको ओढकर दूसरोको धोखा न दे और अपनेको कूपमे न ढकेल। इससे जिनमार्गकी अप्रभावना भी होती है। इसलिए यदि कोई अपनी शक्ति और परिणाम विशुद्धिके अनुसार व्रतोका (प्रतिमाओका) पालन करेगा तो जितना पालन करेगा उतना लाभ मिलेगा। यद्यपि पूर्व व्रतका यह भग होगा और व्रत भंगका दोष उसे आयगा, पर वह तो इससे पूर्व भी आता था, क्योकि व्रत तो उससे पलता नही था, केवल उसका ढोग (वेष) था। इस मिथ्या वेपसे वह भी धोखे मे था और दूसरे भाइयोको धोखा देता था। इस मायाचारीसे वह बच जायगा। अत विशेष कहनेसे क्या ? मिथ्या वेष रखकर ऊँचा बतानेकी अपेक्षा नीचा भेष रखकर शक्तिके अनुसार ऊँचा व्रत पालना उत्तम है। इससे व्यक्तिको तो दोष होगा पर उसे मार्गको दूषित करनेका जो महान् पाप है वह न होगा।

रेल, मोटर आदि सवारीमे बैठकर सामायिक करना किसी भी प्रकार सभव नही है। मात्र समय पर उसकी यादगार है। यदि येन केन प्रकारेण भी सामायिक कर सकता नही तो पछताता है। न तो वहाँ एकान्त है, न योग्य क्षेत्र है और न स्थिरता है। जहाँ सामायिकमे शरीरका भी हलन चलन करना निषिद्ध है वहाँ सामयिकी मजेमे सवारीपर सवार हो सैकडो मील चला जा रहा है। स्त्री पुरुष बच्चोका सघर्ष होता जाता है। सामानका परिग्रह साथ है उसे कोई ले न जाय यह चिन्ता है। टिकट कलेक्टर मागने आ जाय तो धर्मसकट है। स्टेशन पास आ रहा हो तो जपने या पाठ पढने की अतिशीघ्रता है। ऐसा कोई दोष नही जो न लगता हो। दोष लगना तो दूरकी बात है वहा तो सामायिक व्रतका पालन ही नही है।

जो व्रत प्रतिमाधारी हैं जिन्हे सामायिक सातिचार है वे भी रेलपर सामायिक नही कर पाते हैं। उन्हे समय पर केवल स्तुति वन्दना आदि पाठके द्वारा सामायिकके कालको उत्तम रीतिसे व्यतीत करना चाहिये और यात्राकी समाप्तिके स्थानपर योग्यतानुसार सामायिक करना चाहिये। यद्यपि ऐसा करनेमे कालका उल्लघन होगा और यह अतिचार होगा तथापि प्रसगत' अतिचार व्रत प्रतिमामे लग सकता है इसीलिए उसके ये व्रत निरतिचार नही हो सकते। इन अतिचारोसे रहित सामायिकको प्राप्तिके लिए यह तीसरी प्रतिमा है। यहा भी यदि जानबूझकर यात्राको प्रमुख कार्य मानकर व्रतको गौणकर दोष लगाए जाय तब तीसरी प्रतिमाका वर्णन ही व्यर्थ हो जायगा।

साराश यह है कि विवेकसे ही कार्य करना श्रेयस्कर है। अन्यथा हानिप्रद भी है। ऐसा नही है कि जितना सधे उतना अच्छा। यदि ऐसा ही है तो उच्च भेषकी घोषणा नही करनी चाहिए, जो बने सो ही पालन करे। कोई आपत्ति नही है। इस प्रकार तीसरी प्रतिमाका स्वरूप है। उसका यथोचित निर्वाह करनेवाला ही उसके वास्तविक लाभको प्राप्त कर सकता है।२०३।

प्रोषधोपवास नामक शीलव्रतकी पूर्णता चतुर्थ प्रोषधोपवास नामक प्रतिमामे होती है, अतः उसका स्वरूप कहते हैं—

(वसन्ततिलका)

त्यक्त्वा कषायविषयान् गृहकर्मसक्तिं ।
भुक्तिं प्रमादजननीञ्च चतुर्विधां यः ।
कुर्वंश्च पर्वदिवसेषु सदोपवासं ।
नूनं चतुर्थप्रतिमाव्रतपालकः सः ॥२०४॥

त्यक्त्वेत्यादि'—सप्तशीलेषु शिक्षाव्रतेषु वा मुनिव्रतशिक्षाराधनार्थेषु प्रोषधोपवासव्रतस्य निरूपण कृतम् । यत्प्राक् प्रोषधोपवास व्रतप्रतिमाया शीलरूप आसीत् स एव चतुर्थप्रतिमाया व्रतरूपोऽस्ति । अत्रैव तस्य परिपूर्णता भवति । व्रतेऽस्मिन् पर्वदिवसेषु अष्टम्या चतुर्दश्याञ्च कषायविषयान् क्रोधाहङ्कारकपटलोभादिकान् पञ्चेन्द्रियविषयान् गृहकर्मसक्ति व्यापाराद्यारम्भासक्ति प्रमादजननी चतुर्विधा भुक्तिञ्च त्यक्त्वा य सदोपवाममुत्तममध्यमजघन्यभेदगर्भं यथानियम कुर्वन्नास्ते स नून चतुर्थप्रतिमाव्रतपालक स्यात् । प्रोषधोपवासस्य त्रयो भेदा प्राक् प्रतिपादिता एवातो नेह प्रतन्यते । उप-समीपे स्वात्मनि निवास स्यादुपवास । स्वात्मध्यान स्वस्यैवालम्बन स्वोद्धारस्यैव चिन्तन स्वात्मभिन्नशरीरचिन्तापरित्याग पञ्चेन्द्रियविषयचिन्तात्याग कषायनिमित्तभूतार्थचिन्तापरित्याग गृहोद्योगारम्भयोरपि चिन्तापरित्याग कौटुम्बिकमोहविराग समताभावश्च चतुर्थप्रतिमाया नियमेन स्यादिति तात्पर्यम् । २०४ ।

पहिले व्रत प्रतिमामे सामायिक शीलकी तरह शिक्षाव्रतोमे प्रोषधोपवास भी एक शील रूपसे वर्णित किया है । उस व्रतका प्रारभ यद्यपि व्रत प्रतिमामे ही हो गया है तथापि उस व्रतकी परिपूर्णता अर्थात् निरतिचार आवश्यक परिपालन इस प्रतिमामे होता है । वहाँ यह व्रत अभ्यासरूपमे था, अत अतिचारो की सभावना थी, यहाँ चतुर्थ प्रतिमामे अब वह व्रतरूपताको प्राप्त हो जाता है, अत उसका निरतिचार प्रतिपालन इस प्रतिमामे आवश्यक है ।

यह बताया जा चुका है कि श्रावकके उत्तर व्रत कुल १२ हैं। जिनका प्रारम्भ द्वितीय प्रतिमामे हो जाता है । किन्तु उन व्रतोकी पूर्णता वहाँ नही होती है । वहाँ केवल पञ्चाणुव्रत निरतिचार पालन होते है। शेष सात उत्तरगुण शीलव्रत हैं अर्थात् व्रती उन्हे अपने अभ्यासमे लेता है और तद्रूप अपने स्वभाव को बनाता है । इस प्रयत्नमे अनभ्यासके कारण कभी अतिचारादि दोष लग जाते थे । अब उन सातो की पूर्णताके हेतु ही आगेकी सम्पूर्ण प्रतिमाएँ हैं ।

श्रावकके व्रत एकदेश हैं । एकदेशका अर्थ है असपूर्ण । अपूर्णतामे अनेक भेद होते हैं । पूर्णताका कोई भेद नही होता । एक रुपयामे एक आना रुपयेका अपूर्णरूप है और पन्द्रह आना भी अपूर्णरूप है तथापि दोनोमे कई गुना अन्तर है । इसी प्रकार देशव्रती होनेपर भी द्वितीय प्रतिमाके और दशवी ग्यारहवी प्रतिमाके श्रावकोमे बहुत बडा अन्तर है । श्रावक जितनी प्रतिमा बढता जाता है उतना ही श्रावकव्रतोको पूर्णकर महाव्रतोकी प्राप्तिकी ओर जारहा है ।

सामायिक व्रतमे जिस प्रकार सामायिकका काल उसी व्रतकी तरह व्यतीत करनेका उपदेश दिया था उसी प्रकार इस प्रतिमावाला श्रावक अपने पर्वके दिनोका अर्थात् प्रत्येक अष्टमी और प्रत्येक चतुर्दशी का सम्पूर्ण समय समधी होकर व्यतीत करता है । वह उस दिन कितना भी घोर उपसर्ग आवे क्रोध नही लाता । कितनी ही हानि हो किसीको धोखा नही देता । कितना भी लाभ का सुयोग हो लोभ नहीं करता । भोजन मात्रका परित्याग करनेसे अथवा रसरहित भोजन अगीकार करनेसे रसनेन्द्रियके विषयसे दूर रहता है । तेल, इत्र, पुष्प, केसर, धूप आदि घ्राण इन्द्रियके विषयोका उपयोग नही करता । विभिन्न प्रकारके दृश्य, नाटक, खेल तमाशे नही देखता । अनेक प्रकारके नाटक सगीत वाद्य नृत्यादि जो कर्णेन्द्रिय के लिए मनोरम विषय है उनके सुननेका त्याग करता है । अपनी मानसिक वृत्तिको वशमे रखकर धर्मध्यानमे लगाता है ।

स्वाध्याय, पूजन, धर्मोपदेश, धर्मश्रवण, धर्मध्यान इतना ही उसका कार्यक्रम उस दिनका है । उसके सम्मुख पुत्र हो या मित्र हो या शत्रु हो सब पर समव्यवहार करता है । किसीसे रागद्वेष नही करता । मोहका त्याग करता है और पूर्ण ब्रह्मचर्य पूर्वक आत्मस्वरूपके प्राप्त करनेकी चिंता रखता है ।

इस व्रतमे केवल भोजनका त्याग प्रमुख नही है। विषय, कषाय, रागद्वेष, आरभादि गृहकार्य और निद्रा आलस्यादि प्रमाद ये मुख्यतया वर्जनीय हैं। इनका प्रभाव अपने ऊपर न हो इसलिए आहारका त्याग करना पडता है। जो पूर्णतया आहार त्यागमे असमर्थ हैं, बिना आहारके परिणाम स्थिर नही रहते, सक्लेश होता है, वे एक बार आहार करके भी इस व्रतका पालन करते हैं। वह आहार रसरहित हो, जिह्वाका स्वाद न रहे और भूखके कष्टको दूरकर अपने उपयोगकी अस्थिरता मिटाकर धर्मध्यानमे सहायक हो सके यह प्रयत्न होना चाहिए।

भोजनके त्यागके क्रममे एक बार भोजन, अल्पभोजन, रसरहित भोजन या सम्पूर्ण भोजनका त्याग ही शास्त्रविहित है। इन्हे एकाशन, ऊनोदर, रसपरित्याग और अनशन ऐसा क्रमश शास्त्रोक्त नाम प्राप्त हैं। वर्तमानमें इस त्यागमे भी कुछ मनोकल्पित्त पद्धतिया स्वीकार कर ली गयी हैं। यथा–पर्वके दिन अन्नका त्याग कर फलादिका, दुग्धादि रसोका व मेवा आदि गरिष्ठ पदार्थोंका सेवन। कुछ व्रती अन्नादि आहार ग्रहण कर भी जलका त्याग कर देते हैं और दुग्धादिपान द्वारा जलकी कमी को पूरा करते है। टीकाकार की दृष्टिमे ये दोनो विधिया आगममे कही नही बतायी गयी हैं।

अन्नाहारका त्याग करके अन्य आहार रखनेका क्रम सल्लेखनामे बताया गया है। जहा आहार मात्रके त्यागकी भावना है वहा आहारकी कमीकी पूर्तिके लिए अन्नके स्थानमे विभिन्न रसो व फलोके ग्रहण की बात नही कही गई है। किन्तु नीरस आहारका विधान है। यदि पेय पदार्थोंका उपयोग भी है तो केवल दुग्ध या छाछ आदि या उसके बाद गरम जलमात्रकी विधि बताई गई है। अथवा रात्रि भोजन त्यागमे चतुर्विधाहारका त्याग न कर सकनेवालेको तीन प्रकारके आहारके या दो प्रकारके आहारके या एक प्रकारके ही अन्नाहारके त्याग की चर्चा है। उसका प्रयोजन इतना ही है कि अन्नाहारत्यागी रात्रिमें अन्य पदार्थोका ही उपयोग कभी-कभी करेगा। अन्नाहारी तो नित्य आहार करेगा। अन्न तो प्रधान भोजन है। यदि वह दिनमे नही किया गया तो वह रात्रिमे नियमित चलेगा जो ठीक नही। यदि दिनमे अन्नाहार द्वारा शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति हो गई है तो फिर रात्रिमे आहार ग्रहण न करे और धीरे-धीरे संपूर्ण आहारके त्यागका अथवा दो तीन प्रकारके आहारके त्यागका प्रयत्न करेगा।

उक्त दोनो अवसरोंसे प्रतिमाधारीके पर्वके दिनका आहार त्याग दूसरे प्रकारका है। नही तो अनशन, अवमौदर्य और रस त्याग आदिका विधान ही क्यो है, अत ये नए प्रकारके त्याग त्यागके उद्देश्य को पूरा नही करते, अत ग्राह्य नही हैं। विधि विहित्त नही हैं। अपितु त्यागके मार्ग की अपेक्षा रसनेन्द्रियके विषयमे प्रवृत्तिकारक होनेसे अग्राह्य हैं।

प्रथम तो कल्पित प्रवृत्ति करना उचित नही है और यदि करना भी हो तो वह उस प्रतिमा या व्रतके उद्देश्यको पूरी करती हो तभी वह ग्राह्य हो सकती है, अन्यथा वह एक आत्मवञ्चना होगी।

इसी प्रकार जो लोग मात्र चतुर्विधाहारका त्याग कर देते हैं और क्रोधादि पर विजय प्राप्त नही करते, इन्द्रिय विषयोसे विरक्ति नही करते, व्यापार या आरभादिकी प्रवृत्ति बराबर बनाए रखते हैं वे भी व्रतके उद्देश्यको पूरा नही करते। व्रतीको हर प्रकारका प्रयत्नकर अपनी प्रवृत्तिको उस रूपमे लाना चाहिए जिससे कि उसकी वैराग्य भावनाको प्रोत्साहन मिले, परावलम्बन छूट जाय, स्वावलबनकी वृद्धि हो। यही मुक्तिका मार्ग है, अन्यथा वह ससारका ही मार्ग होगा।

जैनधर्म निवृत्तिप्रधान धर्म है। निवृत्ति ही इसका उद्देश्य है। प्रवृत्तिका उपदेश यहाँ कदाचित् भी नही है। यदि कही है भी तो निवृत्ति मार्ग पर बढनेके लिए महान् प्रवृत्तियोको रोककर अल्पप्रवृत्तिको

प्रोत्साहन दिया गया है। अत व्रतीको यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि हमारी वृत्ति और हमारे कार्य उक्त उद्देश्य की पूर्तिकी ओर जा रहे है या नही। यदि जा रहे हो तब तो उसके व्रत निर्दोष पलते जायगे और यदि नही तो वह क्रमश अव्रती दशा को प्राप्त होगा। ऐसे व्यक्ति स्वाभिमानके वश होकर व्रतके बाह्यरूपको बनाए रखते हैं और अन्तरगमे उससे रहित हो जाते है। यह मायाचार पूर्वक क्रिया अव्रतकी क्रिया है। इतना ही नही, मायाचारके कारण वह दुर्गतिका भी कारण है। अन्यधर्मात्माओ की ठगी का कारण होनेसे धर्मका मार्ग भ्रष्ट करनेके कारण वह नरकादि दुर्गतियोका भी कारण है। अत व्रतके उद्देश्यको पूर्ण करते हुए आगमोपदेशित पद्धतिके अनुसार प्रोषधोपवास करनेवाला चतुर्थ प्रतिमाका धारी है॥ २०४॥

पञ्चमप्रतिमाचिह्नं किमस्ति मे गुरो वद।

हे गुरुदेव पञ्चम प्रतिमाका क्या स्वरूप है, कृपाकर कहे—

(वसन्ततिलका)

अग्न्यादिपाकरहितस्य फलादिकस्य
कार्यं न सेवनमितीह निजात्मविद्भिः॥
आत्मा स्वयं ह्यनुपमो विमलो यतः स्यात्
स्वस्थो मनोक्षविजयी कृतकृत्यभाक् सः॥२०५॥

अग्नीत्यादि—यत् सचित्त पत्रादिक फलादिक वा अग्न्यादिपाकरहित अप्रासुकमित्यर्थ तस्य निजात्मविद्भि सेवन कदापि न कार्यम्। अग्न्यादिसस्काररहितानि जलानि फलानि पत्राणि पुष्पाणि मूलानि च सचित्तानि भवन्ति। तेषु स्थावरप्राणिना सद्भावो विद्यते। यद्यपि श्रावकेण किल त्रसघातस्यैव त्याग कृत न स्थावरघातस्य तथापि दयापरस्य किलास्य वर्तते एव परिणाम यत् सचित्त द्रव्य न भोक्तव्य अचित्तेनैव स्वोदरपूरणकरण श्रेय। सचित्तेषु पुष्पाणा त्याग मधुव्रत एव कृत। कन्दाना मूलानाञ्च बहुस्थावरघातत्वात् अनन्तनिगोदाश्रयत्वाच्च अभक्ष्यत्याग एव त्याग कृतस्तथापि उदाहरणरूपेण सचित्तेषु तेषामत्र चर्चा कृता। प्रत्येकानाम्फलाना तद्रूपाणा पत्रादीनाञ्च चतुर्थ-प्रतिमापर्यन्त ग्रहणमासीत् ततस्तेषा पञ्चमप्रतिमायां त्यागो विधीयते। भोगोपभोगेष्वेव विवेककरणेन तद्व्रतस्याभि-वृद्धिर्भवति। इन्द्रियविषयविजयेन स्वात्मा विमलीभवति। निजात्मन समीपता याति व्रती। स्वाराधितव्रतसम्पत्त्यभि-वृद्धित स आत्मा अनुपमो विमल स्वस्थो मनोक्षविजयी कृतकृत्यश्च भवति॥ २०५॥

वृक्षसे पृथक् होने पर भी पत्र, फल, पुष्प, कन्द और मूल आदि सचित्त (एकेन्द्रिय जीव सहित) होते हैं। इनमे कन्द, मूल और पुष्पोका त्याग पूर्वमे अभक्ष्य त्यागमे हो चुका है तथापि सचित्तके उदाहरण स्वरूप उनके नाम गिनाए हैं। चतुर्थ प्रतिमा तक प्रत्येक (जिस वनस्पतिमे एक शरीरका एक ही एकेन्द्रिय स्वामी है) वनस्पति रूप फलादि व पत्रादिका अथवा सचित्त (कच्चे) जलादिका ग्रहण चतुर्थ प्रतिमा तक यदा कदाचित् हो जाता था। यद्यपि पर्वादि दिनोमे अथवा भोगोपभोगत्यागमे सचित्त द्रव्यके भक्षण का त्याग चतुर्थ प्रतिमा तक भी था। तथापि इस प्रतिमामे उस सचित्त द्रव्यका सर्वथा त्याग व्रती कर देता है। इसलिए इस प्रतिमाका नाम सचित्तत्यागप्रतिमा है।

ये सचित्तद्रव्य अग्निसे पकाने पर, नमक आदि क्षार द्रव्यसे सयुक्त होने पर अथवा चाकू आदिके द्वारा छोटे छोटे टुकडे करने पर या सिल लोढा आदिसे कुचल जानेपर अचित्त हो जाते हैं। इस प्रतिमा

वाला ऐसे अचित्त द्रव्योका ही उपयोग करता है। सचित्तपदार्थोंका प्राणान्त होने पर भी भक्षण नही करता। इस व्रतके परिपालन करनेसे भोगोपभोगपरिणाम व्रतमे अभिवृद्धि होती है, परिणामोमे विशेष दया उत्पन्न होती है, मन और इन्द्रियोके विषयोपर विजय होती है, प्राणी स्वात्माके समीप आता है, पर पदार्थोंमे विरक्ति बढती है और परिणाम निर्मल होते हैं। स्वय आराधना किए गए अपने व्रत रूपी सम्पत्तिमे वृद्धि होनेसे वह अपनेको कृतकृत्य मानता है। इसलिए इस प्रतिमाको स्वीकार करता है। ऐसा पचम प्रतिमाका स्वरूप है।

यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि श्रावक एकदेश व्रती है, उसने त्रसघातका त्याग किया है। उसके स्थावर घातका नही। यद्यपि सकल्पसे अनावश्यक स्थावरका भी घात नही करता तथापि गृहारम्भमे, भोजनके आरम्भमे और रसोई बनाने आदिमे, स्थावर हिंसाका त्याग सभव नही हैं, अत उनमे स्थावरका घात होता है, तब सचित्त द्रव्यका त्याग श्रावकके व्रतोमे क्यो रखा गया है। उत्तर यह है कि यद्यपि प्रश्नमे दिखाई गई सभी बाते सही हैं तथापि यह प्रतिमा भोगोपभोगोमे न्यूनता करनेके हेतु तथा अहिंसाणुव्रतको अहिंसा महाव्रतके रूपमे परिणत करने हेतु प्रयास रूप है। आगे-आगेकी सभी प्रतिमाओका उद्देश्य अणुव्रतोमे उत्तमता लाते-लाते उन्हे महाव्रत रूप परिणत करानेका है, इसलिए सचित्त त्याग भूषणस्वरूप ही है।

कोई सज्जन ऐसा विवेचन करते हैं कि इस प्रतिमामे सचित्तको अचित्त करनेका कार्य भी नही करना चाहिए, केवल अचित्त द्रव्योका उपयोग करना चाहिए। पर यह विवेचन प्रतिमाधारीकी उत्कृष्टताका प्रतिपादक होनेपर भी सामान्य नियम नही है। आगममे गृहारम्भ त्याग आठवी प्रतिमामे निरूपित किया गया है। उसका नाम आरम्भ त्याग प्रतिमा है। अत इस प्रकारका त्याग वहाँ ही सम्भव है। यदि यहाँ ही यह त्याग होता तो आठवी प्रतिमाका निरूपण नही होता। उसका उपदेश व्यर्थ हो जायगा। हाँ, बिना प्रयोजन तो यह हरी घास आदि पर पैर भी नही रखता। यदि कार्यवश रखना ही पडे तो उसे बहुत दु ख होता है।

अत॰ यह निर्णय होता है कि प्रतिमारोहण त्यागका क्रम है। यद्यपि आरम्भका त्याग भी इष्ट है तथापि वह यहाँ नही है। पहिले सचित्त भोजनका त्याग कराया गया है। पीछे आठवी प्रतिमामे उसके आरम्भका भी त्याग कराया गया है। ऐसा विवेचन आगमानुसार सुसगत होगा।२०५।

इस प्रकार पंचम प्रतिमाका स्वरूप हुआ। अब छठी प्रतिमाका स्वरूप कहते हैं—

(वसन्ततिलका)

वाक्कायिकस्वकृतकारितसम्मतैश्च
यो रात्रिभोजनमथो दिनमैथुनञ्च।
सम्यग्विहाय सुखदे स्वपदे च यः स्यात्
त्यागोऽस्ति तस्य सुखदो निशिभोजनादेः ॥२०६॥

वागित्यादि—दिवामैथुनत्याग रात्रिभुक्तिश्चेति नामद्वय षष्ठमप्रतिमाया। वचसा कायेन च कृतकारितानुमतैश्च य किल कामभोगान् दिवसे परित्यजति। रात्रावेव कदाचित् कामसेवन करोति। दिवसे तु परिपूर्णं ब्रह्मचर्यं सेवते तत्स्यात् रात्रिभुक्तिव्रतम्। रात्रावेव कामभोगान् सेवयाम न दिवसे, एव व्रत येषामस्ति ते रात्रिभुक्तिव्रतिन। अथवा दिवासमये पूर्णरूपेण कामभोगान् परित्यजाम न कदाचिदपि मनसा वचसा कायेन वा

वाञ्छाम नान्यान् प्रेरयाम न तत्कारकाननुमोदयाम इत्येव व्रतधारकाणामेव स्यादेतत् व्रतम्। एव अस्य व्रतस्योभय नाम एकार्थप्रतिपादक न त्वत्र भिन्नार्थकत्वमित्येका व्याख्या। द्वितीया तु व्याख्या, य दिवस एव भोजनङ्करोति कारयति च। रात्रिभोजन न करोति न चानुमोदते तस्य स्यात् षष्ठी प्रतिमा। स किल दिवससमये मैथुनमपि परित्यजति वचसा कायेनापि च न तत् कारयति न चानुमोदते इति। यद्यपि द्वाविंशत्यभक्ष्यपरित्याग-समय एव रात्रिभोजनस्य त्यागो जात। तथापि कारितानुमोदनसवधिदोषाणा सम्भावना पञ्चमप्रतिमापर्यन्त वर्तते षष्ठ्या तस्या अपि परित्याग। इत्येवप्रकारेण वचसा कायेन कृतकारितानुमोदैश्च य रात्रौ भोजन दिवसे मैथुनञ्च परिहरति स षष्ठप्रतिमाधारी। स स्वजन्मार्घं ब्रह्मचर्येणोपवासेन च नयन् ज्ञानात्मके परमानन्दात्मके विलीन प्रशस्यते।२०६।

इस प्रतिमाके नाममे द्वैविध्य है। इसके दो नाम हैं। १-दिवामैथुनत्याग और २-रात्रिभुक्तिव्रत। अर्थात् जो दिनमे परिपूर्ण ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करता है। मन वचन कायादि व्यापारसे स्वय मैथुन सेवन नही करता, दूसरोको ऐसा करनेकी प्रेरणा नही करता, करनेवालेकी प्रशसा नही करता, वही दिवामैथुनत्यागी है। वही रात्रिभुक्तिव्रती है। रात्रिभुक्तित्याग ऐसा इस प्रतिमाका नाम नही है। किन्तु रात्रिभुक्तिव्रत ऐसा नाम है। जिसका अर्थ है रात्रिमे ही भोगग्रहण, प्रकारान्तरसे दिनमे भोग त्याग ही है। दूसरी व्याख्या ऐसी भी की जाती है कि यह प्रतिमा रात्रिभोजनत्याग के लिये है। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि क्या पचम प्रतिमा तक रात्रि भोजन चालू था जो इस प्रतिमामे इसकी चर्चा आई। इसका उत्तर यह है कि अभी तक व्रती स्वय चारो प्रकारका रात्रि भोजन नही करता था पर गृहाश्रममे छोटे छोटे वच्चे होते हैं उन्हे प्रसगानुसार भोजन देना पडता था। जैनेतर अतिथियोको भी भोजन देना पडता था। अथवा ऐसा करनेवालोकी प्रशसा या अनुमोदना करनी पडती थी। इस प्रति-मासे इसका भी त्याग हो जाता है। दोनो व्याख्याएँ इष्टाधायक हैं। २२ अभक्ष्यके त्यागमे रात्रि भोजन त्याग प्रथम प्रतिमामे ही हो गया तब छठी प्रतिमामे रात्रि भोजन त्यागकी बात कहना यद्यपि सगत नही है ऐसा कहा जा सकता है तथापि कारित और अनुमोदनासे रात्रि भोजन त्याग इसके पूर्व न था अत यहाँ उसका बुद्धिपूर्वक त्याग किया गया है।

जो श्रावकोत्तम उक्त प्रकार उभय व्याख्याओको स्वीकारकर षष्ठ प्रतिमाको पालता है वह व्रतियोमे प्रशसाके योग्य माना जाता है। इन बधनोंसे मुक्त होनेवालेका ही स्वानन्दस्वरूप मुक्ति सुखमे निवास होता है।२०६।

सातवी ब्रह्मचर्य प्रतिमाका स्वरूप—

(वसन्ततिलका)

स्त्रीणां कथापि किल मानवमात्रकस्य
चेतोविकारजननीति विचार्य तास्तत्।
त्यक्त्वात्मसौख्यनिलये निवसेत् सदा यो
ब्रह्मव्रती स निपुणो भुवि भाग्यशाली ॥२०७॥

स्त्रीणामित्यादिः—तात्पर्यमेतत् येन व्रतिना भावितद्वादशभावनाभिजंगत्स्वरूप परिज्ञात पञ्चेन्द्रिय-भोगाना भुजङ्गता च निर्णीता। ससारपरिभ्रमणात् भीतेन तेन तन्मूलकारण स्त्रीपरिग्रह निश्चित्य स्त्रीशब्द-श्रवणमात्रमपि व्यथाकारकमित्यनुभूयते। यस्या स्मरणमात्रमपि सुखानुभूतिमुत्पादयति स्म सा अधुना स्मरण-

मात्रेणैव विरागकारणभूता प्रतिभाति । तद्विषयविरक्तस्तु स विचारकः विचारयत्येव यत्—अस्मिन्नेव जन्मनि वाल्ये मया स्वातन्त्र्यसुखमनुभूतम् । विषयवाञ्छया सुखपरम्पराप्राप्त्यभिलाषेण स्वर्णवद्दीप्यमानज्वलज्ज्वलने पतितपतङ्गवत् स्त्रीसौन्दर्यमोहितमति दुःखपरम्परामाप्तवान् । स्त्रीपुरुषसयोगादेव द्रव्यसंसारस्य—पुत्रपौत्रादि-रूपस्य, भावससारस्य रागद्वेपरूपस्य चोत्पत्तिर्भवति । पुत्रादीनामुत्पत्तौ इष्टसयोगाभिमननाद् रागोत्पत्ति । तेषा-मानुकूल्येन प्रवृत्तौ तु रागवृद्धि । प्रातिकूल्येन प्रवृत्तौ च द्वेष । इति रागद्वेषमूलौ किल इष्टसयोगानिष्टसयोगौ भावससारस्य कारणभूतौ । कामावेशात् मलमूत्रोत्पादक मलमूत्रस्थानभूतमपि शरीराङ्ग अवाञ्छनीयमपि वाछति । तत्रैव मुह्यते । जन्मपूर्वक हि मरण । जन्ममरणयोर्जन्म एवानिष्टम्, तस्यैव बाल्ययुवाप्रौढजरावस्थाकीर्णदु खहेतु-त्वाङ्गीकारात् । मरणन्तु तद्वत् नानिष्टम् । तत्तु एतज्जन्मसवधिदु खमोचनहेतु मुक्तेरपि हेतुरित्यभ्युपगमात् कामाङ्ग-भूतैरेवाङ्गैर्जन्मसम्भवात् । अत निश्चीयते यत्ससारदु खकारणभूतजन्महेतुकामविकारेणैव दु खाना परम्परा प्राप्यते । एतद्विचार्य य स्वशक्तिमवलम्ब्य जन्ममरणभवभीत न कदाचिदपि अधीरता भजति न मैथुनमुपसेवते, स्वप्नेऽपि न स्त्री पुरुष वा अभिवाञ्छति स खलु ब्रह्मचारी । भोगोपभोगयो कामभोगस्य प्रधानता वर्तते । तत्त्यागिन भोगोप-भोगपरिमाणव्रत भवति । पुत्रार्थमेव परिग्रहस्यातिसञ्चयो भवति । स्त्रीमात्रत्यागात्तु न सन्तानस्य अभिवृद्धिर्भवति, तदनभिवृद्धेर्न परिग्रहातिसञ्चय सञ्जायते । परिग्रह एव पापस्य मूल इति तदभावे पापस्यापि क्षीणता जायते । तस्मादादेय ब्रह्मव्रतम् । सप्तमप्रतिमाधारकस्य विशेषत ससाराद् भीरुता सवेगश्च भवति । सवेगवैराग्याभ्या कर्मनिर्जरा स्यात् । साधुपदारोहणाय ब्रह्मव्रतं किल बीजभूतमस्ति । बीजेन विना यथा नान्नमुत्पद्यते तथैव ब्रह्मचर्यं विना न मुनिपदयोग्यव्रताङ्कुरा उत्पद्यन्ते । तस्मात् सत्प्रयत्नत अष्टादशसहस्रशीलसम्पादक ब्रह्मव्रतमङ्गी-कार्यम् । २०७ ।

सातवी प्रतिमा ब्रह्मचर्य व्रत प्रतिमा है । छठी प्रतिमामे ही श्रावकने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि स्त्री परिग्रह हेय है । तथापि सर्वथा त्यागमे असमर्थ होने से क्रमश त्यागका मार्ग अगीकार किया था । जिस ब्रह्मचर्यका साङ्गोपाग पालन वह छठी प्रतिमामे मात्र दिनको करता था, उसी ब्रह्मचर्यको अब रात्रि दिन स्वीकार करता है ।

विषय भोग भुजगके समान हैं । जैसे भुजग डस लेता है उसी तरह विषय भी प्राणीको डस लेते हैं और उसके धर्मरूप प्राण नष्ट हो जाते हैं । जैसे स्वर्णके समान उज्ज्वल वर्ण अग्निमे आगत पतग भस्म हो जाता है उसी तरह स्वर्णकाय स्त्री या पुरुष प्रतिमाको कामके वशीभूत होकर यह प्राणी अपना कर ससारके महान् तापसे सतप्त होता है । सयोग दु ख मूलक है । यद्यपि सयोगको लोग इष्ट मानते हैं, और वियोगको अनिष्ट, तथापि यह तो सुनिश्चित है कि सयोग पूर्वक ही वियोग होता है । पुत्र वियोगका दु ख उसे होगा जिसके पुत्र हो । धन चोरी चले जानेका दुःख उसे होगा जिसे धनका सयोग हुआ हो । स्त्री पुरुषका सयोग ही सन्तान परम्पराका उत्पादक है जो द्रव्यरूप ससार है । तथा उनके सयोगके मूलहेतुभूत रागादि परिणाम हैं जो भावससारके उत्पादक है। पुत्र पौत्रादिकी अनुकूल प्रवृत्ति हो तो उनमे रागभाव वढता है । यदि प्रतिकूल प्रवृत्ति हो तो द्वेष वढता है । इस प्रकार इष्ट सयोग और अनिष्ट सयोग रागद्वेषके हेतु हैं और रागद्वेष ही हमे ससार परिभ्रमणके हेतुभूत हैं ।

कामके वशीभूत जीव मलमूत्रादि अपवित्र पदार्थोंसे उत्पन्न और उन्ही अपवित्र पदार्थोंके उत्पादक, शरीरके अगोकी जो यथार्थमे उनके लिए वाञ्छनीय नही हैं, वाञ्छा करता है । उनमे ही मोहित होता है । और उनके लिए अनेक प्रकारके दु ख उठानेको कटिवद्ध होता है । मरण जन्म पूर्वक

होता है। जन्म और मरण इनमे यदि विचार किया तो जिस जन्मका हम महोत्सव मनाते है वह उत्सव मनानेयोग्य नही है। जन्म ही तो मरणको आमत्रण देता है। जिसका जन्म नही उसका मरण भी नही। जन्मके बाद ही बाल्यावस्था, युवावस्था, जरावस्था और रोगितावस्था आदि अनेक अवस्थाओंके दु ख प्राप्त होते हैं। अत' जन्म दु ख परम्पराका कारण होनेसे इष्टरूप नही है। मरण इसलिये अनिष्ट और शोकोत्पादक नही है कि वह जन्मके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले सम्पूर्ण दु खोका अन्त स्वरूप है। उसके द्वारा जन्मका नाश हो जानेसे उस जन्म सम्बन्धी दु खोका भी नाश हो जाता है। मुक्ति प्राप्तिके लिए भी मरण ही हेतु है। जिस मरणसे केवल एक जन्म नष्ट होता है वह एक जोवन के दु खोसे छुटकारा करा देता है और जिस मरणके बाद जन्ममात्रका अभाव हो जाता है फिर जन्म धारण नही करना पडता वह श्रेष्ठ मरण परम महोत्सव है। इसीलिए जैन परम्परामे उस परम श्रेष्ठ मरणको (मोक्ष दिवस को) कल्याणकारी मानकर उसे परम पवित्र दिन माना जाता है। इस दिन शोक न मानकर परम हर्ष मनाते है।

श्री भगवान् महावीर स्वामीका निर्वाणदिवस दीपावली महोत्सवके रूप मे इसीलिए प्रतिवर्ष मनाया जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि भवधारण रूप जन्म ही जो काम वासनाकी पूर्तिसे उत्पन्न होता है, दु ख परपराका मूल हेतु है। इस प्रकार अपने विवेकसे विचार करके जो धीर वीर प्राणी अपनी आत्मशक्तिका अवलम्बन कर कभी भी कामोपसेवनमे तत्पर नहीं होता, स्वप्नमे भी स्त्री या पुरुष सयोगकी इच्छा नही करता वही ब्रह्मचारी है।

भोगोपभोगोमे कामभोग प्रधान है। उसका त्याग करनेसे भोगोपभोग परिमाण व्रतमे उन्नति होती है। विषयभोगोके लिए तथा पुत्र पौत्रादिके लिए लोग परिग्रह का सञ्चय करते है। कामभोगका त्याग करनेपर न सतानकी वृद्धि होती है और न वह व्यक्ति अधिक परिग्रहका ही सचय करता है। परिग्रह पाप मूल है। उसकी कमोसे पाप को हीनता स्वय हो जाती है। इसलिए ब्रह्मव्रतको स्वीकार करना ही चाहिए।

सप्तम प्रतिमा धारण करनेवाले को ससार परिभ्रमणसे भीरुता और वैराग्य हो जाता है। सवेग और वैराग्य ही कर्म निर्जराके हेतु हैं। मुनिव्रत स्वीकार करनेके लिए ब्रह्मचर्य व्रत मूलभूत है। बिना ब्रह्मचर्यके मुनि पदके योग्य व्रत रूपी अकुर उत्पन्न नही होता। अत सर्व प्रकारके प्रयत्नसे १८००० शीलव्रतके सम्पादक ब्रह्मचर्य व्रतका स्वीकार करना श्रेष्ठ है। यही सप्तम प्रतिमाका व्रत है।

ब्रह्मचारी पुरुष अपना रहन सहन सादा रखे, भोजन सादा करे, गरिष्ठ आहार जैसे बादाम पिश्ता आदिका सेवन तथा रसायन आदि औषधियोका सेवन न करे, मावा या उसके बने हुए विविध पक्वान्नादि उसके लिए त्याज्य हैं। वृष्येष्टरस त्याग ब्रह्मचर्यकी भावना मे परिगणित हैं। अर्थात् अपनी सदा भावना ऐसी रखे कि मै सादा सात्त्विक भोजन करूँगा। पुष्टकर और कामोद्दीपक भोजन नही करूँगा। जो ऐसी भावना रखेगा वही ब्रह्मचर्य प्रतिमाका पालन कर सकेगा। कामोत्तेजक पदार्थोंके सेवनसे शरीरमे कामका विकार जागृत होगा और ऐसी स्थितिमे साक्षात् व्रतका कठोरतासे पालन करते हुए भी स्वप्नादि दशामे व्रत भग हो जानेकी सम्भावना होती है। अत ऐसे रसोका सेवन ब्रह्मचर्य व्रतका घातक होनेसे व्रतीके लिए दोषास्पद है। भोगोमे लम्पटताका सूचक होनेसे ऐसा भोजन ग्रहण करना भोगोपभोग व्रतका भी अतिचार है। अत ऐसे पदार्थोंका सेवन दूषित है, अत सेवन न करें। ब्रह्मचारी सादे श्वेत वस्त्र धारण करे। कही कही शास्त्रोमे भगवा वस्त्रका भी वर्णन है पर भगवा वस्त्र

अन्य साधुओ द्वारा भी परिगृहीत है, अत जैन ब्रह्मचारीकी पहिचान उनसे नही होती, अतः जहाँ तक हो श्वेत वस्त्र ग्रहण करना उपयुक्त है, तथापि यदि कोई भगवा वस्त्र ग्रहण करे तो वह शास्त्रविरुद्ध नही है।

विविध फैशनोके वस्त्रादि पदार्थोंका त्यागकर लँगोट, धोती, सादा कुरता या बिना सिला हुआ चादर आदि पास रखना चाहिये। सिरके केश या तो मुडन कराना उचित है, या सादे बाल रखना उचित है। डाढी, मूँछ रखनेकी आवश्यकता नही हैं। सुगधित तेल इत्र तथा अन्य ऐसे सुगधित पुष्पमाला आदि पदार्थोका ग्रहण भी वर्जित हैं। पशु, स्त्री तथा पुरुष आदिके कधो पर चलनेवाली सवारीका कदाचित् भी उपयोग न करे। सिनेमा, नाटक, खेल, तमाशे जिनमे ब्रह्मचर्यको दूषित करनेवाले चित्र हो या अभिनय हो न देखे। ऐसे चित्रपट भी अपने पास न रखे, न अपने आवास स्थानमे लगावे। ऊनी, रेशमी वस्त्र तथा चमडेकी चीजोका उपयोग तो व्रत प्रतिमासे ही त्याज्य है। रेशम यद्यपि स्वय अशुद्ध नही है तथापि उसकी प्राप्तिमे रेशमके कीडोका घात होता है, अत हिंसामूलक होनेसे अहिंसाणुव्रतीको ग्राह्य नही है। ऊन वालोसे बनता है जो स्वय देहका अपवित्र अग है तथा अनेक त्रसोकी उत्पत्तिके लिए योनिभूत है अत ग्राह्य नही है। जिस मृत पशुको स्पर्श करने पर स्नान किए बिना शुद्धि नही उसके मृत चर्मको स्पर्श करनेपर भी वही दोष प्राप्त होता है। अत उसके जूता पहिनना या उन जूतोको पहिनकर लाई गई भोजनादि सामग्रीका उपयोग करना वर्जित है।

नियमित परिसख्यात वस्त्र और अन्य अल्प परिग्रहका ग्रहण ही ब्रह्मचारीके लिए श्रेयस्कर है। यह प्रतिमा वर्तमान युगके लिए अत्यन्त उपयोगी और जनकल्याणकारी है यदि प्रतिमा-पालक इसका सदुपयोग करें। यह ब्रह्मचारी अहिंसक व्यापार कर सकता है और अपनी आजीविका स्वय चला सकता है। शिक्षकीय कार्य, लेखन कार्य, (क्लर्क मुनीमी, पुस्तक लेखन, ग्रन्थ सम्पादन आदि) वैंकिंगका काम, अहिंसक मजदूरी तथा वाणिज्य आदि कार्य कर सकता है। यदि कुछ रुपया अपने पास हो तो अल्प व्याज पर (जिससे कर्जदारको आन्तरिक कष्टका अनुभव न हो) दिया जासकता है।

जुआ-सट्टा-लाटरी आदि कार्य प्रत्यक्षसे हिंसाकारक प्रतीत न होने पर भी अनेक अनर्थो व पापो के उत्पादक है अत ये व्रतीमात्रको प्रारभ से ही ग्राह्य नही है।

इस प्रतिमाका धारी यदि गृहत्यागी नही है तो उद्योगसे अर्थात् सेवा-कृषि-वाणिज्य-लेखन आदिसे द्रव्योपार्जनकर अपनी आयसे आजीविका चलाकर पराश्रित न हो, भिक्षाटन न करे, दानस्वरूप द्रव्य न लेवे, यदि उसे प्रीति और पदके योग्य सम्मानपूर्वक कोई दे तो मात्रआहार ले सकता है। जिसने गृहका त्याग कर दिया है वह गाँव-गाँव जाकर जनताको धर्मोपदेश सरलतासे दे सकता है। गृहत्यागके कारण यदि अपने कुटुम्बवर्गसे सहायता लेनी व देनी छोड दी हैं तब वह केवल धर्मसाधन करने और धर्म प्रचार करनेका कर्म करे। ऐसी अवस्थामे जो उसका साधारण व्यय है उसे यदि गृहस्थ वहन करे तो उसे स्वीकार करनेमे कोई दोष नही है।

आरभत्याग आठवी प्रतिमामे होता है। सातवी प्रतिमावाला गृहविरक्त श्रावक रसोई बनाना आदि आरम्भका त्यागी नही है। उसे चाहिए कि अपने पास योग्य अन्नादि सामग्री रखे व भोजन वना सकने योग्य वर्तन रखे। किसी भी स्थान पर धर्मोपदेश देने जाय, तो उस ग्रामके बन्धुओसे निमत्रणकी न प्रेरणा करे और न अपेक्षा करे। कोई अत्यन्त धर्म प्रीतिसे आमत्रण दे तो उसे स्वीकार कर ले। उसे विभिन्न प्रकारके भोजनोको तैयार करनेके लिए बाध्य न करे। जिह्वा इन्द्रियको वशमे रखकर उदर पूरणमात्रके लिए सदा अल्पमूल्यका आहार ग्रहण करे। यदि कोई प्रीति पूर्वक आमत्रण न करे तो स्वय

भोजन वनाकर करे और धर्मस्नेह पूर्वक अपना कल्याण समझकर धर्मोपदेश तथा धर्म प्रभावनाके कार्य करे।

ब्रह्मचारी यह अनुभव कभी न करे कि हम धर्मोपदेश देकर जनताका उपकार करते हैं, अत हमारे प्रति इनको कृतज्ञ होना चाहिए। विना किसी लौकिक वाछाके दिया गया धर्मोपदेश कल्पवृक्षके समान उन्नतिके पद पर पहुँचा देता है। इसके विपरीत धनलाभ, वस्तूलाभ, भोजनलाभ, वस्त्रलाभ, कीर्तिलाभ आदि किसी प्रयोजनके निमित्त किया गया उपदेश उपदेश नही मात्र आजीविका है।

इस प्रकारके परमार्थसेवी ब्रह्मचारियोकी सेवा ही समाज को उन्नत वनानेमे समर्थ है। पूर्वकालमे यह कार्य तपस्वी साधुओ द्वारा होता था। कालकी हीनतासे दि० जैन मुनियोका प्राय अभावसा हो गया। श्रावको का स्वय का खान पान शुद्ध न होनेसे साधुओकी चर्या कठिन हो गयी। यदि कदाचित् साधुओका क्वचित् विहार होता है तो चर्याहेतु शुद्ध आहार खास तौर पर बनाना पडता है जिससे उद्दिष्टाहार का दोष साधुओको प्राप्त होता हैं। यह दोष श्रावकाश्रित है अत· श्रावकके निमित्तसे आज-कल मुनिधर्मको दोष प्राप्त होता है। निरारभी साधुके विहारमे कठिनता होनेसे अल्पारभी ब्रह्मचारी श्रावक ही यदि यत्र तत्र भ्रमण करें और धर्म प्रभावना करें तथा स्वाध्याय द्वारा स्वयको भी धर्मसे प्रभावित करें और अन्यको भी उपदेश दें तो धर्मकी बहुत बडी अभिवृद्धि तथा स्थिरता रह सकती है।

ब्रह्मचारीका पद उदासीनका पद है। उदासीनका अर्थ ससार व विषय भोगोसे विरक्त होना है, धर्म और धर्मसेवासे उदासीन होनेका नही। उससे 'उदासीन' तो मिथ्यादृष्टि होता है। सम्यग्दृष्टि तो धर्ममे धर्मके हेतु जुटानेमे, उसके कार्योमे तथा धर्मात्माओमे सदा सोत्साह रहता है। अत प्रीतिपूर्वक पालन करना चाहिये।

अपने व्रतको अक्षुण्ण रखनेके लिए कुछ और भी विचार आवश्यक है। १—स्त्रियोंके निवासस्थल पर निवास न करे। २—उनसे प्रेमालाप न करे। ३—उनका बार-बार निरीक्षण न करे। ४—सगीतादि का श्रवण न करे। ५—धार्मिक उत्सवोको छोडकर बाजार व मेले-ठेलेमे न घूमे। ६—किसीके शृगारादिका अवलोकन राग भावसे न करे। ७—स्वय किसी प्रकारका शृगारादि न करे। ८—स्त्री पुरुषोके द्वारा उपयोगमे लाए जानेवाले वस्त्र, आसन और शय्या आदिको स्वय उपयोगमे न लावे। ९—भूलकर भी कभी कामकथा न करे। १०—भोगे हुए भोगोका न चिन्तवन करे और न कथन करे। ११-साबुन, और उबटन आदिका उपयोग न करे। १२—अत्यन्त कोमल शय्या तथा पलग आदि पर शयनासन न करे। १३—नेत्रोमे शौकसे अजन लगाना आदि कार्य न करे। १४—अपने वस्त्र अपने आप धोवे। १५—अपने काम आप करे अन्यसे न करावे। १६—किसी पुरुषके साथ भी एक शय्या पर न सोवे। १८—हास्यके वचन, शृगारके वचन तथा व्यग कथानक आदि न करे। इत्यादि अनेक प्रकारके कामके विकारको बढाने वाले या विकारजन्य कार्य या चेष्टाएँ व्रतको भग करनेवाली हैं अत उनका सदा परिहार करे।

सामान्यत ब्रह्मचारीके पांच भेद हैं १—ब्रह्मचर्य सहित विद्याभ्यासी उपनय ब्रह्मचारी। २—अदीक्षा ब्रह्मचारी जो ब्रह्मचारीका भेष धरे बिना ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याभ्यास करता है। ३—क्षुल्लक वेषमे ब्रह्मचर्य धर विद्या पढे वह अवलव ब्रह्मचारी है। ४—मुनि वेष धर ब्रह्मचर्यसे रहे और विद्या पढे वह गूढ ब्रह्मचारी है। ये चारो ब्रह्मचारी बाल्यावस्थामे विद्याभ्यास मात्रके लिये व्रती हैं। विद्याभ्यास समाप्त होने पर ये सब विवाह भी करते है पर पाचवाँ भेद नैष्ठिक ब्रह्मचारीका है। जो सप्तम प्रतिमा धारण करता है वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी है। इस प्रसंगमे इसीकी चर्चा है अन्य चार प्रकारके ब्रह्मचारियोकी नही।

प्राप्त हो जाय तो केवल उसीसे निर्वाह कर लेगा अथवा कच्ची दाल पानीमे फुलाकर खायेगा या सूखे मेवादि मोल लेकर जल प्राप्तिकी अवस्थामे खाकर निर्वाह करेगा। ऐसा करना उसकी प्रतिमामे त्याज्य नही हैं। कदाचित् प्रासुक जलकी प्राप्ति न हो सके तब वह उक्त प्रकारके भोजन पानसे भी वञ्चित रहेगा पर स्वय जल निकालने या प्रासुक करनेका आरभ नही करेगा। कारित अनुमोदना का यह त्यागी नही है—अत अपने हाथ से किसीको प्रेरणाकर आहारकी अपनी व्यवस्थाको बना सकता है अथवा निमत्रण दे तो उसे स्वीकार कर लेता है।

इस प्रतिमाकी आराधनामे उसे विशेष कष्टका अनुभव होगा तथापि वह साहसी पुरुष स्वपौरुषसे ही उस पर विजयी होगा। उसने अपनी पूर्व प्रतिमाओमे भोगोपभोगोको कृश करके, पर्वमे सर्वारम्भ का त्यागकर क्षुधा, तृषा तथा लोभादि पर विजय प्राप्त करके, नित्य समता भावका अभ्यास करके, ब्रह्मचर्यको स्वीकार कर तथा कुटुंबादि सबधी मोह और उनके सहारेका त्याग करके अपने को इस योग्य बना लिया है कि वह शरीरमे भी इस प्रकार निस्पृह बना रहता है।

इस प्रतिमाका पालन सरल नही है। अपने पास धनके रहते हुए, सर्वसाधनोके रहते हुए स्वय पाकादि करनेकी सामर्थ्य रहते हुए भी वह स्वय कोई भोजनादिकी व्यवस्था नही करता है। भोजन न करके क्षुधादि पर विजय प्राप्त करना, चित्तको म्लान न करना, ममता-परिणामोकी वृद्धि करना व लौकिक कार्यो पर विजय प्राप्तिका महोत्सव मानना इस प्रतिमावाले महापुरुषकी विशेषता है।

अष्टम प्रतिमावाला या तो गृहत्याग कर देता है और यदि घरमे रहता भी है तो पर-घरकी तरह। वह उसे अपना घर और अपने कुटुबको अपना कुटु ब मानकर वहाँ नही रहता। हाँ कुटु बके प्रति किंचिन्मोहके कारण वहाँ ठहरा है वह भी अपने स्वार्थकी पूर्ति हेतु नही, किन्तु अन्तरगमे जो परिग्रह और कुटु बजनोके प्रति रागाश है उसके कारण रह रहा है।

अपने घरमे भी अपने लिए एकान्त स्थल चुनकर और वहाँ ही रहकर स्वाध्याय और सामायिकमे अपना समय व्यतीत करता है। अथवा उक्त उद्देश्यको सामने रखकर चैत्यालय या धर्मशाला आदि निरुपद्रव स्थानका ग्रहण करता है। प्रासुक जल प्राप्त होनेपर यद्वा तद्वा शुद्धि मात्रके लिए स्नान करता है। नित्य देववन्दना, स्तुति, सामायिक, जप और स्वाध्याय पूर्वक धर्मध्यानसे समय व्यतीत करता है। आरभके अभावमे प्रासुक द्रव्य द्वारा द्रव्य पूजन और प्रासुक द्रव्यके अभावमे केवल भाव पूजन करता है। भोजनके समय यदि कोई बुलाने आवे अथवा प्रभात कालके समय आमन्त्रित करे तो स्वीकार कर लेता है। पर स्वय किसीसे भोजन हेतु प्रार्थना नही करता। इस प्रतिमासे भोजनादिकी व्यवस्था बहुत कुछ अशोमे श्रावकोके आधीन हो जाती है। स्वाधीन व्यवस्था भग हो जाती है। इसका यह अर्थ नही है कि ऐसी पराधीनता स्वीकार करनेसे तो स्वाधीन रहना अच्छा है। यथार्थमे भोजन की आधीनता ही पराधीनता है। रागादिकी प्रबलताके कारण ही हम आरभका त्याग नही कर पाते। पर को पर और स्व को स्व जानकर भी हम स्वेच्छासे मोहके कारण व अपनी कायरताके कारण पर पदार्थका आश्रय पकडते थे। अब मोह का बहुत अशोमे त्याग हुआ, जिसकी यह परीक्षा है कि वह स्वेच्छया अपने लिए आरभ नही करता। स्वेच्छया आरभ करनेवाले पुरुष अपनी रसनादि इन्द्रियो के भी दास हैं। वे अपना इच्छाओको रोकनेमे समर्थ नही, अत मनमाने व्यञ्जनादि भी बनाकर कभी खा लेते हैं। इस प्रतिमावाला पर घर या स्वगृह पर जब कोई आमन्त्रित कर ले जाय और जो कुछ आहार दे दे उसे ही सन्तोष पूर्वक उदरपूर्त्यर्थ ग्रहण कर लेता है। चाहे वह नीरस हो, बेस्वाद हो, प्रकृतिके अनुकूल हो या न हो, उसके निमित्तसे चित्तमे कोई सकल्प विकल्प नही लाता। इस तरहसे शरीर तथा

भोगेच्छासे ममत्वका त्याग इस प्रतिमामे प्राप्त हो जाता है जो कि मुनिपदके लिए अत्यावश्यक है। सप्तम प्रतिमासे ही मुनिपद योग्य व्रतोका प्रारभिक अभ्यास प्रारभ हो गया है जो क्रमश' वृद्धिके हेतु अष्टमी प्रतिमामे इस रूपमे आया है।

यह व्रती प्राप्त अर्थमे न्यूनता करने व कौटुम्बिक मोहके छोडनेके अर्थ अपना गृहाश्रम का भार अपने पुत्रादिकोको सौप देता है। स्वयं व्यापार, खेती और शिल्प आदि क्षत्रियवृत्ति तथा अन्य सभी प्रकारकी लेखनादि कार्य द्वारा आजीविकाका त्याग कर देता है। अर्थलिप्साका यहाँ अभाव हुआ। साथ ही अन्नादिका कूटना, पीसना, पानी भरना, आग जलाना, हवा करना, वनस्पति छेदना, भूमि खोदना, घर बनाना, उसकी स्वच्छता करना, रग करना, सफेदी करना, झारना-बुहारना, वस्त्रादिकोमे साबुन आदि लगाना, शरीर पर साबुन आदि द्रव्योका प्रयोग करना, बाग बगीचा लगवाना, गर्मी लगने पर स्वय पखा चलाना और बिजलीके पखोका प्रयोग करना आदि आरभोका त्याग कर देता है।

यह अल्प सादे स्वच्छ वस्त्रोका उपयोग करता है। प्रासुक जलसे अपने वस्त्र स्वय निचोड लेता है। अपने भोजनके वर्तन यत्नाचार पूर्वक स्वय स्वच्छ कर प्रासुक जलसे धो लेता है। यदि दूसरा व्यक्ति भी उसकी उक्त सेवाओको करना चाहे तो निषेध नही। तथापि यह ध्यान रखता है कि असयमी पुरुष मेरे लिए उक्त कार्य अप्रासुक जलादिसे व सोडा साबुन आदि अन्य द्रव्योके उपयोगसे तो नही करते। यदि करते हो तो वह ऐसी सेवा उनसे न करायगा, स्वय वस्त्र धो लेगा। वस्त्र मलीन हो जाने-पर अन्य वस्त्र स्वीकार करेगा।

ग्रामान्तरमे जाने हेतु जहाँतक सभव होगा निर्जीव सवारियोका भी कम उपयोग करेगा। सवारी पर चलना आरभ ही है। उसके उपयोगसे आरभ जनित दोप लगता है। अत इस प्रतिमासे ही सवारी-के उपयोगका त्याग आरभ हो जाता है। जहाँ घोर जगल है, जन निवास नही है अथवा बडा भारी जलाशय लाघनेकी जरूरत आ पडे वहाँ पर निर्जीव सवारोका उपयोग यदि करना ही पडे तो जो सवारी खास अपने लिए ही किसीको न चलाना पडे ऐसे रेल, वायुयान, मोटर सर्विस आदिसे ही गमनागमन करना अल्पदोषाधायक होगा, ऐसी टीकाकार की समझ है। सामान्यत सदा ऐसी भी सवारीका उपयोग नही करना चाहिए। पूर्व मे तृतीय प्रतिमावालेको भी अपने सामायिककी क्रियाको साधनेके निमित्त उस कालमे सवारीके उपयोगका निषेध किया था, यहाँ आरभत्यागके अभिप्रायसे सामायिकके बाहरके कालमे भी यथासम्भव सवारीके उपयोग न करनेकी बात कही गई है।

उक्त प्रकारसे अपना निर्वाह करता हुआ सर्वारम्भका त्यागी पुरुष शरीरसे भी निर्ममत्व परिणाम हो कर अष्टमी प्रतिमाका आराधन करता है।२०८।

परिग्रहपरित्यागचिह्नं मे शान्तये वद।

गुरुदेव! परिग्रह त्याग नामक नवमी प्रतिमाका स्वरूप शान्ति प्राप्तिके हेतु मुझे बताइए—

(वसन्ततिलका)

अन्यत्र पात्रवसनादिकतः समस्त
द्रव्यं विहाय भवदं विपमं व्यथादम्॥

शुद्धेऽचले निजपदे निवसेत् सदा यो
ज्ञेयः परिग्रहविवर्जितधीः कृती सः ॥२०९॥

अन्यत्रेत्यादिः—परिग्रहत्यागप्रतिमाया पात्रवसनाभ्या विना अन्य सर्व धनधान्यादिक दशप्रकारको वहिरङ्गो मिथ्यात्वकषायवेदादिकश्च चतुर्दशप्रकारकोऽन्तरङ्गपरिग्रह परित्यजनीय यत परिग्रह एव सदैव भवभ्रमणकारणम्भवति । मिथ्यात्वपरिग्रहेण योऽनादित एव संसारचक्रे बम्भ्रमीति । कषायादिनैव धनधान्यादिसञ्चय करोति । वेदादिनैव मैथुनसज्ञामवाप्य नानानर्थानुत्पादयति अतो यो नानादु खप्रद पारस्परिकविषमताहेतुभूत परिग्रह विहाय निष्परिग्रहत्वमालम्बते स परिग्रहत्यागव्रती कथ्यते । एषोऽपि स्त्रीपुत्रादिममत्वमुत्सृज्य निर्ममतामापन्न गृहे तिष्ठन्नपि वैराग्यमालम्बते । कौपीनं अधोवस्त्र उत्तरीय शिरश्छादन अन्यदपि सस्तरादिक अल्पपरिमाणेन वस्त्र तथा भोजनार्थं शौचार्थञ्च द्वित्रिपात्रमात्रञ्च स्वीकरोति । अन्यत् सर्वं धन धान्य सुवर्णरूप्य नानाभरण शृगारादिकञ्च परिहरति । अष्टमीप्रतिमायान्तु आरभत्यागे कृतेऽपि धनादीनामपरित्याग , अत्र तु तत्त्याग क्रियते । अयमपि प्रासुकजलेन शुद्धिमात्र विधाय केवलभावपूजा करोति । न द्रव्यपूजात्र विहिता, द्रव्यस्य परित्यागात् । केनाप्यर्थित सदाशयेनामन्त्रितश्च भुञ्जीत । स्वगृहभार पूर्णतया पुत्रादिषु निक्षिप्य स्वय तद्भार भारवत्समुत्सृज्य निर्भरभर परावलम्बनेन मुक्त स्वेऽचले शुद्धे स्वभावे वसति स एव बुद्धिमान् नवमप्रतिमापालने समर्थ ।२०९।

परिग्रह त्याग प्रतिमावान् अब अपने द्वारा परिगृहीत परिग्रहको मुर्देके शृगारकी तरह व्यर्थ समझता है अत उसके त्यागकी ओर प्रवृत्त होता है। उसे यह अनुभव होने लगता है कि मैं ब्रह्मचारी हूँ, स्त्री पुत्रादि कुटुम्बी अपने-अपने आत्माके व अपने-अपने पुण्य पापके स्वय स्वामी हैं। मुझे पहिनने के दो चार वस्त्र और शौचादि निमित्त अथवा भोजनादि निमित्त १-२ वर्तनोंके सिवाय अन्य परिग्रह का कोई उपयोग अपने लिये नही ज्ञात होता। तब इस भारको कब तक सिर पर रखे रहूँ। वह ऐसा विचार करता है। वह यह भी देखता है कि पुत्रादि जन उस परिग्रहके आकाक्षी हैं। उन्हे उसकी आवश्यकता है। मुझे वह भाररूप है। उपयोगमे आता नही, रक्षाकी चिन्ता और साथमे लगी है। तब वह अपने पुत्रादिको अन्य कुटुम्बवर्ग या अन्य साधर्मीजन पुरजन या परिजनके समक्ष बुलाकर विधिवत् उन्हे गृह भार सौप देता है और स्वय अपनेको उस परिग्रहसे मुक्त कर लेता है।

व्यापारके लेन देनमे, गृह कार्योंमे, पुत्रादिके विवाह आदिमे, सबधियोके व्यवहार आदिमे, तथा अन्य सासारिक कार्योंमे, वह भाग नही लेता। न उनके अधिकारियोको उसके लिए कोई प्रेरणा करता है। यदि कोई उत्तराधिकारी इस प्रतिमाधारीसे इन कार्योंमे सम्मति माँगे और अपना अभिप्राय और उद्देश्य प्रकट करे तो उसकी उचितता और अनुचितताको प्रतिपादन करनेवाली अनुमति देता है। इतना मोह उसे शेष है। प्रेरणा फिर भी नही करता। अपनी सम्मत्यनुसार यदि पुत्रादि कार्य न करें तो अपने चित्त मे दुखी नही होता। उन्हे आर्थिक हानि लाभ होने पर शोक या हर्ष नही मानता।

मोहके परित्यागके लिये यह अत्यावश्यक है। विना मोह त्यागके यदि कोई उक्त पदका अवलबन करे या आगेकी प्रतिमाओ पर अथवा मुनिपद पर आरोहण करे तो नियमसे उसे मार्गभ्रष्ट होना पडेगा। त्यागका यह क्रम उसे उस पवित्र स्थितिमे पहुँचा देता है, जिसकी आकाक्षासे वह इस मार्ग पर आया था।

वह खेत, जमीन, मकान, वाग, कुआँ, बावडी, सोना, चाँदी, मोती, माणिक, रुपया पैसा, नोट, चेक, हुडी, कपनियोके शेयर, वस्त्र, अन्य अनेक प्रकारकी व्यापारिक वस्तुएँ, शस्त्रास्त्र, गाडी, मोटर, साइकिल, तागा, घोड़ा, गाय, भैंस, बकरी, पक्षी, नौकर चाकर सेविकाएँ, अनेक धातुओंके वर्तन,

आभूषण, तथा काष्ठके धातुके अथवा अन्य पदार्थोके बने हुये सामानको परिग्रह मान कर परित्याग करता है।

वह इन बाह्य परिग्रहोंकी तरह इनके मूल कारणभूत मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ और नव नोकषाय ऐसे १४ प्रकारके अन्तरग परिग्रहोंको भी जो अनादिकालसे ही जीवके स्वभ्रमणके लिए तथा नाना प्रकारके पर पदार्थोके सन्चयके लिए अथवा कामादि विकारके उत्पादक होनेसे तन्निमित्त स्त्री आदिके ग्रहणरूप कायरताके लिए हेतुभूत है, त्याग देता है। इन आन्तरिक परिग्रहोके त्याग किए बिना बाह्य परिग्रहका त्याग संभव नही है। इनकी विद्यमानतासे बाह्य परिग्रहका सञ्चय स्वय हो जाता है। इस लिए अन्तरग परिग्रहका त्यागका क्रम ही प्रतिमा धारण है। प्रथम मिथ्यात्वका वमन कर सम्यग्दर्शनको स्वीकार किया था। तदनन्तर अभक्ष्य अन्याय रूप पदार्थों और कार्योंसे राग घटाया था। तदनन्तर क्रोधादि कषायो पर विजय पर विजय प्राप्त करनेके लिए अणुव्रत दिग्व्रत देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत आदिका तथा सामायिक आदि साम्यभाव पूर्वक व्रतोका आश्रय किया था। वेदकी वेदनाको दूर करने हेतु ब्रह्मचर्य धारण किया था। परिग्रहकी प्रीति घटाने और अपनी कायरता दूर करनेके लिए आरभ त्याग किया था। अब वह समय आ गया है जिसने आन्तरिक कषाय भावोकी न्यूनता होनेसे परिगृहीत परिग्रहके त्यागके लिए साहस उत्पन्न कर दिया।

नवम प्रतिमावाला अत्यन्त वैराग्यभावनासंपन्न होता हैं। परिग्रहको भारवत् समझता है। वह अपनेको उस भारसे मुक्त होनेके लिए आकुलित है। अपने शरीराच्छादन मात्रके हेतु सामान्यत लगोटी, धोती, ओढनेके एक दो वस्त्र और चटाई आदि पदार्थ ही अपने पास रखता है। शौचके लिए एक तथा भोजनादिके लिए १-२ वर्तन लोटा थाली गिलास आदि रखकर अन्य सबका त्याग कर देता है। अत्यल्पपरिग्रही होनेसे इसका नाम परिग्रहत्यागप्रतिमा है।

यह निष्परिग्रही प्रासुक जलसे शुद्धिमात्रके लिए यद्वा तद्वा स्नान करता है। नित्य देव वन्दना, स्तुति, सामायिक, जप और स्वाध्याय द्वारा ही अपने जीवनके क्षणोका सदुपयोग करता है। द्रव्यका त्याग होनेके कारण द्रव्यपूजा नही करके मात्र भाव पूजा करता है। जो परिग्रहमे आसक्त व रागी है उसे देव पूजनादि कार्योमे द्रव्यका उपयोग कर शुभरागकी ओर प्रवृत्ति करनेका उपदेश था। अब जब बाह्य द्रव्योमे ही राग घट गया तब द्रव्यके आधार पर शुभराग करनेका भी उपदेश नही रहा। अब जीवनमे वीतराग धर्मकी ही प्रधानता रहती है।

उक्त प्रकारका वीतरागी आमन्त्रित होने पर स्वयके या किसी दूसरे साधर्मीके यहाँ शुद्ध प्रासुक भोजन ग्रहण करता है। पर किसी को स्वय प्रेरणा नही करता तथा आगामी प्रतिमारोहणकी प्राप्तिकी अभिलाषा करता हुआ अपने गृहीत व्रतोंका परिपालन करता है। वह नवम प्रतिमाका धारी है ॥२०९॥

वदानुमतित्यागस्य किं चिह्नं वर्तते गुरो।

गुरुदेव! अनुमतित्याग नामक दशमी प्रतिमाका क्या स्वरूप है, कहिए—

(वसन्ततिलका)

संसारभोगविषये विषमे व्यथादे
लग्नादिकार्यकरणेऽनुमतिर्न यस्य।
वन्द्यः सतामनुमतेर्विरतः स धीरः
वास तनोतु सततं निजमन्दिरे सः ॥२१०॥

संसारेत्यादि :—दशमप्रतिमाराधक परिग्रहविषये आरभविषये विवाहादिके वा कदाचिदपि स्वानुमति न ददाति । मनोवच काय कृतकारितानुमोदनैरपि सर्वारम्भपरिग्रहत्याग सञ्जायतेऽत्र । केवलमल्पवस्त्रमात्रपरिग्रहोऽस्य। नवमप्रतिमावत् शुद्धिमात्रस्नान विधाय देववन्दनास्वाध्यायाध्ययनेषु समय यापयति । जिनचैत्यालयप्रदेशे स्वाध्यायरत त भोजनसमये य कश्चित् श्रावक समागत्य भोजनाय प्रार्थयति तस्यैव ग्रहे आहारग्रहण करोति स्वगृहे परगृहे वा । न स्वपरगृहयोरस्य कश्चिद्भेद । न च कस्यापि पक्षमोह । सर्वत्र समतापूर्णभावेनैव व्यवहारोऽस्य । स्वस्य पुत्रपौत्रादिकेभ्य कस्मिश्चिद् विषये याचितसम्मति कदाचिदपि न ददाति । तत्र हानि स्यात् लाभो वा, उभयत्र समभावस्तस्य । स्थानग्रहणे, शयने, आसने, वस्तुग्रहणे निक्षेपे च मृदुवस्त्रादिना प्रतिलेखनङ्करोति । गृहमोहत्यागात् स्वगोत्रजजन्ममरणसवन्ध्यशौच न तस्य भवति । न च भोजनात्प्राग्भोजनस्यामत्रण स्वीकरोति । तत्स्वीकरणे तस्यैव भोजनाद्यारभाय अनुमतिदानस्य स्याद्दोष । तस्मात् भिक्षावृत्तेरस्वीकारेऽपि भिक्षुवदेव तस्य वृत्ति । अनाहूते केनचित्स्यादुपवास । इत्येव कठिनव्रताराधनात् तस्य वैराग्यपरिणामाभिवृद्धे मुनिपदाधिष्ठानाय योग्यता सपद्यते ॥ २१० ॥

दशमी प्रतिमाधारी श्रावक परिग्रहके सञ्चयादिमे, गृहारम्भके कार्योमे व विवाहादि कार्योमे अपने कुटुम्बी जनोके द्वारा प्रार्थना किए जाने पर भी अपनी सम्मति नही देता । यही विशेष त्याग इस प्रतिमामे होता है । मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनासे इसे आरम्भ परिग्रहका त्याग है । मात्र दो तीन वस्त्रोंके व भोजन और शौच हेतु एक दो वर्तनोंके तथा शयनासनके हेतु चटाई आदिके अतिरिक्त अन्य कोई परिग्रह इसके पास नही है । इस प्रतिमामे नवम प्रतिमाके परिग्रहकी अपेक्षा और भी न्यूनता आ जाती है ।

यह गृह कुटुम्ब तथा धनादिसे विरक्त हो देव वन्दना, स्वाध्याय, सामायिक और जप आदि कार्योमे अपना समय लगाता है । किसी के द्वारा यदि भोजनके लिये आमन्त्रण दिया जाय तो उसे अपने लिए भोजन सम्बन्धी आरम्भकी अनुमतिका दोष मान कर स्वीकार नही करता तथापि भोजनके समय यदि कोई सज्जन, चाहे वे उसके अपने पूर्व गृहके हो, या किसी अन्य घरके श्रावक हो, बुलानेके लिये आकर भोजनकी प्रार्थना करें तो बिना किसी स्वपर भेदके समता बुद्धिपूर्वक भोजनके हेतु चला जाता है । स्वगृहका कोई पक्ष मोह उन्हे नही है । सब ही लोगोके साथ उसका समान व्यवहार है । न किसीसे राग विशेष है और न किसीसे बैर । शरीरसे भी मोह नही है तब अन्य वस्तुसे मोह होनेकी बात दूर ही है ।

यह अपने पास नरम वस्त्र आदिकी एक प्रतिलेखनी रखता है । मयूर पिच्छ तो ग्रहण करनेकी आज्ञा नही है तथापि कोई भी मृदु उपकरणसे प्रतिलेखन करके ही स्थान, शयन, आसन, अथवा किसी पदार्थके उठाने रखने आदिका वह अभ्यास करता है । जीव दयाकी उठी हुई भावना उसे ऐसा करनेको बाध्य करती है ।

भिक्षु सज्ञा प्राप्त न होने पर भी इसकी रुचि भिक्षुवत् ही है । इससे आगेका पद भिक्षुकका है । प्रकारान्तरसे यह पद भोजन प्राप्तिकी अपेक्षा भिक्षुके पदसे भी कठिन है । भिक्षु तो भिक्षार्थ श्रावक गृह तक स्वय जाता है, पर यह धीर वीर स्वेच्छासे श्रावक घर नही जाता, बुलानेपर ही जाता है और यदि कोई

उसे भोजनके समय न बुलावे तो सतोष रख कर उपवास ही करता है। इस प्रकार के कठोर व्रतका धारक अनुमतित्यागी दशम प्रतिमाधारी होता है। २१०।

उद्दिष्टाहारत्यागस्य किं चिह्नं क्षुल्लकस्य हि।

गुरु श्रेष्ठ। ग्यारहवी उद्दिष्टत्याग प्रतिमामे क्षुल्लकका क्या स्वरूप है ? कृपया कहिए—

(वसन्ततिलका)

स्वीयेषु मातृपितृबन्धुजनेषु मोह-
मन्येषु क्लेशमथवा मनसा विहाय।
कौपीनखण्डवसनो गुरुपार्श्ववर्ती
स्यात् क्षुल्लक शुचिमनाः समताभिलाषी ॥२११॥

स्वीयेष्वित्यादिः—स्वीयेषु मातृपितृभ्रातृस्वसृमित्रकलत्रपुत्रपौत्रादिषु जनेषु **मनसा मोह विहाय** ममता परित्यज्य, **अथवान्येषु** स्वविरुद्धाचाराचारकेषु अमित्रनिन्दकवृथालोचकाकीर्तिकारकमिथ्याप्रवादप्रचारकेषु **क्लेश** ईर्ष्याद्वेपसक्लेशादिकञ्च परित्यज्य, गुरुपार्श्ववर्ती-नानासक्लेशरहितत्वेन स्वय शान्तिरूपं अन्येषामपि भवभीतित्रस्ताना शान्तिदायक विषयेच्छाविरहितत्वात् निरारम्भपरिग्रहत्वाच्च ज्ञानाराधनतपोनुष्ठानतत्पर दिगम्बर परमगुरु सप्राप्य **तत्पार्श्ववर्ती** तत्सन्निधावेव तिष्ठन्, **कौपीनखण्डवसनः**-कौपीनमात्र खण्डवसनञ्च धारयन् **शुचिमना समताभिलाषी क्षुल्लको भवति**। एकादशप्रतिमाया उद्दिष्टाहारत्यागरूपाया द्वौ भेदौ—क्षुल्लक ऐलकश्च। तयो प्रथमस्य क्षुल्लकस्येद स्वरूपमुक्तम्। अस्यामेव प्रतिमाया श्रावकस्य द्वादशव्रताना परिपूर्णता भवति। स क्षुल्लक कर्त्तर्या क्षुरेण वा निजमस्तकश्मश्र्वादीना केशान् दूरीकरोति। मासद्वये मासत्रये मासचतुष्टये वा यदाकदाचिल्लोचमपि कुर्यात् अभ्यासार्थम्। शौचोपकरण कमण्डलु प्रतिलेखनाय मयूरपिञ्छिका, मृदूपकरणमन्यद्वा गृह्णाति। भोजनपात्र चैक दधाति। भिक्षुकवत् श्रावकगृहमागत्य भक्तिपूर्वक तद्दत्तमाहार भुक्ते। रात्रौ एकान्ते सर्वाण्यपि वस्त्राणि परित्यज्य दिगम्बरसाधुवत् आत्मध्यान करोति। चतुर्ष्वपि पर्वदिनेषु नियमत उपवास करोति। ब्राह्मणे क्षत्रिये वैश्ये स्पर्शशूद्रेष्वपि च भवत्येतद् व्रतम्। क्षुल्लक खलु एकभिक्षानियम अनेकभिक्षानियमश्चेति भेदद्वयमापन्न। यस्त्वेकभिक्षानियम स तु दिगम्बरमुनिष्वाहाराय प्रस्थितेषु तदनन्तर भिक्षार्थमटति। क्वचिदपि एकस्मिन्नेव श्रावकगृहे यत्प्राप्तमन्न तदेव भुक्ते। वर्णत्रयक्षुल्लकानामेष एव विधिरिति केषाञ्चिद् ग्रन्थकाराणा मतम्। शूद्रवर्णक्षुल्लकास्त्वनेकभिक्षानियमा। तेऽपि अनुमुनि आहाराय गच्छन्ति। अनेकगृहेभ्य स्वभाजने अन्न यत्किञ्चिल्लब्ध तत्सर्वमेकत्रीकृत्य यत्रापि प्रासुकमम्भो लभेत तत्रैव भुञ्जन्ति। कैश्चिद्ग्रथकारैस्तु न कृत एष भेद। ते सामान्यतया चतुर्वर्णेष्वपि क्षुल्लकेषु उभौ भेदौ वर्णयन्ति। क्षुल्लको मौनपूर्वकमेव श्रावकगृहमागच्छति। मौनेनैव किञ्चित्काल क्षणमात्र वा तत्र बहिरेव स्थित्वा निर्गच्छति। एतदन्तरे यदि केनचित् श्रावकेण आहाराय प्रतिगृहीतस्तर्हि तत्रैव तिष्ठति। अन्यथान्यद्गृह गच्छति। धर्मलाभो भवतु इत्येवमाशीर्वचनमुच्चार्य अहमत्रागत इति सकेत प्रदाय अन्यत्र गच्छेत् इत्यपि केपाचिदाचार्याणमभिमतम्। प्रतिग्रहानन्तर श्रावकस्त उच्चासने विनिवेशयेत् अङ्घ्रिप्रक्षालनञ्च कुर्यात्। यथायोग्य सम्मानादिकं प्रदाय विनयेन मन शुद्धिपूर्वक कायशुद्धिपूर्वकञ्च आहारादिकमपि निर्दोषमस्ति इति सूचयेत्। एकादशमप्रतिमाराधकाय नवधाभक्तिअर्घ्यदानम् न करणीयमेतदपि आचार्यणाम् केषाञ्चिन्मतम्। अर्घ्यंप्रदेयमिति वर्तमानसमये केषाञ्चिदाचार्याणा पद्धतिर्वर्तते। परमश्रद्धया सन्तुष्टेन भक्तिवता ज्ञानवता च श्रावकेण धैर्यमालम्ब्य उदारचित्तेन स्वशक्त्यनुसार यद्दान नवधाभक्तिपूर्वक दीयते तदेव ग्राह्यम्भवति क्षुल्लकस्य नान्यथा। दत्तमेवविधमन्नं स्थित्वा स्वभाजने श्रावकप्रदत्तभाजने वा अत्ति। स्वाध्यायध्यानतत्पर स गुरुकुलेष्वेव वनेषु वसेत्। न तु क्षुल्लक स्वातत्र्यमर्हति। गुरोरभावे जिनमदिरे तीर्थकरप्रतिमासन्निधावेव व्रत प्रतिसाक्षिक धारयेत् तथा चैत्यालये वने वा समानाचारधारकै श्रावकै सह वसेत्।

स्वगुरूणा अन्यसधर्मणाञ्च यथायोग्यं सेवाञ्च कुर्यात् । तेषा हस्तपादादिमर्दन रुग्णावस्थाया असहायावस्थाया वा यत्र तत्र मलमूत्रश्लेष्मादिविसर्जने कृते तदपाकरण आर्षवाक्यश्रावणेन तेषा मन सक्लेशदूरीकरण समाधिसमये स्वस्वार्थहानावपि तेषा समाधिसाधन एवमनकेविध वैयावृत्य कुर्यात् । क्षुल्लकस्य एतदेव स्वरूपं सक्षेपत ॥ २११ ॥

ग्यारहवी प्रतिमाका नाम है उद्दिष्टत्याग प्रतिमा । इसके दो भेद हैं—प्रथमका नाम क्षुल्लक और दूसरे भेद का नाम है ऐलक । क्षुल्लक का अर्थ है छोटा और ऐलक का अर्थ है वडा । इनमेसे पहिले भेद क्षुल्लकके स्वरूपका वर्णन इस श्लोकमे आचार्य ने किया है ।

दशम प्रतिमाके बाद श्रावक इसे स्वीकार करता है तथा जो अन्य प्रतिमाधारी इस प्रतिमाको स्वीकार करना चाहता है वह अपने माता पिता भाई वहन स्त्री पुत्र मित्र आदि बधु वाववोंसे मोह ममताका त्याग करता है । अपने प्रतिकूल चलनेवाले, अपनी निन्दा करनेवाले, अकीर्ति मिथ्यापवाद करनेवाले, आलोचना करनेवाले अथवा विना कारण ही अपनी दुष्टतासे वैर करनेवाले शत्रुओमे द्वेष ईर्ष्या असूया आदि नही करता । सबको समान दृष्टिसे देखता है । वह विचार करता है कि अपने शुभाशुभ कर्मका फल ही जीव इस ससारमे भोगता है । यथार्थमे न कोई बधु है न कोई शत्रु है । राग द्वेष कषायोके वशीभूत होकर ही यह जीव स्वानुकूल वर्तन करनेवालो पर राग और प्रतिकूल चलनेवालो पर द्वेष करता है ।

इस सासारिक व्यवहारमे पचेन्द्रियोके विषयमे साधक या सहायक व्यक्ति या पदार्थ ही इष्ट मान लिए जाते हैं । जो भोगोपभोगमे वाधक हैं ऐसे व्यक्ति या पदार्थ अनिष्ट माने जाते हैं । सासारिक स्वार्थ केवल पचेन्द्रियोके विषय और क्रोधादि कषाये हैं । परमार्थसे विचार किया जाय तो आत्माके हितके ये दोनो विरोधी हैं । श्री दौलतरामजी कविने अपनी भाषा स्तुतिमे वहुत सुन्दर शब्दोमे लिखा है और भगवान्से प्रार्थना की है कि शत्रुओसे हम बच सकें यही आपसे हमारी इष्ट प्रार्थना है । जैसे—

आतमके अहित विषय कषाय, इनमे मेरी परणति न जाय ।
मैं रहूँ आपमे आप लीन, सो करहु होहु ज्यो निजाधीन ।

इस प्रतिमाधारीने इसका पूर्ण रहस्य समझ लिया है, अत न केवल प्रार्थना करता है बल्कि निजाधीन होनेके प्रयत्नमे सफलता की कोटिके समीप पहुँच जाता है । वह पर पदार्थ मात्रमे इष्ट या अनिष्ट कल्पना छोड़ चुका है । वह सतत प्रयत्नशील है कि किसी भी समय पचेन्द्रिय विषयोमे अथवा मान आदि कषायमे चित्त न जाय । मैं सदा अपने आपमे स्थिर रहूँ । अपने निर्विकार स्वरूप स्वभावसे कभी विचलित न हो जाऊँ । इसी महान प्रयत्नमे अपना समय व्यतीत करता है । यह उसका महा पुरुषार्थ है । इसी पुरुषार्थसे वह ससारके दु खरूप बधनोसे मुक्ति पायगा, यह उसका निश्चल दृढ विश्वास है ।

यथार्थमे पाचो ही इन्द्रिया ज्ञानके लिए साधनभूत हैं । यदि उनका उपयोग पदार्थके स्वरूपमात्र जाननेके लिए किया जाय तो कोई अनिष्ट नही है । यदि आप मिष्ठान्न खाते हैं तो उसे मीठा समझिए और कडवा पदार्थ खाते है तो आपकी जिह्वा उसे कडवा कहे, इसमे कोई पाप नही है, यह तो पदार्थके स्वरूपका निरूपण है । इतने ज्ञानमात्रसे कर्मबन्ध नही होता । वन्ध तब होता है जब हम कडवेके प्रति घृणा या द्वेष तथा मिष्ठान्नके ग्रहणके प्रति रागी हो उठते हैं, उसकी प्राप्तिके लिए स्वय भी अनेक कष्ट सहते हैं और दूसरोको भी कष्ट पहुँचाते हैं । उस मिष्ठान्नके रागके कारण जो हमने कष्ट उठाए अथवा दूसरोसे विरोध होनेके कारण जो कष्ट होगे उन सबही कष्टोका हेतु मिष्ठान्न का राग है । यदि वह न होता तो हम इन आपत्तियोको अपने पास न बुलाते, अत. यह सिद्ध हुआ कि राग दु ख परम्पराका मूल

कारण है। उससे जो सुख की कल्पना है वह तो क्षणमात्र है–पर उसकी प्राप्तिमे, उसके सरक्षणमे, उसके भोगमे, उसके परिपाकमें और उसकी प्राप्तिमे बाधा देनेवाले व्यक्तियोके साथ सघर्ष करने मे जो महान् कष्ट उठाने पडते है उनसे न केवल इसी जन्मके लिए किंतु जन्मान्तरके लिए भी दु:खी हो जाते है।

कुछ भाइयोको यह प्रश्न होता है कि संसार दु खमय ही है ऐसा एकान्त कथन उचित नही है। जैनाचार्यों द्वारा जहाँ अनेकान्त सिद्धान्तको अगीकार करनेका उपदेश दिया गया है, वही पर ससारको एकान्त दु खमय बताया जाय यह कथन अपने ही सिद्धान्तके विरुद्ध होनेसे उचित और न्यायसगत मालूम नही पडता। उदाहरणार्थ हम मिष्ठान्न खाते हैं, नाटक देखते हैं, सुगधित पुष्पोको सूघते हैं, सुन्दर गान सुनते हैं तथा कामभोग करते हैं। इन सब कार्योमे सुखका अनुभव होता है। ऐसा होते हुए भी हमे वे सुखरूप नही किन्तु दु खरूप ही है, ऐसा कथन मिथ्या है। जो बात प्रत्येक ससारी प्राणीके प्रत्यक्ष अनुभव गोचर है उसे मिथ्या कहना प्रत्यक्ष विरुद्ध होनेसे स्वय मिथ्या है। ऐसी स्थितिमे यह प्रश्न सहज ही होता है कि जैनाचार्योंने इतने महान् सुखदायक विषयोको मिथ्या समझ कर किसलिए कठोर तपस्याको अंगीकार किया और क्यो अन्य व्यक्तियोको भ्रममे डाला है। ऐसा करनेसे उन्हे क्या लाभ है और किस सिद्धिकी प्राप्ति होती है।

प्रश्न अवश्य विचारणीय है। कोई भी उपदेश कितना ही सुन्दर हो और लाभदायक हो पर जब तक वह अपने अनुभवसे लाभदायक प्रतीत न हो तब तक उसे कोई ग्रहण नही करना चाहता। यहाँ पर हमे अपने ज्ञान और सुखकी कोटिका विवेक पूर्वक विचार करना है। यह बात हम सक्षेपमे लिख चुके हैं कि इन्द्रियो द्वारा हमे ज्ञानकी प्राप्ति होती है। ये केवल ज्ञानसाधक हैं, सुख दु ख साधक नही। सुख और दु ख तो हम मानसिक कल्पना द्वारा करते हैं। मन विचारक है, वह स्वय पदार्थके इस रूपादिका ज्ञान नही करता। इन्द्रियो द्वारा प्राप्त ज्ञान सामग्रीका वह चर्वण करता है। दूसरोकी कमाई ही खाता है। स्वय कुछ नही कमाता। स्वय वह केवल कल्पनाके आकाशमे उडा करता है। भ्रम उसे ही होता है और सम्यग्ज्ञान भी उसे ही। वह जितना बाधक है उतना ही साधक भी है।

जब हम स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा पदार्थका स्पर्श करके शीत उष्ण, कोमल, कठोर आदि आठ स्पर्शो का ज्ञान प्राप्त करते हैं वहाँ मात्र ज्ञान तो हमारा है। अन्य पदार्थका सबध केवल शरीरके साथ ही है। जब हम काम भोग करते हैं तब भी स्त्री या पुरुषको शरीर स्पर्शका ज्ञान स्पर्शन इद्रियसे होता है इतना मात्र तो इद्रियका कार्य होनेसे वह तज्जन्य ज्ञान आत्मा भोगता है, बाकी शारीरिक सबध तो शरीरसे ही होता है। स्पर्श गुण आत्मा तक नही पहुँचता है। रसना द्वारा किया गया मिष्ठान्न भोजन उदर तक पहुँचता है, वह अनेक रसादि रूप परिणत होकर शरीरका अगभूत हो जाता है, अथवा मल मूत्र कफ पसेव आदि रूप होकर बाहिर निकल जाता है, आत्माके पास उसके एक भी परमाणुकी पहुँच नही है। आत्मा उसे भोग नही सकता, वह केवल उस मिष्टान्नमे होनेवाले रसज्ञानको भोगता है, रसको नही भोगता।

इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रियके द्वारा सुगधि, संगीत तथा विविध दृश्योके ज्ञानमात्रको आत्मा भोगता है। गध, गान और दृश्य या तो शरीरसे सबध करते है या जहाँके तहाँ उन्ही पदार्थोंमे सीमित रहते है। आत्मा अमूर्त होनेसे उसमे इन मूर्तिमान् पदार्थोका सयोग नही होता और न हो सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि वास्तवमे स्पर्श, रस, गध, वर्ण और शब्दरूप विषयके ज्ञान मात्रका भोक्ता आत्मा है। इन पदार्थोका भोक्ता त्रिकालमे भी नही है। यदि ये भोगे जायँ

तो पुद्गल द्रव्य उक्त गुणोसे रहित हो जाय। यह बात केवल आत्माके सम्बन्धमे ही नही, प्रत्येक द्रव्यके लिए है। यह जैनधर्मका अकाट्य सिद्धान्त है कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूपमे है अपने स्वरूपका परित्याग नही करता।

यहाँ एक उपप्रश्न हो सकता है कि जीव पुद्गलके सिवाय अन्य द्रव्य अपने रूपका त्याग नही करते यह मानना ठीक है, पर इन दो द्रव्योका तो परस्पर ऐसा सम्बन्ध अनादिसे है जिससे आत्मा अपने स्वभावका परित्याग कर विकृत हो रहा है। तब यह कहना कैसे सुसगत है कि वह अपने रूपका परित्याग नही करता।

इसका उत्तर यह है कि आत्मामे विकार परणति भी होती है, परतु वह पुद्गल कर्मके निमित्तसे होती है। तथापि वह परणति पुद्गल निमित्तजन्य होने पर भी पुद्गल रूप नही है। अपने गुणोका विकार अपनी आत्मामे होगा और पुद्गलमय विकार पुद्गलमे होगे। अर्थात् ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति अथवा क्षमा, विनय आदि गुण यदि कर्मके निमित्तसे विगडेंगे तो उनका उन्हीमे परिवर्तन होगा। मिथ्यात्वके सम्बन्धसे ज्ञान मिथ्याज्ञान होगा, सुख दु खरूप परिणत होगा, शक्ति स्वात्महित रूप न होकर अहित रूपमे परिणमन करेगी, क्षमा क्रोधरूप बन जायगी, विनय अहकारका रूप धारण कर लेगा। यह सब गुणोके विकार अवगुण बन जायँगे, पर पुद्गलके गुणोके रूपमे न बनेंगे। गुणोकी अवगुण रूप परणति परनिमित्तजन्य होनेसे विकृति है। यथार्थमे वह अपनी मर्यादाको छोडकर नही है। पुद्गल कभी क्रोध या अहकार रूप नही हो सकता, क्योकि क्षमादि शक्तियाँ उसमे नही है। अत इन गुणोके विकार भी उनमे नही हो सकते। रूप रसादिरूप अथवा कर्म नोकर्मरूप या परमाणु स्कन्धरूप, वर्ग वर्गणारूप परणति पुद्गलकी ही होगी, क्योकि वह उसके स्वभावकी विकृति है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव और पुद्गल परस्पर निमित्त नैमित्तिक भावको प्राप्त होकर भी अपने स्वरूपका परित्याग करके परिणमन नही करते किन्तु अपने लक्षणको अपनेमे रखते हुए ही विकृत होते हैं। अत यह सिद्ध है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूपका त्याग नही करता।

ऐसी स्थितिमे आत्मा अपने ज्ञान स्वरूपका त्यागकर विषय ग्रहणके समय विषय रूप नही हो सकता, अत वह विषयोका भोग नही कर सकता। वह केवल विषय जनित ज्ञानका ही भोक्ता है। सुख दु ख कर्मफलका भोक्ता मात्र व्यवहारसे कहा जाता है। परमार्थमे ऐसा है नही। श्री नेमिचद्राचार्यने द्रव्यसग्रह नामक छोटे निबधमे इस सबधमे जो लिखा है वह इस पूर्वोक्त कथनको प्रमाणित करता है। जैसे—

ववहारा सुहदुःख पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि।
आदा णिच्चयणयदो चेदणभावं खु आदस्स।

अर्थात् आत्मा सुख-दु ख रूप कर्म फलका भोक्ता है यह केवल व्यवहार कथन है। निश्चयनयसे तो वह अपने चैतन्य भावका ही भोक्ता है।

उक्त कथनसे यह सिद्ध है कि आत्मा प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा केवल पदार्थका ज्ञानमात्र करता है। उन पदार्थोमे जिन पर मनकी इष्ट कल्पना है उन्हे सुखदायक मानता है और जो उसे अच्छे नही लगते उन्हे अनिष्ट समझ दु खदायक मानता है। अर्थात् सुख दु खकी कल्पना मनके द्वारा हुई। वास्तवमे तो जीवने केवल पदार्थके ज्ञानका भोग किया है। वह उसका लक्षण या स्वरूप है, अत उसीके भोगनेमे वह

समर्थ है, अन्य पदार्थको भोगनेमें उसकी सामर्थ्य नही है, तथापि पदार्थको सुखदायक मानकर उसमे भ्रमवश इष्ट अनिष्ट कल्पना करता है। जो पदार्थ एकके लिए इष्ट है वही दूसरेके लिए अनिष्ट है। जो एक प्राणीके लिए अनिष्ट है, वही दूसरेके लिए इष्ट है। जैसे किसी व्यक्तिको मिर्च खानेकी आदत पड़ गई है, यद्यपि मिर्चका स्वाद चरपरा है फिर भी वह उसे इष्ट है। वही अन्य अनभ्यस्त पुरुषके लिए या बालकके लिए अनिष्ट है। इसी तरह जो पदार्थ किसी क्षेत्रमे इष्ट है वही उस व्यक्तिके लिए दूसरे क्षेत्रमे अनिष्ट रूप है। जैसे घर मे साधारण धोती या बडी पहिनना ही इष्ट है, पर सभा आदिमे जाने पर वह वेष-भूषा अनिष्ट है। जो पदार्थ किसी कालमे इष्ट है वही दूसरे कालमे अनिष्ट है। जैसे ग्रीष्मकालमे महीन वस्त्र इष्टकारक थे वे ही शीत ऋतुमे अनिष्टकारक हो जाते है। जो पदार्थ एक अवस्थामे इष्ट हैं दूसरी अवस्थामे अनिष्टकारक हो जाते हैं, जैसे जो दूध स्वस्थ अवस्थामे मीठा और इष्टकारक लगता है, पित्त ज्वरकी दशामे वही कडवा लगता है और अनिष्ट हो जाता है।

इस तरह द्रव्य क्षेत्र काल भावकी परिवर्तित अवस्थामे पदार्थ इष्ट और अनिष्ट रूप माने जाते हैं, जिन्हे एक बार सुखदायक माना जाता है उन्हे ही वह दूसरी बार दु खदायक मानने लगता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पदार्थोमे यदि सुखदायकत्व या दु खदायकत्व होता तो वे सदा प्रत्येक क्षेत्रमे और प्रत्येक अवस्थामे प्रत्येक प्राणीको सुखदायक ही रहते अथवा दु खदायक ही रहते पर ऐसा नही देखा जाता। अत पदार्थोमे सुख दु खकी कल्पना प्राणी स्वय करता है। मुख दु.खदातृत्व उनका स्वरूप नही है। तब उन पदार्थोमे मोह और ममता करने का क्या प्रयोजन है ?

अब रही सुख प्राप्तिकी बात सो हमे जो सुख ससारमे प्राप्त होता है वह वास्तवमे अपनी इच्छाकी पूर्तिमे होता है। अर्थात् जो इच्छा उत्पन्न हुई उससे ही हम दु खी हुए। जबतक उस इच्छाकी पूर्ति नही हुई तबतक दु ख रहेगा। ज्यो ही पूर्ति हुई कि सुखानुभाव हुआ। यथार्थमे हमारी इच्छारूप दु खके नाशसे सुखका जन्म हुआ है। अर्थात् जब हमको यह सतोष हो गया कि हमें अब उक्त पदार्थ नही चाहिए तब हम सुखका अनुभव करते हैं। साराश यह कि या तो हमें पदार्थ ज्ञानके अनुभवमे सुखका आभास मिला या सन्तोष उत्पन्न होने पर सुख मिला, पदार्थ से नही मिला। यह सुख क्षणस्थायी है, यह सन्तोष परपदार्थाधीन है, अतः इसे सुख रूप न कहकर दु खरूप ही आचार्योंने माना है। जो स्थायी है परनिमित्तजन्य नही है, स्वात्मोत्थ है, वह वास्तवमें सुख है। ससार दु:खकी न्यूनता मात्र है, अर्थात् कभी दु:खी प्राणीका दु:ख कम हो जाय तो उसमें सुख मानता है। जैसे एकके सिर पर एक मन बोझ लदा हुआ है, यदि वह बीस सेर कर दिया जाय तो वह सुखी हो जाय। वह बीस सेरका बोझ ऐसे मनुष्यके सिर पर रखा जाय जिसके सिर पर अभी कोई बोझ नही था तो वह उस बोझमें दु खका अनुभव करेगा। कारण इसका स्पष्ट है कि प्रथमका दु ख न्यून हुआ अत सुखी हुआ। दूसरेके दु ख-मात्रा बढी अत दु खी हुआ। बोझ दोनो पर बराबर है पर एक सु खी एक दु खी हुआ। अत दु:खकी न्यूनतामें सन्तोष उत्पन्न होनेसे, अथवा इच्छारूप महान् दु खकी न्यूनतासे, या पदार्थके ज्ञानका भोक्ता होनेसे सुखका अनुभव होता है, तथापि यह सुख अस्थायी है। मोहके कारण इच्छाओ की न्यूनता नही है, प्रति समय नवीन-नवीन इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। उनकी पूर्तिके हेतु अनेक पदार्थोंकी ओर यह दौड लगाता है, उनका सग्रह करता है, उनके सग्रहमें कष्ट उठाता है और सग्रह हो जाने पर रक्षाकी चिन्तामे दु ख उठाता है। उस सगृहीत पदार्थोमें अनेकोकी इष्ट कल्पना है, अत उसे प्राप्त करनेकी इच्छा करने वाले बहुत हैं। वे उसे ले न जाय अत अन्यसे सतर्क रहना पडता है। यदि वे लेने आवें, बाधा दें और

शक्तिका उपयोग करें तो उनके साथ सघर्ष करनेमें महान् दु ख उठाना पडता है। यदि उस सघर्पमें विजय नही हुई और वह सगृहीत परिग्रह छिन गया तो इष्टवियोगज महान् दु ख हो गया।

पर पदार्थ द्वारा इच्छापूर्ति कर सुख प्राप्तिकी अभिलाषा स्वप्नवत् है। ऐसा वस्तुका स्वरूप समझ कर जो बुद्धिमान् उन पदार्थोंसे मोह ममताका त्याग कर उनके विना भी अपने मनमें सन्तोष उत्पन्न कर लेते है वे ही परम सुखी हैं। वह स्वत्मोत्य सतोप सुख है। स्वजन्य ज्ञानका सुख है। पर निमित्तजन्य न होनेसे वह स्थायी है। उसीके प्रयत्नमे यह एकादश प्रतिमाधारी प्रयत्नशील है। अत जो थोडी सी कमजोरी शेष है उसके कारण मात्र एक लगोटी, एक खण्ड वस्त्र और एक भोजनपात्र बस इतना परिग्रह रखता है, शेप सब प्रकारके पदार्थोंसे उसने मोहका त्याग कर दिया है। कितना भी कष्टका अनुभव करना पडे वह उसमे सुखी है। पीछी कमण्डलु भी उसके पास होते है पर वे परिग्रह नही है, जीव रक्षा व शुद्धि के उपकरण मात्र हैं।

ग्यारहवी प्रतिमाके प्रथम भेद क्षुल्लक पद प्राप्तिकी जिन्हे इच्छा होती है वे ऐसे गुरुके पास जाते हैं जो स्वय ससार परिभ्रमणसे त्रस्त हैं और उससे उन्मुक्त होनेके लिये प्रयत्नशील है। स्वय आरम्भ परिग्रहसे विरक्त हो कर अशान्तिके वीजभूत मोहका त्याग कर चुके हैं। परम दिगम्बर मुद्राको धारण कर जो अपनी मुद्रा ही से स्वावलम्बनका पाठ पढ़ाते हैं। जो असतोष, शोक, ईर्ष्या, वैर, माया, ममता और घृणा आदिका कभी अनुभव नही करते। ऐसे शान्ति-सुखके प्रदायक स्वगुरुकी शरण मे जाकर अपने कल्याणका मार्ग उनसे पूछते हैं। उनके बताए हुए सन्मार्गको पूर्णरूपसे ग्रहण करनेमे असमर्थ होनेके कारण क्षुल्लक व्रतकी दीक्षा लेते हैं।

इस व्रतका धारी कतरनी या छुरा द्वारा अपने केवल मस्तक तथा दाढी मूछोके बालोको दूर करता है। इन्हे दूर कर लेनेका प्रमाण कमसे कम दो माह, मध्यम तीन माह और अधिकसे अधिक चार मास है, इससे अधिक काल तक केश रखनेसे जीवोत्पत्तिकी सभावना रहती है। यदि वह चाहे तो केशो-का लोच भी अपने हाथोसे कर लेता है। लोच करनेमे भस्मकी सहायता ले लेता है। भस्म लगाने पर बालोमे रूक्षता होनेसे पकडनेमे ठीक आजाते हैं, इतना मात्र प्रयोजन है। भस्मके सिवाय अन्य किसी ऐसी वस्तुका प्रयोग नही करता जो बालोके उत्पाटनमे सहायक हो। लोचक्रियाका प्रयोग इसलिए करता है कि कतरनी या क्षुराकी आवश्यकता भी न्यून हो जाय।

जब तक केशोत्पाटन या उनकी दूरीकरणक्रिया नही होती तब तक जो केश मस्तकपर रहते हैं उनका तेल आदिसे कोई सस्कार नही करता। दाढी या मूछोके बालोकी कोई साज सभाल नही करता। वे अपने स्वाभाविकरूपमे रहते हैं और उन्हे वैसे ही घासकी तरह उखाड देते हैं। चुल्लक अपने पास लगोट (कौपीन) तथा एक खण्ड वस्त्र रखता है। खण्ड वस्त्रसे यह तात्पर्य है कि जो वस्त्र अधिकसे अधिक तीन सवा तीन हाथ ही लम्बा हो और अधिक चौडा न हो। जिसे यदि ओढ कर सोया जाय तो साढे तीन हाथके पुरुष शरीरको पूरा न ढक सके। यदि पैर ढके हैं तो सिर और सिर ढाका जाय तो पैर उघाडे रह जाँय। यह इसलिए कि अपने अग्रिम प्रतिमाभेदमे ही वह इस परिग्रहसे भी अपनेको मुक्त कर लेना चाहता है। इसके पास एक कमडलु रहता है जो शौच क्रियाके लिये प्रासुक जल रखनेके प्रयोगमे आता है। मृदु वस्तु या चमारीकी पिच्छिका अथवा मयूर पिच्छिका द्वारा प्रतिलेखन करता है। प्रतिलेखनका अर्थ है जीव जन्तु जो प्रत्यक्षगोचर नही होते हैं या नेत्रकी कमजोरीके कारण नही दिखाई देते हैं उनकी रक्षा पूर्वक ही उठना, बैठना, आसन ग्रहण करना, वस्तुका उठाना रखना, मल मूत्र त्याग करना, यह व्रती उस मृदु पिच्छिकासे स्थानको स्वच्छ कर निर्जन्तु होने पर ही उपयोग मे लेता है।

आहार ग्रहणकी पद्धतिमे क्षुल्लक दो प्रकारके हैं। पहिला एक भिक्षानियम और दूसरा अनेक भिक्षानियम। श्रावकके एक ही घरमे जाकर वहाँ जो भिक्षान्न प्राप्त हो, उसे लेकर अपनी उदर पूर्ति करते हैं वे एकभिक्षानियम हैं। इनमे कोई एक भाजन (बर्तन) भोजनार्थ पास भी रखते है जो पीतल आदि साधारण धातुका हो और उसमे भोजन लेकर भोजन करते हैं। कोई बर्तन नही रखते श्रावक जिस बर्तनमे भोजन परोस दे उस बर्तनमे आहार कर लेते हैं।

अनेक भिक्षानियमवाले क्षुल्लक अपने पासके बर्तनमे एक दो तीन आदि घरोसे प्राप्त भिक्षान्न संग्रह कर लेते हैं। वे लेते उतना ही हैं जितनेमे उदर पूर्ति हो जाय, उससे अधिक नही। अपनी उदर पूर्तिके योग्य सग्रह होने पर किसी श्रावकके घर जहाँ भी प्रासुक जल प्राप्त हो जाय वहाँ बैठकर भोजन कर लेते है। सर्व प्रथम जो भिक्षान्न पात्रमे सगृहीत है उसे ग्रहण कर लेते है, यदि उतनेसे उदरपूर्ति नही होती तब इस अन्तिम गृहसे भिक्षान्न लेते हैं अथवा प्रासुक जल वहाँसे लेते है। ऐसा नही होता कि ये प्राप्तान्न यदि सामान्य है तो उसे छोडकर अन्य रसवान् अन्न दूसरी जगह प्राप्त होने पर उसे लेलें। अथवा पूर्व सगृहीत अन्नमेसे स्वादिष्ट भोजन ग्रहण कर शेष फेक दे। ऐसा करनेवाला व्रती अपने व्रतसे च्युत है। रसना इद्रियपर विजय प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही आरभत्याग प्रतिमामे परगृहका भोजन स्वीकार किया गया था। इसलिए नही कि घरमे द्रव्यकी हीनता है, इससे गृहारभ छोड कर पर घर स्वादिष्ट भोजन प्राप्त होगा, अत पर गृह भोजन किया जाय। ऐसा करनेवाला व्रती नही, पापी है। वह व्रतीके भेषमे अपनी आत्माको और दूसरोको ठगता है। उसने व्रती वेषको आजोविकाका साधन बना लिया है, यह इस वेषका उपयोग न केवल भोजन मात्रके लिए करता है अपि तु येन केन प्रकारेण भोले भक्तो व महिलाओसे अन्य प्रकार भी द्रव्य ठगने लगता है। ऐसा व्यक्ति व्रती नही, मिथ्या ही व्रतवेषी है। इसकी आत्मा ससार परिभ्रमण करेगी। कुयोनियोमे भ्रमण कर घर-घर उच्छिष्टान्नका भोजन करेगी। जो व्रत पूज्यपद मुनिव्रतके अभ्यासके हेतु है उसका उपयोग यदि भोजन प्राप्तिहेतु किसी अज्ञानीने किया है तो यथार्थमे उसने रत्नहार प्राप्तकर उसकी कीमत नही समझी और वह केवल हारमे मणियोको गूँथनेवाले सूत पर मोहित हो गया है, इसलिए मणियोको तोड कर फेंक देता है और उस सूतसे अपने फटे चिथडे वस्त्रोको सीकर उपयोगमे लारहा है। ऐसा व्यक्ति दयाका पात्र है। सुपात्रकी गणनामे गिनने योग्य नही। सुगुरु उसपर दया करें और उसे मार्ग पर लगावे।

ऐसे भेषीसे यदि भेंट हो तो श्रावकोको भी उससे घृणा न कर उसपर दया करनी चाहिए और उसे सन्मार्ग पर लानेका प्रयत्न करना चाहिए। श्रावक भी विवेकी हो तभी वह यह कार्य कर सकेगा। अविवेकी श्रावक उच्छृङ्खल व्यवहार कर उससे द्वेष करेगा और मार्ग पर न ला सकेगा। यदि विवेकी श्रावकोके प्रयत्न द्वारा वह सन्मार्ग पर न आवे तो उसे किसी सुगुरुके पास ले जाना चाहिए। वे उसे मार्ग पर अवश्य ले आनेमे समर्थ हो सकेंगे। यदि श्रावक तथा सुगुरु भी उसे मार्ग पर न ला सके, वह दोनोकी उपेक्षा कर दे तो श्रावकोका कर्त्तव्य है कि गुरुका आदेश पाकर उसके वेषको समाप्त कर उसे व्रती मानना छोड दें। व्रत पदके अनुकूल उसकी पूजा प्रतिष्ठा सम्मान आदि न करे। ऐसा करनेसे उसका वेष ग्रहण उसे निरर्थक जान पडेगा और अपनी ठगी वृत्तिमे सफलता न मिलनेसे या तो वह सन्मार्ग पर आवेगा या उस वेषका त्याग करेगा।

सम्यग्दर्शनके आठ अग हैं। नि शकित अग उसकी निर्भयता तथा जिनकथित तत्त्वोकी अटल-श्रद्धास्वरूप है। नि काक्षित अग–विषयोके प्रति विरागताका चिन्ह है। निर्विचिकित्सा–घृणा और द्वेषके अभाव-सूचक हैं तथा अमूढदृष्टि अग–मोहके अभावका प्रकाशक है। ये चार उसकी श्रद्धा तथा राग-

द्वेष-मोहके अभावकी सूचना देते हैं तथा उपगूहन, वात्सल्य स्थितीकरण और प्रभावना ये अन्तिम गुण हैं। व्रतसे च्युत होनेवाले व्यक्तिके साथ इन चारोका क्रमश उपयोग करना चाहिए। सर्व प्रथम तो उपगूहन अगका पालन करे। यह विचार करे कि पापोदयसे आत्मा व्रतादिकोमे शिथिल हो जाता है, अथवा अज्ञान या शारीरिक व मानसिक कमजोरीसे ऐसा होना सभव है, अत व्रतियोका अपवाद न हो इसलिए इसकी निन्दा करने या मात्र आलोचना करनेमे लाभ नही है, इसके अवगुण प्रकाशित नही करना चाहिए। इस प्रकार उपगूहन अगका पालन करनेमात्रसे यदि कार्य सिद्धि न हो तो भी उस व्यक्तिसे घृणा न कर उससे धर्मवात्सल्य कर वात्सल्य अगका पालन करे तथा वह व्यक्ति धर्ममे पुन स्थिर हो जाय इसका प्रयत्न कर स्थितिकरण अगका पालन करे। इस प्रकारसे कार्य करनेवाला व्यक्ति ही धर्मकी प्रभावनामे समर्थ होता है और प्रभावनागका पालक है। अवगुण छिपानेका अर्थ अवगुण और अवगुणीका पालना नही है और न वह उपगूहन अग है। छिपानेका तात्पर्य मात्र इतना है कि यदि किसी अज्ञानतासे या कर्मोदयसे कभी किसीसे पद विरुद्ध कार्य हो गया है तो निन्दात्मक पद्धतिसे वह दूर नही किया जा सकता। निन्दा, आलोचना और अपवाद, उसके सुधारके उपाय नही हैं। सुधारका सच्चा उपाय है उसे उसके पदकी महत्ता बताकर गिरनेसे बचाना। अपने दोषके जाननेवालेसे लज्जाशील व्यक्ति दबता है, उच्छृङ्खलता नही करता और इसीलिए उसकी इस वृत्तिका लाभ इस रूपमे उठाया जा सकता है कि उसे पुन उसके पदमे प्रतिष्ठित कर दे। उसे यह विश्वास हो जाता है कि अमुक व्यक्ति बहुत सज्जन है और मेरा हितैषी है, क्योकि मेरा दोष जानकर भी अपवाद न कर मुझे दोष दूर करनेकी सम्मति देता है और मेरी प्रतिष्ठाको बनाए रखनेके लिए प्रयत्नशील है। ऐसे विचारसे वह सन्मार्ग पर पुन आजाता है। यह बहुत बडी सेवा है। जिस महापुरुषसे वह बन सके वह पूज्य पुरुष है। प्रारम्भके चार अग उस सम्यग्दृष्टिकी व्यक्तिगत महत्ताके प्रतिपादक है और अन्तिम चार धर्मात्माओके प्रति उसके सद्व्यवहारको प्रकट करते हैं।

जो व्यक्ति प्रारम्भसे ही छद्मवेषी हैं व्रतकी आकाक्षासे इस मार्गपर नही आए। लज्जाशीलता जिनमे नही है। यहाँ लज्जाशीलताका अर्थ पाप करनेमे लज्जा आनेसे हैं, वह भूषण हैं। जो प्रयत्न करने पर भी सन्मार्ग पर नही आते। अपने दुराचारसे पदको लाक्षित करते हैं। जिन्हे मार्गपर लानेके सब उपाय व्यर्थ चले गये हो उन्हे बलात् उस पदसे अलगकर देना श्रेयस्कर और प्रभावनागका पोषक है। पर इसका प्रयोग करनेका अधिकार या तो दिगम्बर गुरुको है या उनके अभावमे विवेकपूर्वक क्रिया करनेवाले अन्य व्रती श्रावक सघको है।

जो ससार, देह और भोगोसे विरक्त होकर पाचो पापोसे उन्मुक्त होनेके लिए लालायित हैं, किन्तु शारीरिक और मानसिक कमजोरीके कारण उनसे अबतक छूटे नही है, छोडनेके लिए प्रयत्नशील हैं वे ही इस पद पर आसीन होते हैं। इस तरह एकभिक्षानियम और अनेकभिक्षानियम दोनो ही श्रावक इन्द्रिय विजयके पवित्र उद्देश्यको विस्मरण न करते हुए आहारकी वृत्तिको पूरा करते हैं। कुछ ग्रथकार ऐसा लिखते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और स्पर्शशूद्र ऐसे ४ वर्णके लोग इस पदको धारण कर सकते हैं। उनमे तीन वर्ण तो एकभिक्षानियमवाले होते हैं। कमडलु या भोजन हेतु बर्तन रखते हैं। जो अनेकभिक्षानियम हैं उसे स्पर्श शूद्र वर्णवाले धारण करते हैं। वे (लोहेका) कमडलु और भोजन पात्र रखते हैं। कई ग्रन्थकार सभी वर्णोके लिए दोनो प्रकारके एकसे नियम हैं ऐसा वर्णन करते हैं।

दोनो ही प्रकारके क्षुल्लक उद्दिष्टाहारके त्यागी हैं। इसलिए आहारके समय श्रावकोंके घर स्वय जाते हैं। वहा या तो मौन पूर्वक एक क्षण बाहिर खड़े हो जाते हैं अथवा धर्मलाभ हो ऐसा आशीर्वचन

कहकर निकल जाते हैं। इन दोनों अवस्थाओंमे क्षण एक वहाँ खडे रहनेसे तात्पर्य इस बातका है कि जो श्रावक गृहके भीतर है अथवा अन्य कार्य मे सलग्न है उसे उस भिक्षुके आनेका ज्ञान हो जाय। उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर भिक्षु फिर वहाँ बिना बुलाए नही ठहरता। श्रावक उन्हे देखकर प्रतिग्रह करता है, अर्थात् अपने गृह आनेकी प्रार्थना करता है और आहार पानी भिक्षुके योग्य उसके घर है तथा उसकी इच्छा दान की है यह व्यक्त करता है, इस क्रियाका नाम प्रतिग्रह है।

गृहस्थकी प्रार्थना पर भिक्षु ठहर जाता है और उसकी पुन प्रार्थना पर उसके गृहमे प्रवेश करता है। गृहस्थ उसे उच्चस्थान पर बैठाता है, पैर धोता है, सम्मान करता है, नतमस्तक होता है और यह प्रतिज्ञा करता है कि आपको आहार देनेमे मेरे मन-वचन-कायसे विशुद्धि है। यह नवधा भक्ति इस बातकी सूचक है कि कोई कपटसे या किसी दबावसे अथवा केवल लोक लाजसे या लोकापवादके भयसे मैं बिना अपनी इच्छाके आहार देनेको प्रस्तुत नही हुआ हूँ। मैं हर्ष और पवित्र वृत्ति से आहार देनेको तैयार हुआ हूँ। मेरे घर पर आपकी भिक्षाके योग्य शुद्ध व शास्त्रोक्त नियमोके अनुसार अभक्ष्यादि दोष-रहित आहार व प्रासुक जल है। आप कृपाकर स्वीकार करें। इस प्रार्थना पर भिक्षु भोजनशालामे प्रवेश करता है और अपने नियमोंके अनुसार आहारको ग्रहण करता है। भिक्षु इष्ट और अनिष्ट आहारमे राग द्वेष या सकल्प विकल्प नही करता किन्तु अपने उदरकी पूर्तिहेतु प्रेमसे उसे ग्रहण कर शरीरको आवश्यकता पूरी करता है। अन्न और आहारके बिना शरीर नही टिकता, परिणाम संक्लिष्ट हो जाते हैं, धर्म साधन नही होता इसलिए भिक्षु आहारहेतु जाता है। शरीर धर्म साधनका कारण है, इसलिए उसे अन्न पानी देकर स्थिर रखना है और उसके द्वारा धर्म साधन करता है। इतना उद्देश्य लेकर भिक्षु इस वृत्तिको अगीकार करता है। यदि बिना आहारके भी शरीर चलता है तो उस दिन उपवास करता है। अष्टमी चतुर्दशीको तो नियमत उपवास करनेका इन्हे व्रत है।[1] प्रोषधोपवास व्रत यहाँ उत्कृष्ट दरजेसे पालन किया जाता है। इच्छा होने पर और श्रावकके घर तक जाने पर भी यदि विधिवत् आहार न प्राप्त हो या कोई प्रतिग्रह न करे अथवा आहारमे अन्तराय आजाय तो भिक्षु उस दिन भी उपवास अवश्य करता है। वह केवल उसी अवस्थामे आहार ग्रहण करता है जब शरीरकेलिए उसकी अत्यन्त आवश्यकताका अनुभव करता है। वह वहाँ ही आहार लेता है जहाँ पर उक्त नवधा भक्तिके द्वारा सप्तगुण सहित श्रावकजन अपनी हार्दिक श्रद्धा पूर्वक, सतोष रखते हुए, उदारतासे, विनयपूर्वक, विवेकपूर्वक व धैर्य-पूर्वक शक्त्यनुसार आहार देते हैं।

[2]आहार करनेके बाद अपने भोजनके पात्र वह स्वय स्वच्छ करे ऐसी जिनाज्ञा है। ऐसा नियम इसलिए है कि इसे कोई अहकार भाव जागृत न हो और श्रावककी कोई क्रिया असयम रूपसे इसके लिए न हो पाए। श्रावक भक्तिमे अथवा अन्य कारणोसे उस भाजनके स्वच्छ करनेमे देर करे और इतने मे आहारके करनेके लोभसे मक्खी आदि उसमे पतन कर प्राण रहित होजाय तो यह महान् असयम होगा ऐसा विचार कर भिक्षु स्वय उसे मांजकर स्वच्छ करे। यदि श्रावक तत्काल ही सयम रक्षा करते हुए उसे स्वच्छ कर देना चाहे तो भी आपत्ति नही है। किन्तु यदि क्षुल्लक यह विचारे कि श्रावकका कर्त्तव्य है कि वह मेरे जूठे बर्तन माजे, यह तो उसका सौभाग्य है, मै तो महत्त्वशाली पद पर हूँ, इसे मेरी सेवा करनी ही चाहिए, ऐसे अहकारके वशीभूत होकर श्रावकसे अपना बर्तन मांजनेको कहे तो व्रतीको दोष है।

आहारके बाद भिक्षु अपने सघमे वापिस आकर गुरुसे सब निवेदन करता है। यदि कोई त्रुटि आहार क्रियामे जानेके समयसे-आनेके समय तकके मध्यमे हुई तो उसे स्पष्ट निवेदन करता है औरउनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तको स्वीकार करता है। भोजन वृत्ति दिनमे एक बार ही करनेका इसका नियम है।

१ कुर्यादेव चतुष्पर्व्यामुपवास चतुर्विधम् —सागारधर्मामृत ७।३९।

२. स्वय यतेत चादर्प. परथाऽसयमो महान् —सागारधर्मामृत ७।४४।

क्षुल्लक गुरुसे दीक्षा लेते है, उनके सन्निधानमे रहते हैं। उनकी तथा अन्य सघके साधुओकी हर प्रकारसे वैयावृत्य करते हैं। साधु-सेवा ही इनका व्रत है। स्वाध्याय द्वारा सदा अपने ज्ञानकी वृद्धि करते है, त्रिकाल आत्म-चिन्तन द्वारा अपनेको सन्मार्ग पर स्थिर रखनेका प्रयत्न करते हैं। यदि दीक्षा-दायक साधुजन न हो, और इस व्रतीने भगवान् तीर्थंकरकी प्रतिमा या आगमग्रथके सम्मुख स्वय दीक्षा ली है तो भी उसे अन्य व्रती प्रतिमाधारियोके साथ ही रहना चाहिये। स्वतत्र विचरण नही करना चाहिए। स्वतत्रतासे अकेले भ्रमण करनेका तो साधुको भी निषेध है। अकेला विहार करनेवालेकी सत्सगतिके अभावमे, और परीषह उपसर्गके विजय न कर सकनेकी स्थितिमे मार्गसे च्युत हो जानेकी सभावना आचार्योने की है, अत सघमे रहनेका आदेश दिया है। सघमे रहते हुए अन्य व्रतियोकी धर्म-सेवा करना वह अपना कर्त्तव्य समझता है। रोगी अवस्थामे, असहायावस्थामे, और पीडितावस्थामे उनकी शारीरिक सेवा भी करता है। धर्मसाधनमे सहायता करता है। समाधिमरणादि अवस्थामे, अपने धर्म-साधनकी क्रियाओमे हानि हो जानेपर भी समाधिगत साधु या श्रावककी सेवा कर उसे समाधिमे स्थिर करता है। यह कर्त्तव्य वह उस कालमे सर्वश्रेष्ठ मानता है। क्षुल्लक व्रतीकी यह प्रक्रिया है।२११।

किमैलकस्य चिह्नं मे वर्तते सिद्धये वद।

हे गुरुदेव! ऐलकका क्या लक्षण है, मेरी कल्याणसिद्धिके लिए कृपाकर कहे—

(वसन्ततिलका)

कौपीनमात्रवसनो करपात्रभोजी
स्थित्वासनेऽशनविधानपरः प्रकामम्।
स्वर्मोक्षमार्गनिरतो विरतोऽन्यकार्यात्
स्यादैलको निजरतः प्रतिमाप्रयोगी ॥२१२॥

कोपीनेत्यादि'—य किल एकादशप्रतिमाधारी प्रवृद्धवैराग्य साहसिक स्वदेहस्थित खण्डवसनमपि परित्यजति, करपात्र एव भुक्ते। भोजनापात्रमपि परित्यजति। श्रावकगृहे तत्पात्राणामप्युपयोग यस्य नोचित स च ऐलक स्यात्। एषोऽपि पद्मासनेन अर्धपद्मासनेन सुखासनेन वा स्थित्वा भुक्ते। क्षुल्लकवदेव प्रतिग्रहादिकमपेक्ष्य आहाराय गच्छति। प्रतिमायोग धारयति, न तु दिवसे। परीषहोपसर्गान् जयति। न तस्य भीतिस्तथापि स्वप्रयत्नत परीषहान् प्राप्तु न यतते। कटिसूत्र कोपीनञ्च धारयति। शीतस्य दशमशकस्य च समागता बाधा ग्रीष्मे प्रस्वेदादि-निमित्तेन सप्राप्ता बाधाञ्चामन्यमानोऽन्यानप्युपसर्गपरीषहान स्वयमेव समागतान् नावगणयति किन्तु तान् जयति। एष द्वित्रिचतुर्पु मासेषु लोचमेव करोति न कर्त्तर्यादिना केशानपनयति। न चास्मिन् पदे स्यादनेकभिक्षानियम। एकभिक्षानियम एवात्र स्वीकृत। वर्णत्रयेष्वेतत् पद स्यान्न शूद्रेषु। मुनेर्लघुभ्रातुरस्य पञ्चाणुव्रतानि महाव्रतसमीपता यान्ति। ईर्यासमित्यादीन् पालयति गुप्त्यादीनपि च भजते। प्रथमप्रतिमाग्रहणसमये य ससारदेहभोगैर्विरक्तताया परिणाम सञ्जात स एवात्र परिपूर्णता याति। एवम्प्रकारेण क्रमश प्रतिमारोहणेन अणुव्रताना महाव्रतेष्वारोपण-प्रक्रिया पूर्णता याति।२१२।

इति श्री कुन्थुसागराचार्यविरचिते श्रावकधर्मप्रदीपे पण्डितजगन्मोहनलालसिद्धान्तशास्त्रिकृताया प्रभाख्याया व्याख्याया च पञ्चमोऽध्याय समाप्त।

क्षुल्लक व्रती वैराग्य परिणामोकी वृद्धिके कारण साहसी होकर ऐलक वृत्तिको प्राप्त होता है। इनकी आर्यसज्ञा है। ये अपने केशोका उत्पाटन दो, तीन, या चार मासमे अपने हाथोंसे करते हैं। कैंची आदिका उपयोग न स्वय करते हैं और न अन्यको करने देते हैं। खण्ड वस्त्रका भी त्याग कर मात्रकटिसूत्र

और कौपीन (लगोटी) धारण करते हैं। शीत डास मच्छर वर्षा और ग्रीष्मकी सम्पूर्ण बाधाएँ अपने खुले शरीर पर झेलते है। कोई भी परीषह और उपसर्ग आजाय तो उसके सहन करनेमे कायरता नही दिखाते, प्रीतिपूर्वक सहन करते हैं। तथापि परीषह उपसर्गोंकी प्राप्तिका प्रयत्न नही करते। घोर तपश्चरण आदि-को धारण करनेकी शक्तिको उत्पन्न करानेका प्रयत्न करते है, पर वर्तमान अवस्थामे वैसी शक्तिके अभावमे घोर तपस्या नही करते। प्रतिग्रहादि नवधा भक्तिपूर्वक श्रावक आहार दे, तो बैठकर अपने करपात्रमे ही लेते हैं। भोजनका पात्र ये अपने पास नही रखते, और न श्रावक के पात्रोमे भोजन करते हैं। अपने हाथ पर जो आहार श्रावक दे दे मात्र उसे उदरस्थ करते हैं। आरामसे स्वाद लेकर आहार ग्रहण नही करते। न अतिशीघ्र ही भोजन करते हैं। ये एषणा समितिपूर्वक देख शोधकर आहारको लेते हैं। आहार सरस है या नीरस है, स्वादिष्ट है या बेस्वाद इन बातो पर उनका ध्यान नही जाता। केवल इतना ध्यान रखते हैं कि आहार शुद्ध है, निर्जीव (प्रासुक) है, कोई अन्तराययोग्य वस्तुका उसमे समागम नही है।

स्वाध्याय, ध्यान, धर्मोपदेश और धर्मप्रभावना आदि कार्योंमें अपने समयका सदुपयोग करनेवाले साधु सघमे ही रहते है, अकेले नही। रात्रिमे मुनिकी तरह नग्न होकर ध्यान करते है पर दिनमे नही। प्रकारान्तरसे रात्रिमे इनकी मुनिवृत्ति और दिनमे ऐलक वृत्ति रहती है। यह पद ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीनो वर्णामे ही धारण किया जाता है। इनमे अनेक भिक्षाका नियम नही है। केवल एक घरमे ही आहार लेकर आजाते हैं। आहारके बाद गुरुको सब प्रक्रिया निवेदन करते हैं तथा दिया हुआ प्रायश्चित्त ग्रहण करते हैं।

दैनिक, रात्रिक, पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण ये नियमत करते हैं। चातुर्मासमे एक स्थान पर रहते हैं। साधारणत चातुर्मास गृहत्यागी सभी करते हैं। गृहस्थ भी करें तो धर्मसाधननिमित्त ऐसा देशव्रत ले सकते है, पर गृहत्यागीको तो इसका यथायोग्य पालन करना ही चाहिये। वर्षाकालमे सर्वत्र मार्ग अप्रासुक हो जाता है, सर्वत्र वनस्पति छाजाती है, त्रसराशि भी विशेष उत्पन्न होनेसे मार्गमे चलना कठिन हो जाता हैं, अत आरम्भत्यागीके लिए तो उस समय विहार करना सर्वथा अनर्थदण्ड है। इसके पूर्व तो गृह व्यापारादिका आरभ सबध होनेसे मार्गगमनका बद करना सभव नही होता, पर आरभ व्यापारका त्याग होने पर वह सहज ही बद हो सकता है।

यह ऐलक पदस्थ व्यक्ति मुनिका लघुभ्राता कहा गया है। इनके पञ्चाणुव्रत यहाँ महाव्रतकी मर्यादामे पैर रखने लगते है, समित्यादिका भी उपयोग ये करते हैं और गुप्तिआदिका पालन करते है। ये सब मात्र प्रतिज्ञारूप या व्रतरूप नही है। तथापि मुनिकी तरह ही इनकी पालना ऐलक करते हैं। मयूरपिच्छिका रखते है तथा प्रतिलेखन करते हैं। दिनमे मार्ग गमन करते है, रात्रिमे नही, मात्र शौच आदि बाधा निवृत्ति हेतु ही रात्रिमे गमन करते हैं, अन्य प्रकारसे नही। हित, मित और प्रियवचन बोलते हैं। कठोर, विषम और पीडा कारक वचनोका स्वप्नमे भी उच्चारण नही करते।

इस प्रकार ग्यारहवी प्रतिमाका स्वरूप पूर्ण हुआ। इसके बाद कौपीन मात्र त्यागकर ये मुनिव्रत-को अगीकार करते है। श्रावक व्रतकी समाप्ति ऐलक पदमे हो जाती है।

प्रतिमारोहणकी प्रथम शर्त थी कि जिसे ससार, देह व भोगोसे वैराग्य हुआ हो वह इस मार्ग पर चले। ग्यारहवी प्रतिमाके स्वरूपको प्राप्त करने पर वह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। श्रावकके १२

व्रत जो द्वितीय प्रतिमामे धारण किए थे वे आगामी प्रतिमाओमे बढते-बढते इस प्रतिमामे अपनी मर्यादा समाप्त कर महाव्रतत्वको प्राप्त होने लगते हैं। कहाँ कौन प्रतिमामे कौन-कौन व्रत पूर्ण होते हैं, इस सबधमे मूलग्रन्थकर्त्ता श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागर महाराजने कुछ गद्य वाक्योमे किया है। उनका यहाँ वर्णन किया जाता है। वे वाक्य ये हैं—

१—**सामायिकप्रतिमायामेव सामायिकं निर्दोषतां याति।**

२—**प्रोषधोपवासव्रतपूर्णता प्रोषधोपवासप्रतिमाया भवति।**

३—**पञ्चमप्रतिमायां भोगोपभोगव्रतपूर्णता भवति।**

४—**अथ षष्ठप्रतिमाया भोगोपभोगव्रतपूर्णता भवति।**

५—**भोगोपभोगव्रतस्य सपूर्णतया पूर्णता सप्तमप्रतिमाया भवति।**

६—**अष्टमप्रतिमायामारम्भत्यागः पञ्चाणुव्रतस्य शुद्धता विशेषरूपेण स्यात्।**

७—**नवमप्रतिमाया परिग्रहत्यागतोऽतिथिसविभागव्रतस्य निरतिचारता स्यात्।**

८—**अथ दशमप्रतिमायां अनुमतित्यागादनर्थदण्डव्रतं निरतिचारता याति।**

९—**अथोद्दिष्टाहारत्यागात् सप्तशीलाना पूर्णता भवति तथाणुव्रतत्वमपि महाव्रतत्व याति।**

इनका तात्पर्य इस प्रकार है कि—

१—सामायिकव्रत यद्यपि द्वितीय प्रतिमामे ही धारण किया था पर उसकी पूर्णता तृतीय प्रतिमामे होती है। यहाँ सामायिक व्रतरूप हुआ। यद्यपि सामायिक ही एक मात्र चारित्र है, उससे ही सर्व कर्म निर्जरा होती है और इसलिए तृतीय प्रतिमामे उसकी पूर्णता नही होती। उसका आचरण तो मुनिजन भी करते है। उनके अन्य सब प्रयत्न इसे प्राप्त करनेके लिए हैं, तथापि श्रावक पदके योग्य यथासमय-नियमित सामायिक करना इतना व्रत मात्र इस प्रतिमामें पूर्ण होता है।

२—इसी तरह प्रोषधोपवासव्रतका प्रारम्भ भी द्वितीय प्रतिमामें था पर पूर्णरीतिसे गृहस्थ योग्य यह व्रत चतुर्थ प्रतिमामें पूर्ण होता है।

३,४,५—पाँचवीमें भोजन सम्बन्धी छठीमें उपभोग सबधी तथा सातवीमें पूर्णतया भोगोपभोग संबधी सामग्रीका भोगोपभोगकी दृष्टिसे त्याग हो जाता हैं और यह भोगोपभोग परिमाणव्रत पूर्ण होता है।

६—आठवी प्रतिमामें आरभ व्यापारका त्याग होनेसे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण ये पाँचो ही अणुव्रत उज्ज्वलता धारण करते हैं। इन व्रतोमें दोषोत्पन्न होने योग्य परिस्थिति ही समाप्त हो जाती है। दिग्व्रत देशव्रत सभी आरभादि कार्यके अभावसे यहाँ पूर्णता प्राप्त करते हैं।

७—नवमी प्रतिमामे धनधान्यादि परिग्रह जो अभी तक थे आरभ त्याग करने पर उनकी निरर्थकता स्वय अनुभवमे आने लगती है। अत उसका त्याग होनेसे त्यागवृत्तिके हेतु जिस अतिथिसविभाग व्रतको धारण किया था वह परिग्रह त्यागसे पूर्ण होता है, अत अब यह आहार दान छोडकर अतिथिकी अन्य सेवायें ही करता है। अत अतिथिसविभागव्रत अपनी मर्यादा यहाँ पूर्णकर लेता है। अब यह स्वय अतिथि बनने योग्य हो रहा है।

८—दशवी प्रतिमामे आरभादि सबधी अनुमति भी नही देता, अत विना प्रयोजनके कार्य बन्द करनेके लिये उनके पापसे बचनेके लिए जो अनर्थदण्ड व्रत किया था वह यहाँ पर अपना अन्तिम रूप

पा जाता है। अत इस व्रतकी पूर्णताके लिए यह प्रतिमा धारण की गई है।

इस प्रकार द्वितीय प्रतिमाके सम्पूर्ण १२ व्रत विभिन्न प्रतिमाओमे अपनी-अपनी वृद्धि करते-करते महाव्रतमे प्रविष्ट होने योग्य बनते है।

९—ग्यारहवी प्रतिमामे बारह व्रतोकी विशेष शुद्धिपूर्वक मुनि पदारोहणकी पूर्ण तयारी हो जाती है।

यहाँ श्रावकधर्मकी मर्यादा समाप्त है।

श्रावकके बारह व्रतोमे समाधिमरण भी एक व्रत किन्ही आचार्योंने गिनाया है। उनके मतसे बारह व्रत इस प्रकार गिनाए गए हैं, पचाणुव्रतके साथ दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डत्याग, भोग परिमाण-व्रत, उपभोगपरिमाणव्रत, अतिथिसविभाग और समाधिमरण। किसी किसी ग्रन्थकारने १२ व्रतोके बाद समाधिकरणको अलगसे व्रत न मानकर भी उसकी आवश्यकता प्रत्येक व्रती या अव्रतीके लिए भी बतलाई है। वास्तवमे समाधिकरण एक ऐसी क्रिया है जिसकी इच्छा अव्रती भी करता है। वह भी चाहता है कि मेरा मरण उत्तमप्रकारसे धर्मपूर्वक हो। समाधिमरण करनेवालेको पाक्षिक और नैष्ठिककी तरह 'साधक' ऐसा तीसरा स्वतत्र नाम दिया गया है। प्रत्येक प्रतिमारोही मरणके समय कषायो पर विजयकर व विषयोका त्यागकर अपनेमे शान्ति या समाधि उत्पन्नकर मरणको प्राप्त करता है। इस आत्मसाधनाके कारण वह 'साधक' पदको प्राप्त करता है।

मरणकाल किसी भयानक उपसर्ग या बीमारी आदिके कारण भी आ सकता है। उस समय पर सम्हल करके समाधिका साधन कर लेना कठिनतर कार्य है। जिन्होने इसकी जीवनकालमे भावना की है उन्हे कठिन नही है। वे प्रतिक्षण उसकी कामना रखते हैं, अत उस समयको देखकर घबडाते नही हैं। तत्काल अन्नाहारका त्याग कर निष्कषायभावपूर्वक शरीर त्याग करते हैं। आयुके पूर्ण होनेका नाम मरण है। ऐसा मरण प्रतिसमय होता है, क्योकि आयुका गलना प्रतिसमय हो रहा है। यह मात्र व्यवहार है कि आयुके क्रमश जो निषेक गलते जाते हैं उसे हम जीवन ही कहते है, और अन्तिम निषेककी समाप्तिको मरण कहते हैं। यथार्थमे तो आयुके निषेकका खिरना ही मरण है। आयुके निषेक प्रति समय क्षय होते हैं, अत प्रतिसमय ही मरण है। तब हम समाधि (समभाव) की प्रतिसमय वाछा और उसके प्रति प्रयत्न करनेवालेको समाधिकरणका व्रत है, ऐसा कह सकते हैं। इसी अपेक्षासे इसकी गणना १२ व्रतोमे की गई है। मरणके समय सबसे ममत्व त्यागकर द्वादश भावनाओका विचार करना तथा आरंभ परिग्रहको सर्वथा त्याग धर्मध्यानमे अपना उपयोग लगाना, सबके प्रति उत्तम क्षमाका भाव रखकर सबसे क्षमा याचना करना, किसीके प्रति राग, द्वेष न करना और किसी वस्तुकी वाछा नही रखना यह कर्त्तव्य होता है। इस प्रकार जिनका मरण होता है उनकी कुगति नही होती। अव्रती श्रावकसे लेकर ग्यारहवी प्रतिमा तक मुनिपदमे भी अपनी-अपनी योग्यता तथा प्राप्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार यह व्रत पाया जाता है।

इस व्रतके भी ५ अतिचार है जिनसे बचना चाहिए। वे ये हैं—(१) रोगादिसे या उपसर्गसे या वेदनासे घबडाकर शीघ्र मरणकी इच्छा करना, (२) सेवा करनेवाले व्यक्तियोके मोहसे, उनकी सेवाकी प्रसन्नतासे अथवा अन्य कोई विषय-वासनासे ऐसा विचार करना कि मरण न आवे, जितने काल जीवित रह सकें उतना अच्छा, ऐसी वाछा करना, (३) अपने कुटुम्बीजन, स्त्री, पुत्रादिमे, मित्रादिमे प्रीतिभाव रखना, उनके मोहका त्याग न करना, (४) पहले जो विषय-भोग किए हैं उनकी वार-वार याद कर चित्तको विषयानुरागी बनाना, (५) व्रतोका फल आगे स्वर्गादि सपत्ति रूप हो व अनेक

विषयोके उत्तमोत्तम साधन मिलें, ऐसी वाछा करना ये पाँच अथवा इसी प्रकारके अन्य दोष समाधि-मरणके अतिचार है।

इनसे विरक्त हो अपने उद्‌देश्यको सामने रखकर, लक्ष्य भ्रष्ट न हो, प्रयत्नपूर्वक समाधि लेना समाधिमरण है। यह व्रतोका सार है। इसी समाधिके अर्थ ही व्रतोका परिपालन है। जिसने जीवन भर व्रत किया और अन्त समय समाधिसाधन न किया उसने जीवन भर कमाई हुई सपत्तिको उपयोगके पूर्व कुएँमे डाल दिया। ऐसा समझकर इस व्रतका अवश्य पालन करना चाहिए। इस प्रकार समाधिव्रत जो १२ व्रतोमे भी गिना गया है उसका वर्णन प्रकरणसगत होनेसे सक्षेपमे किया गया है।

पुरुषोकी तरह स्त्रियाँ भी उक्त प्रतिमाओका पालन करती हैं। उनकी अवस्थाके भेदसे क्वचित् भेद हो जाता है। जैसे छठी प्रतिमामे कृतकारितानुमोदनासे रात्रिभोजन त्याग होने पर भी जिस स्त्रीकी गोदमे दूध पीता बच्चा है वह उसे अपना दूध पिलायगी, उसका त्याग उसे हो नही सकता। यदि करे तो बालककी अपमृत्युका कारण होनेसे महान् दोष उत्पन्न होगा।

इसी प्रकार ग्यारहवी प्रतिमामे क्षुल्लिकाके पास सोलह हाथ तककी धोती तथा एक ओढनेका वस्त्र और आर्यिका अवस्थामे केवल एक धोती मात्र परिग्रह रहता है। इतने वस्त्र इनके लिये विधेय हैं। ये श्राविकाओके सघके साथ रहे। मासिक शरीरधर्मकी कठिनाईके समय श्रावकके घर पर रहे। उस कठिनाईके दूर होने पर पुन सघमे जाँय। अथवा सघमे भी योग्यता-द्रव्य क्षेत्रकी अनुकूलता हो तो निर्वाह कर सकती हैं।

ये ग्यारहवी प्रतिमाधारी शुद्धिनिमित्त तत्सम दूसरा वस्त्र लगोटी आदि तथा धोती आदि भी रहने पर एक समय शरीर पर एकका ही उपयोग करें। आर्यिका केश लोच ही करे। इस तरह स्त्रीपर्याय गत योग्यताके अनुसार थोडा सा परिवर्तन होता है। ऐसा श्री १०८ चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्ति-सागरजीका उपदेश है।

प्रतिमाधारी इच्छाकार या इच्छामि इस शब्द द्वारा परस्पर व्यवहार करें। इस शब्दका अर्थ है कि हमे मुनिपदकी वाछा है, हम उसे चाहते हैं। साधारण श्रावक जुहारु आदि शब्दो द्वारा पारस्परिक व्यवहार करते हैं, ये इस प्रकार नही करते। इनका व्यवहार इच्छामि शब्द द्वारा होता है। आर्यिकाको वन्दामि कह कर उनका सम्मान करना चाहिये। स्त्रियो के लिये यह पद सर्वोत्कृष्ट है। अत उनका समुचित आदर करना चाहिये। स्त्रियोको ही उनकी सेवा करनी चाहिये।

इस प्रकार ग्यारह प्रतिमाओका वर्णन समाप्त हुआ तथा श्रावक धर्मकी मर्यादा भी समाप्त हुई। इसके बाद पुरुष लगोटी मात्र परिग्रहका भी त्याग कर मुनिपदको धारण करता है। मुनिधर्मका वर्णन ग्रथके पूर्व भाग मुनिधर्मप्रदीपमे आचार्य श्री कुन्थुसागर जी ने किया है। २१२।

इस प्रकार आचार्य श्री कुन्थुसागर विरचित श्रावकधर्म प्रदीप व पण्डित जगन्मोहनलालजी सिद्धान्त शास्त्री कृत प्रभानामक व्याख्यामे पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ।

ग्रन्थकारप्रशस्तिः

(अनुष्टुप्)

आचार्यशान्तिसिन्धोर्मे दीक्षागुरोर्दयानिधेः ।
सूरेः सुधर्मसिन्धोर्हि विद्यागुरोः प्रसादत ॥ १ ॥
त्रिविधा श्राद्धधर्माश्च यथावल्लिखिता मया ॥
तुष्टेन विश्वशान्त्यर्थं कुन्थुसागरसूरिणा ॥२॥ युग्मम् ॥

इस कालमे विद्यमान दयाके सागर और मेरे दीक्षागुरु श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर जी तथा विद्यागुरु श्री १०८ आचार्य सुधर्मसागरजी के प्रसादसे विश्वमे सुखशान्तिकी वृद्धि हो ऐसे उद्देश्यको सामने रखकर श्रावकके तीनो प्रकारके भेदोको प्रतिपादित करनेवाला यह श्रावकधर्मप्रदीप ग्रन्थ मुझ कुन्थुसागर सूरिने पूर्वाचार्यकी परम्परासे आगत उपदेशके अनुसार लिखा है ।१।२।

इस श्रावकाचारका प्रयोजन—

(अनुष्टुप्)

पूर्वाचार्यप्रणीताश्च श्राद्धाचारप्रदर्शका ।
सन्त्यत्र बहवो ग्रन्था ग्रन्थस्यास्य प्रयोजनम् ॥ ३ ॥
किं वर्तते गुरो ब्रूहि ज्ञातमिच्छामि चार्थतः ।
प्रयोजनं विना ग्रन्थो नोपादेयो यतो भवेत् ॥ ४ ॥ युग्मम् ॥

सर्वज्ञोपदेशके अनुसार पूर्वाचार्यों द्वारा रचित श्रावकके आचारका वर्णन करनेवाले बहुतसे ग्रन्थ विद्यमान है, ऐसी अवस्थामे इस नवीन ग्रन्थकी रचनाका क्या प्रयोजन है ? हे गुरुदेव ! मैं जानना चाहता हूँ, क्योकि प्रयोजनके बिना ग्रन्थ उपादेय नही हो सकता, अत इसका यथार्थ कारण बताइये ऐसा प्रश्न उपस्थित हो सकता है । इसका उत्तर ग्रन्थकार निम्न पद्योमे देते हैं ।

(अनुष्टुप्)

जैनाहिंसातिरेकाद्धि हानिः स्याद् भारतस्य कौ ॥
ब्रुवन्त्यज्ञानतः केचिदिति तद्बोधहेतवे ॥ ५ ॥
जैनाहिंसातिरेकान्न तदबोधाद्धि किन्तु वै ॥
बभूवुश्चक्रवर्त्याद्याः तत्पालकाः स्वसिद्धये ॥ ६ ॥
ग्रन्थोऽयं लिखितो भव्यः स्वर्गमोक्षसुखप्रद ॥
नेच्छा मे ख्यातिलाभस्य न तु नामप्रसिद्धये ॥ ७ ॥
शुद्धचिद्रूपमूर्त्तेर्मे किन्नामादिप्रयोजनम् ॥
श्रीमत स्वात्मतुष्टस्य कुन्थसागरसूरिणः ॥ ८ ॥ कलापकम् ॥

इस ग्रन्थके लिखनेका यह प्रयोजन है कि वर्तमान युगमे कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि जैनधर्म की अहिंसाने भारतवर्षकी बहुत बडी हानि की है । अहिंसाके उपदेशसे लोग कायर हो गए । आततायीसे युद्ध करनेमे उन्हे हिंसाका पाप दृष्टिगोचर होता था, इस लिए विदेशी सत्ताके पैर भारतमे जम गए । वास्तविक स्थिति तथा ऐतिहासिक स्थितिको न जानकर कुछ व्यक्तियोंके द्वारा किए गये इस मिथ्या आक्षेपका खण्डन करनेके हेतु तथा सम्यग् बोध प्राप्त करानेके लिए इस ग्रन्थकी रचना आवश्यक प्रतीत हुई ।

इस ग्रन्थमे यह बात ग्रन्थकार बता चुके हैं कि जैनोकी हिंसाके अतिरेकसे नही, किन्तु जैनी अहिंसा को न समझ सकनेके कारण भारतका पतन हुआ है। ग्रन्थमे बताए गए हिंसाके स्वरूप और उसके भेदो पर विचार करके चलनेवाला गृहस्थ श्रावक उस हिंसासे बचता है। साथ ही अहिंसक धर्मात्माओके ऊपर आनेवाले विघ्नको दूर करनेके लिए उनकी रक्षा करता है। इस रक्षाके उद्देश्यको अविस्मरण करके जो सघर्ष उसे करना पडता है उस विरोधी हिंसाका कार्य उसकी हिंसाके त्याग की परिधिमे नही आता। वह मात्र सकल्पी हिंसाका त्यागी है। इस प्रकार यथार्थ ज्ञानके प्रचार हेतु ग्रन्थकी रचना करनी पडी है।

अनेक चक्रवर्त्ती, नारायण, प्रतिनारायण अथवा साधारण राजा आदि पुरुष जैनधर्मके प्रतिपालक होते हुए भी कभी नैतिक युद्धसे विमुख नही हुए। इनकी कथा जैन पुराणोमे अनेक स्थलो पर पाई जाती है। अत उक्त निराधार आक्षेपको मिटानेका अभिप्राय इस ग्रन्थके लिखनेका है। लौकिक प्रशसा आदि तथा कीर्ति आदि अभिलाषासे इस ग्रथकी रचना नही की गई।

मैं शुद्ध चिदानन्द स्वरूप अनन्त गुणोका पिण्ड हूँ। शरीरादि पुद्गल द्रव्य हैं। नाम आदि शरीर के हैं, आत्माके नही, तब नामादिका क्या प्रयोजन है ? अपनी आत्माके स्वरूपमे ही मानी और अत्यन्त सतोषी मुझ कुन्थुसागर सूरिको नाम और तदाश्रय कीर्तिसे कुछ भी प्रयोजन नही है। ग्रन्थ लेखनका उद्देश्य केवल लौकिक अपवाद जो धर्म पर निरर्थक आया है उसे दूर करना मात्र है।५।६।७।८।

लघुताप्रकाश—

(अनुष्टुप्)

प्रमादान्मे क्वचित्स्याद्वा ग्रन्थेऽस्मिन् स्खलन यदि।
शोधयन्तु मुदा सन्तो वस्तुतत्त्वविचारकाः ॥ ९ ॥

ग्रन्थकार कहते हैं कि मेरे प्रमादसे इस ग्रन्थके लेखनमे यदि कही त्रुटी रह गई हो तो वस्तुतत्त्वका विचार करनेवाले सज्जन इसका शोधन कर लें।९।

(अनुष्टुप्)

शान्तिसिन्धुस्सुधर्मो मामवतु ह्यवतु स्वयम्।
कुरु कुरु स्वतुल्यान् नो वृषभादिजिनेश्वराः ॥ १० ॥

परमपूज्य आचार्य श्री १०८ शान्तिसागर जी तथा सुधर्मसागर जी मेरी रक्षा करें तथा ऋषभादि जिनेश्वर, आप हम सबको अपने समान बना लें।१०।

॥ समाप्तोऽय ग्रन्थ॰ ॥

———